विलियम इरविन लिखित

भारतीय मुग़लों की सैन्य व्यवस्था

★

Army of the Indian Moghuls

[WILLIAM IRVINE]

★

अनुवादक

श्री रमेश तिवारी

★

प्रकाशक

इतिहास प्रकाशन संस्थान

इलाहाबाद

★

मूल्य दस रुपये

प्रकाशक—
गिरिधर शुक्ल
इतिहास प्रकाशन संस्थान
इलाहाबाद

★

प्रधान वितरक
आदर्श हिन्दी पुस्तकालय
४१६, अहियापुर
इलाहाबाद

★

मुद्रक—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
२५७, मीरापुर
इलाहाबाद

भूमिका

सन् १८६४ में भारत के परवर्ती मुगलों की शासन व्यवस्था तथा उनके प्रशासन की समस्त शाखाओं के सम्बन्ध में मैंने आवश्यक अध्ययन प्रारम्भ किया, जिसके पीछे मेरा यह विश्वास निहित था कि उस काल के इतिहास के लिए इस प्रकार की सूचनाएँ एक आवश्यक भूमिका का रूप ग्रहण कर सकतीं थी, जिसकी योजना मैं बहुत पूर्व ही बना चुका था तथा उस पर कार्य भी आरम्भ कर चुका था। अभी मैं उस ग्रन्थ के प्रथम भाग की रूपरेखा मात्र ही तैयार कर पाया था—जिसमें मुगल सम्राट, मुगल दरबार की कार्य प्रणाली तथा उपाधियों (खिताबों) आदि का विवरण है—कि इसी बीच मेरे ही विषय पर, डाक्टर पाल हार्न द्वारा लिखित एक ग्रन्थ "डास हीर अएड क्रीगजवेसेन डेर ग्रास मोगलस", सन् १८९४ में प्रकाशित मेरी दृष्टि में पड़ा। इस उत्कृष्ट ग्रन्थ को पढ़ने पर मेरा ध्यान, स्वयम् मेरे ही द्वारा प्रस्तावित भूमिका के परवर्ती भाग-सैन्य तथा सैन्य संगठन—की ओर परिवर्तित हो गया और इस प्रकार मैं अपने उक्त प्रस्तावित इतिहास के किसी अन्य भाग की अपेक्षा, पहले इसी भाग के लेखन—कार्य में प्रवृत्त हुआ। कुछ संयोगिक प्रसंगों के अतिरिक्त, मेरा प्रस्तुत प्रबन्ध, डाक्टर हार्न के उक्त ग्रन्थ का न तो रूपान्तर ही है, न विवेचन ही; यद्यपि मैं उनका ऋणी अवश्य हूँ, जिसको मैंने एकाधिक स्थलों पर स्वीकार भी किया है, परन्तु मेरे प्रस्तुत ग्रन्थ की विषय वस्तु भिन्न ही है, या मुझे इस प्रकार कहना चाहिए कि उसके द्वारा प्रस्तुत विवरण का यह एक पूरक अंश है, तथा जैसा कि मैं सोचता हूँ, उसके द्वारा प्रस्तुत विषय इस प्रबन्ध द्वारा कुछ आगे ही बढ़ा है। डाक्टर हार्न ने, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हीं स्रोतों का अध्ययन किया था जो औरंगजेब या आलमगीर के समय के पूर्व लिखे गए थे, जब कि मेरा अध्ययन अधिकांशतः सन् १७०७ से १८०३ तक के मुगल शासकों के काल की रचनाओं तक सीमित है। इस प्रकार हमने (अर्थात् मैंने व डाक्टर हार्न ने) जिन स्रोतों के आधार पर अपनी पुस्तकें लिखी हैं, वे एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न एवम् स्वतंत्र हैं, और मैं आशा करता हूँ कि भारतीय इतिहास के इस अंधकार पूर्ण अंग को प्रकाश में लाने में मेरा योग मेरे पूर्ववर्ती, डा० हार्न, से कम नहीं समझा जायगा। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम सात अध्याय पहले ही, जुलाई सन् १८९६ में—रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं।

विलियम इरविन

विषय सूची

—०—

विषय	पृष्ठ

———

भारतीय मुग़लोंकी सैन्य व्यवस्था

पहला अध्याय

शाही पद तथा सैनिक भर्ती

भारतीय मुगलों की सैन्य व्यवस्था के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिये कि उन दिनों सैनिकों की भर्ती किस ढंग से होती थी। अलाउद्दीन खिलजी के पूर्ववर्ती काल में मुस्लिम बादशाहों की अपनी निजी सेना प्रायः नहीं के बराबर होती थी। राजधानी तथा अपनी एवम् अपने महल की सुरक्षा के लिये थोड़ी सी सेना उनके पास रहती थी, जिनके कर्तव्य आजकल की पुलिस के समान थे। अलाउद्दीन हीं सर्वप्रथम मुस्लिम बादशाह था, जिसने सोचा कि देश की आन्तरिक शान्ति को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि एक सुदृढ़ एवम् विशाल केन्द्रीय सेना रखी जाय। उसके सभी परवर्ती बादशाहों ने इस आवश्यकता को समझा और सभी ने अपनी सेनायें रक्खी। भारत में मुगलों का राज्य शुरू होता है पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर की विजय (सन् १५२६ ई०) से। उसके बाद की सैन्य व्यवस्था का अध्ययन ही इस पुस्तक का विषय है।

आज कल की सैनिक भर्ती के ढंग के विषय में प्रायः सभी लोग कुछ न कुछ जानते हैं। मुगल कालीन सैन्य व्यवस्था का अध्ययन करते समय हमें आज कल की भर्ती के ढंग को दिमाग से एकदम निकाल देना पड़ेगा। उस समय न तो आज-कल की तरह भर्ती का कोई विभाग था और न कोई अधिकारी ही इस कार्य के लिये नियुक्त किये जाते थे। जितनी छानबीन आजकल के युग में होती है, उसकी कोई भी आवश्यकता उस समय में नहीं समझी जाती थी। एक सर्वथा नवीन बात यह थी कि मुगल काल में शायद ही कभी ऐसा होता था कि सैनिकों की भर्ती शायद ही सीधे शाही सेना में हो। उस समय के सभी सामन्तों, सर्दारों एवम् जागीरदारों के अधीन अपनी सेनायें रहती थी। सेना में भर्ती होने वाले की इच्छा रखने वालों को प्राथमिक रूप से इन्हीं सेनाओं में स्थान मिल जाया करता था। इसके बाद ही पदोन्नति के रूप में इन्हीं सैनिकों को शाही सेना में स्थान दे दिया जाता था।

प्रान्तीय सर्दारों एवम् सामन्तों के पद की श्रेष्ठता का निम्न निर्भर करती थी सैनिकों की उस समय पर, जो उनके अधीन रहती थी। इसी व्यवस्था से मन्सबों एवम् मन्सबदारों का भी वर्गीकरण किया जाता था। यहाँ यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि मन्सबों की व्यवस्था सर्वप्रथम अकबर ने ही शुरू की थी (आईन भाग १, पृष्ठ २३१)। सैनिकों की इस प्रकार की भर्ती के कारण हमें अपना अध्ययन आरम्भ करना पड़ेगा उस प्रणाली से, जिसके अनुसार सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति होती थी एवम् उनके पदों को विभिन्न वर्गों में बाँटा जाता था।

भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों का प्रायः ऐसा विचार है कि मन्सब शब्द केवल सैनिक व्यवस्था का ही शब्द है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। उस समय में प्रायः ऐसी परम्परा सी चल गयी थी कि साधारण सैनिक या हरकारे की श्रेणी से ऊपर जो भी कर्मचारी होते थे, उन्हें मन्सबदार ही कहा जाता था, चाहे वह किसी भी विभाग का कर्मचारी हो। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि अति साधारण सेवकों को छोड़-कर सभी कर्मचारी छोटे बड़े मन्सबदार ही कहलाते थे। उस समय में राजकीय पोषण पाने के दो ही रास्ते होते थे। पहला रास्ता यह था कि शाही खिदमत में स्थान पाकर किसी वर्ग का मन्सब प्राप्त कर ले या सल्तनत से मद्दे-मुआश ❀ की प्रार्थना करके जीवन यापन के लिये वजीफा या वक्फ प्राप्त कर ले। ये वजीफे ऐसे ही लोगों को दिये जा सकते थे, जो अपनी स्वयम् की जीविका का ध्यान छोड़ कर लोक हितकारी कार्यों में लगे रहते थे। पवित्र ग्रंथों का अध्ययन करने वाले विद्वान, मस्जिदों में कार्य करने वाले लोग (मुतवल्ली या खादिम), विशेष विद्याओं के विद्वान व धार्मिक व्यक्ति (दरवेश), स्थानीय मुन्सिफ (काजी) या इस्लाम की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले विद्वानों को ही इस प्रकार की मद्दे-मुआश मिल सकती थी।

यदि मन्सब शब्द के अर्थ पर विचार करें तो मालूम होगा कि मन्सब शब्द होता है, 'वह स्थान, जहाँ कोई वस्तु रक्खी या निर्मित की जाती है।' फारसी शब्द 'नस्ब कर्दन' † का अर्थ होता है, रखना, निश्चित करना या संलग्न करना और नियुक्त करना। अतएव इसका पारिभाषिक अर्थ हुआ, पद प्रतिष्ठा या अधिकार प्राप्त करने की स्थिति।' ऐसा प्रतीत होता है कि मुगलों के भारत की ओर आने के समय

❀ मद्दे-मुआश का वर्णन आईन के प्रथम भाग पृष्ठ १९८ पर हुआ है, तथा इसके इतिहास का सारांश मि० ब्लाकमैन द्वारा प्रस्तुत अनुवाद में भी दिया गया है। जीवन यापन के लिये जब मासिक या वार्षिक वृत्ति नकद रुपयों के रूप में दी जाती थी, तो उसको वजीफा कहते थे और जब कोई भूमिखण्ड दिया जाता था तो उसे मद्दे-मुआश कहते थे। अनुवादक—

† दस्तूरुल इन्शा पृष्ठ २३३।

के पूर्व से ही यह (मन्सब) शब्द मध्य एशिया में प्रचलित था। मि० रॉस ने इस शब्द ‡ 'सुविधाओं' के अर्थ में ग्रहण कर लिया है, परन्तु ये सुविधायें क्या थी, इसका कोई विवेचन नहीं दिया है। मैंने इस शब्द को 'श्रेणी' के रूप में ग्रहण किया है, क्योंकि इसी को आधार मान कर सेवा एवम् सेवा काल की ज्येष्ठता का विचार किया जाता था। यह सत्य है कि इस शब्द से किसी विभाग या किसी पद का बोध नहीं होता था। इस शब्द से केवल इतना ही बोध होता था, कि इस शब्द का अधिकारी व्यक्ति अवश्य ही शाही खिदमत में होगा तथा आवश्यकता पड़ने पर इस व्यक्ति को अवश्य ही शाही खिदमत में पेश होना पड़ता होगा।

इन मन्सबदारों के दो विशेष वर्ग हुआ करते थे। जैसा पहले कहा जा चुका है कि इन मन्सबदारों में छोटे से छोटे कर्मचारी से लेकर सातहजारी मन्सबदार तक होते थे और दूसरे वर्ग में वे मन्सबदार होते थे, जिनका सम्बन्ध शाही खानदान से हुआ करता था। इस द्वितीय वर्ग के मन्सबदार सात हजार से आगे तक के भी हो सकते थे। कभी-कभी साधारण मन्सबदारों में भी आठ या नौ हजारी मन्सबदार हो जाते थे, परन्तु यह अपवाद होता था न कि नियम। किसी शाहजादे का पद सात-हजारी से लेकर पचास हजारी तक का हो सकता था और 'मीरातुल इस्तिलाह' के अनुसार तो कभी-कभी ये पद पचास हजारी से भी ऊपर जा सकते थे। आईन अकबरी का जो अनुवाद मि० ब्लाकमैन ने प्रस्तुत किया है, उसके पृष्ठ २४८, २४९ पर मन्सबदारों की छासठ श्रेणियों की गणना की गयी है। इनमें दस व्यक्तियों के अधिकारी से लेकर दस हजारी मन्सबदार तक आ गये हैं। ब्लाकमैन की सूचना के अनुसार उस समय केवल तैंतीस श्रेणियों का ही अस्तित्व था। तत्कालीन सभी इतिहासकार इस बात पर एकमत हैं कि उस समय छोटे से छोटा मन्सब बीस तक का हो सकता था। इन सभी इतिहासकारों के अनुसार मन्सबदारों की केवल सत्ताइस श्रेणियाँ ही होती थी तथा मन्सब सात हजारी तक का होता था तथा निम्नतम बीस का। अकबर के उच्चतम समय में इन मन्सबों की स्वीकृति में पर्याप्त संयम से काम लिया जाता था तथा बहुत दिनों तक उच्चतम मन्सब केवल पाँच हजारी तक ही सीमित था केवल अकबर के शासन के अन्तिम दिनों में दो एक लोगों को सातहजारी तक के मन्सब दिये गये थे। कुछ ऐसे भी व्यक्ति उस समय में थे जिनका मन्सब तो छोटा था, परन्तु उनके कर्त्तव्य अपेक्षाकृत अधिक एवम् महत्वपूर्ण थे। जब आगे चल कर दक्षिण के प्रदेश भी मुगल साम्राज्य में शामिल हो गये एवम् फलस्वरूप लड़ाइयों का ताँता सा लग गया तो शाहजहाँ एवम् औरंगजेब के शासन काल में इन मन्सबों के देने में अधिक ढिलाई से काम लिया जाने लगा। इसी सिलसिले में एक और मजेदार बात

‡ तारीखे रशीदी पृष्ठ १०३

भी सामने आती है कि इस ढिलाई के साथ ही साथ इन मन्सबों का महत्व भी अपेक्षाकृत कम हो चला था। 'न आसिरुल-उमरा' के जिस लेखक ने अकबर कालीन पाँच सौ तक के मन्सबदारों की भी चर्चा करना आवश्यक समझा था, उसी ने आगे चल कर पाँच हजार मन्सबदारो के नीचे उतरने की आवश्यकता नहीं समझा। बात ऐसी थी कि आगे चल कर पाँच हजारी से ऊपर वाले मन्सबदारों की ही संख्या इतनी अधिक हो गयी थी कि वे महत्वहीन हो चले थे।

इन मन्सबदारों की पदोन्नति के भी क्रम बंधे हुए थे। ये वृद्धिक्रम ज्यों ज्यों ऊपर जाते थे त्यों त्यों बढ़ते जाते थे। वृटिश म्यूजियम में रक्खी हुई मीरातुल इस्तेलाह संख्या १८१३ तथा दस्तूरुल अमल संख्या १६३१ के अनुसार इन पदवृद्धियों का क्रम इस प्रकार का था—

२० से ऊपर	१०० तक	प्रत्येक वृद्धि	१० की	होती थी
१०० ,,	४०० ,,	,,	५० ,,	,,
४०० ,,	१००० ,,	,,	१०० ,,	,,
१००० ,,	४००० ,,	,,	५०० ,,	,,
४००० ,,	७००० ,,	,,	१००० ,,	,,

उपरोक्त वृद्धि विवरण एवम् तथ्यों में थोड़ी सी विभिन्नता पायी जाती है। तथ्यों के अनुसार उक्त विवरण को इस प्रकार सुधारना पड़ेगा—

२० से ऊपर	६० तक	द्रत्येक वृद्धि	१० की	होती थी
६० ,,	१००	,,	२० ,,	,,

यदि उपरोक्त सुधार न किया जाय तो पचास के मन्सब का अस्तित्व ही नहीं होगा, जो उस समय में अति सामान्य था। एक बात और है कि किसी भी विवरण में ढाई सौ तथा तीन सौ पचास के मन्सबों की चर्चा नहीं है, जब कि सिलसिले के मुताबिक इनका अस्तित्व अवश्य ही होना चाहिये।

कुछ इतिहासकारों ने ऐसे मन्सबों का जिक्र किया है, जिनका विवरण उपरोक्त तालिका में नहीं दिया गया है। उदाहरण के लिये दानिशमन्द खाँ द्वारा लिखित बहादुरशाह नामा में बारह सौ एवम् उनतीस सौ के मन्सबों का भी विवरण मिलता है, जो उपरोक्त तालिका की संगति में ठीक नहीं बैठता, साथ ही बेतन तालिंका में भी इन मन्सबों का बेतन नहीं दिया गया है।

एक और भी विचित्रता इन मन्सबों के विवरण में पायी जाती है। कुछ स्थितियों में प्रत्येक मन्सब के साथ ही कुछ सवारों की संख्या भी बंधी रहती थी। इस प्रकार मन्सबों के दो स्पष्ट वर्ग हो गये थे। मन्सब जात में केवल व्यक्तिगत वेतन तथा भत्ते सम्मिलित रहते थे जब कि सवारों के मन्सबदारों के वेतन व भत्तों में घुड़सवारों के भी बेतन ब भत्ते शामिल रहते थे। इस प्रकार किसी मन्सव को इस

प्रकार बताया जा सकता था कि अमुक व्यक्ति पचीस सौ मन्सब जात तथा एक हजार सवारों का मन्सबदार है। मीरातुल इस्तेलाह में कहा गया है कि पाँच सौ के नीजे वाले मन्सबों में घुड़सबारों को नहीं शामिल किया जाता था, परन्तु प्रयोग में यह बात ठीक नहीं उतरती। इंडिया आफिस की लाइब्रेरी में 'तजकिरा' नामक ग्रंथ की जो प्रति सुरक्षित है उसके अनुसार मिर्जा मुहम्मद को १११६ ❀ हिजरी के रबी–उल–दोयम मास में ४०० का जाती मन्सब एवम् ५० सवारों का सवारी मन्सब दिया गया था, साथ ही उसके छोटे भाई को तीन सौ का जाती तथा तीस सवारों का सवारी मन्सब दिया गया था। दानिशमन्द खाँ के ग्रंथ में एक सौ पचास जाती मन्सब के साथ पचास सवारी मन्सब का भी जिक्र है, तीन सौ के जाती मन्सब के साथ दस, बीस, तीस तथा अस्सी सवारी मन्सब का भी बयान आता है तथा चार सौ के जाती मन्सब के साथ चालीस घुड़सवारों का भी मन्सब दिये जाने का विवरण है। यदि पाँच सौ से नीचे के मन्सबदारों को सबारी का भी मन्सब दिये जाने का भी विधान न होता तो इन्हें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी में बाँटने का आधार ही क्या था। अगले अनुच्छेद में हम देखेंगे कि उस समय में इस प्रकार का श्रेणीं विभाजन होता था।

इन्हीं मन्सब जाती एवम् मन्सब सवार के आधार पर मन्सबो को प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी में विभाजित किया जाता था। इन श्रेणियों के ही आधार पर मन्सबदारों के वेतन निश्चित किये जाते थे। पाँच हजार से ऊपर वाले मन्सब जात के अधिकारी गण उपरोक्त वर्गीकरण से मुक्त होते थे अर्थात ५००० से ऊपर बाले सभी मन्सबदार एक ही श्रेणी में समझे जाते थे। पाँच हजार से नीचे मन्सब वालों में वे मन्सबदार प्रथम श्रेणी के माने जाते थे जिनका जाती मन्सब व सवारी मन्सब बराबर का होता था। द्वितीय श्रेणी के मन्सबदारों का सबारी मन्सब जाती मन्सब का आधा होता था तथा तृतीय श्रेणी वालों का सवारी मन्सब या तो होता ही नहीं था या जात मन्सब के आधे से भी कम होता था।† आईन के भाग एक पृष्ठ दो सौ अड़तीस का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मि० ब्लाकमैन ने 'कंटिनजेंट' शब्द का प्रयोग शायद इस मन्सबे सवारी के लिये ही किया है।

प्रत्येक मन्सबदार का बेतन 'दामों' (चालीस दाम बराबर एक रुपया) में निश्चित किया जाता था। यहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि उस समय 'दाम' नाम का एक सिक्का भी होता था और साथ ही दाम शब्द कीमत के अर्थ में भी ग्रहण किया जाता था। रुपये की कीमत दामों की सापेक्षता में घटती बढ़ती रहती थी,

---

❀ हिजरी सम्वत का प्रारम्भ ५२२ ई० से होता है, जब मुहम्मद साहब मक्के से भाग कर मदीना चले गये थे।

† दस्तुरुल-इन्शा पृष्ठ २२२।

इसीलिये वेतनों का निश्चय दामों में ही किया जाता था। इससे एक सुविधा यह भी होती थी कि वेतन का हिसाब एक रुपये के चालीसवें भाग तक हो सकता था। मेरा विचार इससे भिन्न है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय का वेतन मान इतना कम था (क्योंकि रुपये की कीमत बहुत ज्यादा थी) कि वेतन की रकम रुपयों की संख्या में बहुत कम मालूम पड़ती थी और दामों में बताने पर एक बड़ी संख्या का प्रयोग होने से मालूम होता था कि जैसे वेतन की रकम बहुत ज्यादा हो। पूर्व के देशों में विशेषतया भारत में इस प्रकार की बातें अक्सर देखने को मिलती है, परन्तु वास्तविकता यह थी कि रकम उतनी ही रहती थी, चाहे उसे रुपयों में कहा जाय या दामों में। वेतन की अदायगी रुपयों में ही की जाती थी और इस प्रकार की अदायगी के लिये एक रुपया चालीस दामों के बराबर माना जाता था।

निम्नलिखित तालिका में प्रत्येक वर्ग के मन्सबदारों का वेतन दिया गया है। मैंने दामों की संख्या को रुपयों में रुपान्तरित कर दिया है, क्योंकि इस प्रकार के रुपान्तरण से विवरण में अधिक स्पष्टता आ जाती है। इस तालिका का अध्ययन करते समय इस बात को हमेशा याद रखना चाहिये कि वेतनों की यह रकम वार्षिक है। उन दिनों मासिक वेतन का रिवाज नहीं था। वार्षिक वेतनों में कुछ अधिकारियों को बारह मास का वेतन दिया जाता था परन्तु कुछ को केवल चार मास का। इस वेतन की रकम में से ही मन्सबदारों को आवश्यक राज सेना भी रखनी पड़ती थी, साथ ही इसी रकम में से कुछ अंश शाही अस्तबल में रक्खे जाने वाले जानवरों की खूराक के लिये काट लिया जाता था, जिसे खूराके-दवाब कहते थे। इनके अतिरिक्त भी कुछ रकमें काटी जाती थीं।

मन्सब जात के वार्षिक वेतनों की तालिका रुपयों में

क्रम संख्या	श्रेणी मन्सबे जात	वार्षिक बेतन रुपयों में		
		प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी
१	७,०००	३५०,०००	—	—
२	६,०००	३००,०००	—	—
३	५,०००	२५०,०००	२४२,५००	२३५,०००
४	४,५००	२२५,०००	२१७,५००	२१०,०००
५	४,०००	२००,०००	१९२,५००	१८५,०००
६	३,५००	१७५,०००	१६७,५००	१६०,०००
७	३,०००	१५०,०००	१४२,५००	१३५,०००

क्रम संख्या	श्रेणी मन्सब जात	वार्षिक वेतन रुपयों में		
		प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी
८	२,५००	१२५,०००	११७,५००	११०,०००
९	२,०००	१००,०००	९२,५००	८५,०००
१०	१,५००	७५,०००	६७,५००	६०,०००
११	१,०००	५०,०००	४७,५००	४५,०००
१२	९००	३७,५००	३६,२५०	३५,०००
१३	८००	३१,२५०	३०,०००	२८,७५०
१४	७००	२७,५००	२६,२५०	२५,०००
१५	६००	२३,७५०	२२,५००	२१,२५०
१६	५००	२०,०००	१८,७५०	१७,५००
१७	४००	१२,५००	१२,०००	११,५००
१८	३००	१०,०००	९,५००	९,०००
१९	२००	७,५००	७,०००	६,५००
२०	१५०	६,२५०	५,७५०	५,२५०
२१	१००	५,०००	४,५००	४,०००
२२	८०	३,५००	३,२५०	३,०००
२३	६०	२,५००	२,३७५	२,१५०
२४	५०	२,१२५	२,०००	१,८७५
२५	४०	१,७५०	१,६२५	१,५००
२६	३०	१,३७५	१,२५०	१,१२५
२७	२०	१,०००	८७५	७५०

(दस्तूर-उल-अमल बृटिश म्यूजियम संख्या १६४१ तथा दस्तूर-उल-इन्शा पृष्ठ २३४)

आइने अकबरी के अनुवाद में मि० ब्लाकमैन ने जो तालिका दी है, उसकी वेतन दरें उपरोक्त तालिका में दी गयी दरों से काफी ऊँची हैं। उपरोक्त तालिका औरंगजेब के समय की तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय की है। दोनों की तुलना करने से पता चलता है कि प्रथम द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मन्सबदारों के वेतन क्रमों में निम्नलिखित ढंग का अन्तर है :—

२० से ६० तक के मन्सबदार ५,००० दाम या १२५ रु० वार्षिक

८० के „ १०,००० „ २५० „

१०० से ४००	,,	२०,०००	,,	५००	,,
१००० के	,,	१००,०००	,,	२५००	,,
१५०० से ५०००	,,	३००,०००	,,	७५००	,,

(बृ० म्यू० संख्या ६५६६)

मन्सब के आधार पर होने वाले वर्गीकरण के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का भी वर्गीकरण किया जाता था। इस आधार पर भी अधिकारियों के तीन ही वर्ग हुआ करते थे। बीस के मन्सब से लेकर चार सौ तक के मन्सबदार केवल मन्सबदार ही कहे जाते थे। पाँच सौ से पच्चीस सौ तक के मन्सबदार अमीर कहे जाते थे, जिसका बहुबचन होता है 'उमरा'। तीन हजार से सात हजार तक के मन्सबदारों को अमीरे-आजम कहा जाता था। सभी वर्ग के अधिकारियों को या तो हाजिरे-रिकाब रहना पड़ता था, अर्थात् उन्हें दर्बार में हाजिर रहना पड़ता था; या वे बादशाह के हुक्म से किसी न किसी स्थान विशेष पर तैनाती में रहते थे। ❀

सवार वर्ग—यह ध्यान रखना चाहिये कि जाती मन्सवदारों के साथ सवारों का भी जुड़ जाना प्रतिष्ठाप्रद समझा जाता था। डा० पॉल हार्न का मत है कि मन्सबदारों के अधीनस्थ सवारों का वेतन भी मन्सबदारों के जाती मन्सब की तनखाह से ही दिया जाता था। इस प्रकार वे लोग आर्थिक दृष्टि से अधिक अच्छे रहते थे, जिनको सवारों का मन्सब नहीं मिलता था। ऊपर जो वेतन तालिका दी गई है वह केवल मन्सब जाती वालों के वेतनो का ही विवरण देती है। अपने इसी वेतन में से ही मन्सवदारों को अपना इधर-उधर का आमदरफ्त खर्च, घर का खर्च तो निकालना ही पड़ता था, साथ ही कुछ सवारों का वेतन भी उसी में से देना पड़ता था। घुड़सवारों के मन्सबदारों का वेतन क्रम कुछ और ही हुआ करता था और घुड़सवारों का यह वेतन सरकारी खजाने से ताबिनान के नाम से निकाला जाता था। इतिहासकार आर्मी का मत है कि प्रत्येक अधिकारी अपने अधीनस्थ सैनिकों के व्यवहार के जिम्मेदार समझा जाता था, अतः प्रत्येक मन्सबदार की भरसक चेष्टा यही हुआ करती थी कि वह अपने अधीनस्थ सैनिकों में या तो अधिकांश अपने परिवार के व्यक्तियों को ही रक्खे या ऐसे व्यक्तियों को रक्खे, जिन पर उसे पूरा-पूरा भरोसा हो। मीराते अहमदी भाग १ पृष्ठ एक सौ अठारह के अनुसार सवार ताबिनान में एक तिहाई मुगल, एक तिहाई अफगान तथा एकतिहाई राजपूतों का रहना नियमतः आवश्यक था। इसी प्रकार पियादा सैनिकों में दो तिहाई धनुर्द्धर तथा एक तिहाई बन्दूक चलाने वालों का रहना नियमतः जरूरी था।

ताबिनान—यह शब्द ताबिन शब्द का बहुबचन है। मि० ब्लाकमैन ने इस

❀ देखिये आईन का ब्लाकमैन कृत अनुवाद भाग १ पृष्ठ ५२६, ५३५।

शब्द को अरबी मान कर इसका अर्थ किया है पृष्ठ गामी। उनके अनुसार इस शब्द का अर्थ होता है, 'ऐसे लोग जो पीछे चलते हों।' मि० पेवेट के अनुसार ताबीन शब्द चगताई परिवार का है और इसका अर्थ होता है 'पचास आदमी का जत्था, चाहे वे सिपाही हों, शरीर रक्षक हों या गुलाम ही क्यों न हों'।

वृटिश म्यूजियम में रक्खी हुई क्रमांक १६४१, ६५६६ की प्रतियों में ताबिनान के तनख्वाह की लम्बी तालिका दामों में दी गयी है, जो पाँच सवारों के जत्थे से शुरू होकर चालीस हजार सवारों के दल का विवरण प्रस्तुत करती है परन्तु वेतनमान सभी स्थितियों में समान है, अतः अधिक विस्तार में न जाकर केवल एक घुड़सवार का वेतन निकाल लेने से स्थिति का स्पष्टीकरण हो जायगा। पाँच सवारों के लिये प्रतिवर्ष चालीस हजार दाम दिये जाते थे। इस प्रकार प्रत्येक सवार को साल में आठ हजार दाम मिलते थे। यह रकम रुपयों में दो सौ रुपया हुई, यदि दामों का मूल्य स्थायी रूप से १।४० रुपया हो। इस प्रकार एक घुड़सवार को प्रतिमास सोलह रुपये दस आने आठ पाई मिला करते थे। बर्नियर ने कुछ अधिक ऊँचे वेतनमान का वर्णन किया है। उसके अनुसार एक घुड़सवार को (जिसका अपना घोड़ा हो) पच्चीस रुपये प्रति मास से कम नहीं मिलेंगे। यदि बर्नियर द्वारा प्रस्तुत विवरण को भी सही मान लें तो भी यह वेतन एक घुड़सवार के लिये अवश्य ही कम है, क्योंकि इसी रकम में से उसे अपना, अपने घोड़े का एवम् अपनी सैनिक साजसज्जा का पूरा खर्च चलाना पड़ता था। वृटिश म्यूजियम में सुरक्षित प्रति सं० ६५६६ के अनुसार यह नियम था कि प्रत्येक दस व्यक्ति के पीछे सेना मे बीस घोड़े होने चाहिये, जिसका बँटवारा इस प्रकार का हो कि तीन सवारों में से प्रत्येक के पास तीन-तीन घोड़े हों, चार सवारों में से प्रत्येक के पास दो-दो घोड़े हों; तथा तीन अन्य सवारों में से प्रत्येक के पास एक-एक घोड़े हों। इस प्रकार दस व्यक्तियों के पास कुल मिलकर बीस घोड़े हो जायँगे। अर्थात् इस प्रकार एक हजार सैनिकों पर दो हजार घोड़े हो जायँगे। जिन लोगों के पास अतिरिक्त घोड़े होते थे उनका वेतन भी कुछ अधिक होता था, परन्तु उस अधिकता का कोई अनुपात नहीं होता था। इस प्रकार जब कि एक घोड़े वाले सवार को आठ हजार दाम या दो सौ रुपया वार्षिक मिलता था तो दो घोड़े वाले या तीन घोड़े वाले सवारों को ग्यारह हजार दाम या दो सौ पचहत्तर रुपये वार्षिक मिला करते थे अर्थात् प्रतिमास इन लोगों को सोलह रु० दस आने आठ पाई के स्थान पर प्रतिमास बाईस रु० चौदह आने आठ पाई मिला करता था। कुछ स्थलों पर भिन्न वेतन क्रम का वर्णन मिलता है। उदाहरण के रूप में बहादुरशाह ने कुछ अहदियों ❀ को भर्ती किया था, जिन्हें प्रतिमास चालीस रुपये मिला करते। यह विवरण दानिश मन्द खां ने दिया है।

❀ अहदियों की स्थिति सामान्य सैनिकों से कुछ ऊँची होती थी।

फिज क्लैरेन्स के अनुसार अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दक्षिण में कार्य करने वाले सैनिकों को प्रतिमास ४० रु० तथा हिन्दुस्तान में काम करने वाले सैनिकों को प्रतिमास बाईस रुपया मिला करता था। घुड़सवारों की स्थिति सामाजिक रूप से पैदल सैनिकों से ऊँची मानी जाती थी। एक साधारण घुड़सवार की भी गणना सभ्यों में की जाती थी और वह अपढ़ होते हुये भी केवल सैनिक योग्यता के बल पर उच्च पदों तक पहुँच सकता था।

ताबिनान का वेतन खजाने से मन्सबदारों के द्वारा निकाला जाता था। मन्सबदार को इस बात का हक हासिल था कि वह ताबिनान के वेतन का पाँच प्रतिशत निजी खर्च के लिये रख ले (आईन भाग १, पृष्ठ २६५)। साधारण तथा पूरे वर्ष का वेतन शायद ही कभी दिया जाता था, कभी पाँच महीने का और कभी चार ही महीने का। इस प्रकार की वेतन व्यवस्था में यह असम्भव है कि किसी प्रकार से वार्षिक सैन्य व्यय का सही हिसाब लगाया जा सके, क्योंकि यह पता तो चल सकता है कि कौन सा मन्सबदार किस श्रेणी में है, परन्तु यह पता शायद नहीं ही लग सकता कि उसे साल में कितने महीनों के वेतन की स्वीकृति मिला करती थी।

चेला—प्रायः ऐसा होता था कि इन वेतन भोगी सैनिकों के ऊपर सेनापतियों का नियंत्रण दृढ़ नहीं हुआ करता था। ये सैनिक प्रायः मनमानी किया करते थे। अतः अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिये प्रत्येक सैन्य अधिकारी एक ऐसा दल रक्खा करता था जिसमें उसके निज के कुटुम्बी, सम्बन्धी या गुलाम लोग हुआ करते थे और अपने मालिक के सिवा उनकी अन्य कोई ज्ञाति नहीं हुआ करती थी। ऐसे दलों को हिन्दी शब्द 'चेला' के नाम से जाना जाता था। उनके खाने, पीने, रहने की सभी व्यवस्थायें उनके मालिकों द्वारा ही हुआ करती थीं। इनमें अधिकांश ऐसे ही लोग होते थे, जिनका पालन पोषण तथा जिनकी शिक्षा- दीक्षा का प्रबन्ध प्रारम्भ से ही उनके मालिक ही किया करते थे तथा सैनिक गृहों के अतिरिक्त उनका न तो कोई निजी घर ही होता था और न कोई उनकी निजी जायदाद ही होती थी। वे बचपन से ही अपने मालिक की देखरेख में बड़े होते थे। प्रायः अधिकारी लोग बचपन में ही उन्हें या तो उनके माता-पिता से उन्हें प्राप्त कर लिया करते थे या गुलाम के रूप में उन्हें खरीद लिया करते थे। पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि विभिन्न प्रकार के अभावों से ग्रस्त जन प्रायः अपने बच्चों को बेंच दिया करते थे। विशेषतया दुर्भिक्षों की स्थिति में इस प्रकार का विक्रय या क्रय अधिक जोर पकड़ लेता था। ❀

❀ इतिहासकार मोरलैंड ने विभिन्न मुस्लिम इतिहासकारों का उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि समूचे मुस्लिमकाल में यह बात सामान्यतया पायी जाती थी कि लगान न दे पाने की अवस्था में खेतिहरों के स्त्री बच्चे जानवरों की तरह राजकर्मचारियों

इस प्रकार के सैनिकों में अधिकांश हिन्दू ही हुआ करते थे परन्तु यदि वे मुसलमान अधिकारियों के हाथों पड़ जाते थे तो उनको सामूहिक रूप से मुसलमान बना लिया जाता था। केवल चेलों का दल ही ऐसा दल होता था जिन पर पूर्ण विश्वास रक्खा जा सकता था, क्योंकि मालिक की स्थिति पर ही उनकी स्थिति निर्भर रहा करती थी। मैंने स्वयम् ही एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की पत्रिका संख्या १ सन् १८७८ में पृष्ठ तीन सौ चालीस पर मुहम्मद खान वंगश के चेलादल की व्यवस्था का वर्णन किया है।

द्वारा बेंच दिये जाते थे। होनहार बच्चों को खरीद कर उन्हें शिक्षा-दीक्षा दिला कर इस प्रकार की सेना में भर्ती कर लिया जाता था। अनुवादक—

दूसरा अध्याय

वेतन तथा भत्तों के नियम

पिछले अध्याय में हमने घुड़सवारों के सामान्य वेतन की चर्चा की है, साथ ही कुछ ऐसे नियमों की चर्चा भी की है, जिनके अनुसार वेतन निर्धारित किया जाता था, परन्तु जब हम सैन्य प्रशासन की प्रायोगिक वेतन व्यवस्था का वर्णन करने बैठते हैं तो वास्तविक कठिंनाइयाँ सामने आती हैं। ये कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं, अब हम वेतन व्यवस्था को विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं। इस विषय को प्रस्तुत करने के लिये हमें निर्भर होना पड़ता है उन सरकारी कागजों पर, जो अत्यन्त ही संक्षिप्त रूप में लिखे गये हैं। उस समय के व्यक्तियों के लिये ये कागजात अवश्य ही संपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं, क्योंकि तत्कालीन व्यवस्था की अधिकांश बातें उन्हें ज्ञात रहती थीं, परन्तु हम लोग उस व्यवस्था के बारे में कुछ भी नहीं जानते और ऐसी अवस्थायें केवल उन प्रयत्नों के भरोसे किसी निर्णय पर पर पहुँच पाना हम लोगों के लिये तो कठिन ही है। एक कठिनाई यह भी सामने आती है कि हम यह निर्णय नहीं कर पाते कि उन प्रयत्नों में दी गयी व्यवस्थायें सामान्य सैन्य व्यवस्था की है अथवा किसी विशेष सैन्य दल की। अतएव इस विषय का संपूर्ण विवरण प्रस्तुत करने के लिये उन कागजों पर भरोसा करना व्यर्थ सा ही है। ऐसी अवस्थायें अगली पंक्तियों में जो वर्णन प्रस्तुत करने का प्रयास मैंने किया है, उसे संपूर्णता प्रदान करने में मैं असमर्थ रहा हूँ। इन विवरणों को मैं अन्य शीर्षकों के अन्तर्गत भी प्रस्तुत कर सकता था, परन्तु सम्यक रूप से विचार करने पर मुझे यह आवश्वक जान पड़ा कि इन पंक्तियों में ही उन्हें भी स्थान दे दिया जाय जिनका वर्णन अनुशासन भर्ती इत्यादि शीर्षकों के अन्तर्गत भी किया ज. सकता था।

वेतन की दरें—पिछले अध्याय में मन्सब व्यवस्था की चर्चा के संबन्ध में मन्सबदारों एवम् सवारों के वेतनों का वर्णन किया जा चुका है। पैदल सैनिकों एवम् तोपखाने के सैनिकों का वेतन संबन्धी विवरण आगे चल कर यथा स्थान देने का प्रयत्न किया जायगा। इस बिषय की प्राथमिक बात यह है कि किसी भी सैनिक या सैन्य अधिकारी को कब से वेतन मिलना प्रारंभ होता था।

वेतन का प्रारम्भ—समूचे मुगल काल में (बीच में एकाधबार को छोड़ कर)

घोड़ों को दागने ※ की व्यवस्था थी, परन्तु फिर भीं कारण विशेष से कुछ अधिकारी इस व्यवस्था से मुक्त भी हो जाते थे। ऐसी दशा में सैन्य अधिकारियों के दो स्पष्ट वर्ग हो गये थे। एक वर्ग उन अधिकारियों का था जिनके अधीन घोड़ों को दागा जाता था तथा दूसरे वर्ग में वे लोग थे जिनके लिये अपने घोड़ों को दगाना आवश्यक नहीं था। द्वितीय वर्ग के अधिकारियों का वेतन उसी दिन से प्रारम्भ हो जाता था, जिस दिन उनके नियुक्ति पर शाही मुहर लग जाती थी परन्तु प्रथम वर्ग वालों का वेतन घोड़ों के दागे जा चुकने के दूसरे दिन से शुरू होता था, परन्तु प्रथम दिन ही उन्हें एक मास का वेतन दे दिया जाता था। यदि किसी प्रकार की पद वृद्धि होती थी तो भी इसी प्रकार का नियम माना जाता था। यदि पद वृद्धि की कोई शर्त नहीं हुई तो कार्यभार ग्रहण करने की तिथि से ही बढ़ा हुआ वेतन मिलने लगता था, परन्तु यदि कोई शर्त भी हुई तो नया वेतन उस दिन से प्रारम्भ होता था, जिस दिन कर्मचारी द्वारा सभी शर्तें पूरी कर दी जाती थी। (दस्तूरुल अमल बृटिश म्यूजियम पुस्तक संख्या १६४१ तथा दस्तूरुल इन्शा पृष्ठ २३३)

मशरूत तथा बिला शर्त तनखाहें—मुगल काल में सभी पद व सभी प्रकार के वेतन दो प्रकार के होते थे। प्रथम प्रकार में पद व वेतन के लिये कोई शर्त नहीं रहती थी और इसे तनखाह बिला शर्त कहते थे। दूसरे प्रकार के वेतन को प्राप्त करने के लिये किसी न किसी पद को सँभालना जरूरी होता था। ऐसा भी होता था कि किसी स्थायी रूप से बिला शर्त वेतन पाते रहने वालों को भी अस्थायी रूप से मशरूत-ब-खिदमत करार दे दिया जाता था अर्थात आवश्यक होने पर उन्हें भी शाही खिदमत अन्जाम देनी पड़ती थी और जब आवश्यकता की समाप्ति हो जाती थी तो मशरूत-ब-खिदमत का वेतन मिलना बन्द हो जाता था जैसे किसी बिला शर्त तनखाह पाने वाले को कहीं का सूबेदार व फौजदार बना दिया गया। ऐसी अवस्था में ऐसे कर्मचारी को बिला शर्त वाली तनखाह तो मिलती ही रहती थी, साथ ही इन पदों पर काम करने के कारण उनको उस पद का भी वेतन मिला करता था, जिसे तनखाहे-मशरूत-ब-खिदमत कहते थे। जब भी ऐसा कर्मचारी अपने पद से मुक्त हो जाता था तो तनखाह-मशरूत का मिलना बन्द हो जाता था।

※ प्राय: ऐसा होता था कि शाही मुआइने के समय अधिकारी लोग एक दूसरे से घोड़े लेकर निर्धारित संख्या की पूर्ति कर लिया करते थे और इस प्रकार कम घोड़े रख कर सरकारी खजाने से अधिक घोड़ों के लिये रकम लिया करते थे। इस बद अमली को रोकने के लिये यह व्यवस्था थी कि प्रत्येक अधिकारी के घोड़ों पर अलग-अलग स्थायी निशान दाग कर बना दिये जाते थे। इसी को दागने की प्रथा कहते थे। अनुवादक—

वेतन अधिकांश बकाया ही मिलता था—चाहे मन्सबदारों को सरकारी खजाने से मिलने वाले वेतन का प्रश्न हो या मन्सबदारों के हाथों सैनिकों को दिये जाने वाले वेतन का प्रश्न हो, परन्तु एक प्रकार की ऐसी परम्परा ही बन गयी थी कि वेतन प्रायः पिछले महीनों का ही दिया जाता था। यदि हम यह कहें कि सब सर्वाधिक न्यायपूर्ण शासन के समय में भी यही परम्परा थी तो हम सत्य से बहुत दूर नहीं जायँगे। भारतीय मुसलमान बादशाह बड़े ही अकुशल अर्थशास्त्री होते थे। परिस्थितियाँ ऐसी थी कि उन्हें अधिक से अधिक सैनिकों की आवश्यकता पड़ती रहती थी, अतः वे लोग जितने सैनिकों को तनखाहें दे सकने में समर्थ होते थे, प्रायः उनसे कहीं अधिक सैनिकों की भर्ती वे कर लिया करते थे। वे किसी न किसी प्रकार का औचित्य दिखा कर कर्मचारियों की तनखाहें रोक लिया करते थे। वेतन का बाकी रखना या किसी का भी रुपया बाकी रख कर तकाजे सहते रहना यहाँ की सामान्य बात है। एशियाटिक मिसलैनी कलकत्ता संख्या १७८८ भाग ३ पृष्ठ १६० के अनुसार सर्वाधिक कुशल अर्थशास्त्री निजामुलमुल्क की गर्वोक्ति थी कि उसने कभी तीन माह से अधिक वेतन बकाया नहीं रक्खा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि कोई कर्मचारी केवल तीन माह का ही वेतन बकाया में रखता है तो यह कार्य उसके लिये गर्व करने का कारण होता था क्योंकि साल-साल भर वेतन बकाये में डाल रखना उस समय की परम्परा सी बन गयी थी। यदि हम यह मान लें कि इस प्रकार का बकाया रखना आर्थिक विवशता के ही कारण होता था तो ठीक नहीं होगा। इसके अन्य कारण भी होते थे। उन दिनों के सैनिक प्रायः अपनी सेनाओं को बदलते रहते थे। थोड़ी-सी सुविधा पाते ही वे झट एक सर्दार की नौकरी छोड़ कर किसी दूसरे सर्दार के यहाँ नौकरी कर लेते थे। इसलिये भी उनकी तनखाहें बकाया में पड़ी रहती थीं कि भला बकाया वसूली के लालच में ही वे अपने स्थान पर बने रहें और नौकरी छोड़ कर चल न दें। इस प्रकार के सेवा परिवर्तनों को रोकने के लिये किसी प्रकार का कर्तव्य का बन्धन तो था नहीं, अतः तनखाहों की वसूली की ही लालच में ये सैनिक गण अधिक दिनों तक एक ही मालिक के यहां पड़े रहते थे। बकाया वसूली के लिये किये गये सैनिकों के उपद्रव में कितने ही सेनापतियों ने अपने प्राण गँवाये हैं तथा कितने ही उच्च अधिकारी गण इन्हीं सैनिकों के द्वारा अपमानित हो चुके हैं। इस प्रकार के अपमानकारक एवम् मृत्यु दायक उदाहरणों की कमी मुस्लिम कालीन इतिहास में नहीं है। इस विषय का वर्णन करते हुये हाजी मुस्तफा ने अपने ऐतिहासिक ग्रंथ में भाग तीन के पृष्ठ ३५ पर सत्य ही कहा है कि—"सैनिकों की तनखाहें अत्यधिक कम हैं। प्रायः बीस या कभी-कभी तीस-तीस महीनों के बकाया वेतन की बात भी सुनने में आती है। वजीर, सूबेदार, फौदजार तथा सर्दार लोग अपनी सामर्थ्य से दुगुने तिगुने सैनिक रख छोड़ते हैं और उनका ख्याल है कि इस प्रकार तनखाहों के रोक रखने से

सैनिकों की स्वामिभक्ति बनी रहती है और वे सदा ही अपने मालिक की रक्षा करने में तत्पर बने रहते हैं। 'माइन्यूट्स ग्राव सेलेक्ट कमेटी' में सन् सत्रह सौ सत्तावन में बंगाल सूबे का विवरण प्रस्तुत करते हुये लार्ड क्लाइव ने भी इसी से मिलती जुलती बातें लिखी हैं। वह कहता है कि—"सिराजुद्दौला की सेना में भी और मीर जाफर की सेना में भी सैनिकों का अधिकांश वेतन बकाया पड़ा रहता है और यह बकाया रकम तीस चालीस लाख पौंड (साढ़े चार करोड़ रुपये से छः करोड़ रुपये) तक पहुँचती है। इस देश की ऐसी परम्परा सी बन गयी है कि यहां के राजे तथा नवाब कभी भी चालू वेतन नहीं देते थे। कभी-कभी तो वास्तविक वेतन का चौथाई भी इन सैनिकों को नहीं मिल पाता था। केवल युद्धों के समय ही सैनिकों की वफादारी हासिल करने के लिये उन्हें पूरा वेतन दिया जाता है और यही कारण है कि भारतीय सैनिकों का अनुशासन और उनका व्यवहार ऐसा (खराब) होता है।"

नकद तनखाहें या जागीर द्वारा दी जाने वाली तनखाहें—तनखाह शब्द दो शब्दों से मिल कर बना है। तन के अर्थ होते हैं शरीर और ख्वाह के अर्थ होते हैं जरूरत या चाहने वाला। मुगल काल में तनखाहें या तो नकद दी जाती थीं, अर्थात् या तो सीधे सरकारी खजाने से सिक्कों के रूप में दी जाती थी या कर्मचारियों को उनकी तनखाह के बदले किसी गांव, परगना, जिला या सूबे की लगान दे दी जाती थी। वेतन देने के इस द्वितीय ढंग को जागीरदारी के प्रथा के नाम से जाना जाता है। जागीर (जा = जगह तथा गीर फारसी के गिरिफ्तन शब्द से बना है) में नकद वेतन देने के बदले उतनी ही रकम की लगान वाला क्षेत्र कर्मचारी को मिल जाता था, जहाँ से लगान वसूल करके वह अपना खर्च चलाता था।* उन थोड़े से अधिकारियों या सैनिकों को अवश्य ही सरकारी खजाने से नकद वेतन दिया जाता था, जो शाही खिदमत में हमेशा ही रहती थी। इनमें से अधिकांश या तो पैदल सैनिक रहते थे या तोपखाने के सैनिक। नकद वेतन देने की यह व्यवस्था प्रायः मुगल काल के अन्त तक कायम रही। शेष सैनिकों को वेतन के बदले जागीरें मिल जाया करती थी। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि जागीर में केवल लगान दी जाती थी, भूमि नहीं। उदाहरण के रूप में यदि किसी सैनिक का वेतन दस हजार दाम वार्षिक है, तो उस व्यक्ति को उतनी भूमि की लगान

* ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो पता चलता है कि भारत में जागीरदारी की प्रथा हिन्दू काल से ही चली आती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस प्रकार की प्रथा के प्रमाण पाये जाते हैं। कर्नल टाड ने अपने राजस्थान के इतिहास में जयपुर राज्य में जागीरदारी प्रथा की विस्तृत चर्चा की है। स्मरण रखना चाहिये कि समूचे भारत में जयपुर ही एक ऐसा राज्य है जिस पर मुसलमानी प्रभाव बहुत ही कम या नही के बराबर था। अतएव ऐसी रियासत में जागीरदारी प्रथा का प्रचलन इस बात का प्रमाण है कि यह प्रथा हिन्दुओं की है न कि मुसलमानों की। अनुवादक—

जागीर में दे दी जाती थी, जितने से दस हजार दाम वार्षिक वसूल होने की आशा होती थी। इस प्रकार की (जागीरदारी) व्यवस्था दोनों ही पसन्द करते थे। सरकार को उस प्रदेश की लगान वसूली की झंझटों से मुक्ति मिल जाती थी और कर्मचारी भी अपना वेतन प्राप्त करने के लिये किसी का मुहताज नहीं रह जाता था। लगान देने वाले अर्थात् खेतिहर लोग सैनिकों की अपेक्षा प्रायः निर्बल ही होते थे, अतः उनसे मनमानी लगान वसूल कर पाना कोई अत्यधिक कठिनाई की बात नहीं समझी जाती थी। समूचे मुस्लिम काल में सल्तनत की सारी सत्ता चूंकि बादशाहत में केन्द्रित रहती थी अतः शासन का सुदृढ़तम संगठन सल्तनत के केन्द्रीय भाग में ही सम्भव होता था। केन्द्र से दूर पड़ने वाले भागों पर शासन का नियंत्रण पर्याप्त ढीला रहता था, अतः उन प्रदेशों की लगान को वसूल करना सल्तनत के लिये सरदर्द ही सिद्ध होता था। जागीर रूप में इन प्रान्तों की भूमि को उठा कर बादशाह अपने को काफी सुविधा जनक स्थिति में समझता था। केन्द्र के आस पास के प्रदेशों की सारी भूमि रक्षित होती थी, जहां की सारी लगान सरकारी खजाने में जमा होती थी और इसी से तमाम शाही खर्च चला करते थे। जब तक कोई मन्सबदार विशेष रूप से बादशाह का कृपा पात्र नहीं होता था तब तक शायद ही उसे केन्द्र के समीपस्थ प्रदेशों में जागीर मिलती थी। अधिकांश जागीरें उन्हीं प्रान्तों में दी जाती थी, जिन पर शाही नियंत्रण ढीला होता था या जो केन्द्र से बहुत दूर पड़ते थे। सारे संसार में लोग भूमि प्रबन्ध से सम्बन्धित होने में तथा भूमि की लगान की रकम का प्रबन्ध करने में अपने को गौरवान्वित मानते हैं, परन्तु भारत में लोग इस प्रकार के अवसरों को लोभ की बात समझते थे। इसलिये कर्मचारी को भी इसी में सुविधा प्रतीत होती थी कि उसे अपने वेतन के लिये शाही मर्जी पर निर्भर न रहना पड़े। इसके अतिरिक्त थोड़ी सी कार्य-कुशलता (या खुशामद या रिश्वत) के बल पर जागीरदारियों से मिलने वाले लाभ की सम्भावनायें भी बढ़ सकती थी। थोड़ा-सी रिश्वत के बल पर आवश्यकता से अधिक लगान वाली जागीर भी प्राप्त की जा सकती थी और यदि जागीरदार कार्यकुशल तथा भाग्यमान हुआ तो वह अपनी जागीर से प्राप्त होने वाली आमदनी को बढ़ा भी सकता था। सम्भावनायें चाहे जो रही हों या न भी रही हों परन्तु इतना तो निर्विवाद ही है कि जागीरदारी प्रथा उस समय की बहुमान्य व्यवस्था का अंग थी और अच्छी जागीरें प्राप्त करने की प्रतिद्वन्दिता में केन्द्रीय महकमा लगान नित नये षड्यंत्रों का अखाड़ा बना रहता था। अब्दुल जलाल बिलग्रामी ने अपने लड़के को लिखे गये एक खत में लिखा है कि—"नौकरी की नींव जागीर है। बिना जागीर का नौकर वास्तव नौकर है ही नहीं।" ये जागीरें बाबर, हुमायूं तथा अकबर के समय में भी थी, परन्तु शाहजहां के समय में जागीरों का प्रचलन सर्वाधिक था। औरंगजेब के उत्तराधि-

कारियों के शासन काल में जब मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला था तो जागीरदारी प्रथा को प्रश्रय मिलना बन्द सा ही हो गया था।'

यदि जागीर काफी बड़ी होती थी तो जागीरदार अपने प्रतिनिधियों के द्वारा उसकी लगान वसूली का प्रबन्ध करता था और वह प्रतिनिधि ही सल्तनत के सभी अधिकारों का उपभोग करता था। सल्तनत के कर्तव्य तो मुस्लिम काल में वहीं के ही बराबर थे। ये जागीरें न तो किसी सूबेदार के ही मातहत होती थी और न फौजदार के ही। संक्षेप में इन जागीरों द्वारा राज्य में राज्य की कहावत चरितार्थ होती थी। जागीरदारी की सुविधाओं एवम् असुविधाओं का वर्णन हमारे क्षेत्र के बाहर का विषय है। छोटी जागीरों के जागीरदार लोग प्रायः अपनी जागीरों को स्थानीय फौजदार के ही हाथों में छोड़ दिया करते थे। फौजदार ही उसकी लगान वसूल करके भेज दिया करता था। जब कभी शाही शक्ति निर्बल पड़ जाती थी या अन्य किसी कारणवश शाही नियंत्रण ढीला पड़ जाता था तो ये फौजदार या सूबेदार जागीरदारों के हक का कुछ या सर्वांश मार लेने में ढिलाई नहीं करते थे।

जागीरों की स्वीकृति किस ढंग से होती थी, यह स्पष्ट करने के लिये व्यवहार में आने वाली कार्य प्रणाली का व्यौरा नीचे दिया जाता है। मान लीजिये कि ख्वाजा रहमतुल्ला नाम का कोई व्यक्ति किसी सूबे में जागीरदार था। आवश्यकता वश उसे दर्बार में उपस्थित होने का हुक्म मिला। दर्बार में उपस्थित हो कर उसने नई जागीर के लिये प्रार्थना पत्र दिया। उस समय महकमा लगान की दो शाखायें हुआ करती थी। उसमें से एक शाखा के प्रधान को दीवाने-तन कहते थे। इसी दीवाने-तन के द्वारा एक हकीकत (विवरण-पत्र) प्रस्तुत की जाती थी जो निम्नलिखित ढंग की होती थी।

हकीकत

ख्वाजा रहमतुल्ला वल्द ख्वाजा अहमद साकिन बल्ख, जो अमुक सूबे में एक जागीरदार था, शहंशाह के हुक्म के बमूजिब हाजिरे दर्बार हुआ। उसकी वह जागीर अब अमुक को दे दी गयी है, जिसका उपभोग इसने अमुक फसल से अमुक फसल तक किया। उसने नई जागीर के लिये अर्जी दी है अतः शख्स मजकूर के लिये क्या हुक्म होता है ?

हाशिये पर { मुलाजमत
दिनांक

{ नजर
६ सोने की मुहरें तथा
१८ चांदी के रुपये

यह हकीकत दीवाने-तन द्वारा स्वीकृत हो कर दीवाने आला के पास भेज दी जाती थी। वजीर आला इसे बादशाह के सामने पेश करता था। यदि बादशाह ने जागीर देना स्वीकार कर लिया तो उसी कागज पर वजीर लिख देता था कि— "शहंशाह का पाक हुक्म हुआ है कि इस व्यक्ति को अमुक फसल के समय से जागीर दे दी जाय।" दीवाने-तन के हेड क्लर्क के लिये यही कागज प्रमाण पत्र का काम देता था और वह एक सियाहादौल या अनुमान पत्र तैयार करता था जो निम्नलिखित ढंग का होता था :—

सियाहादौल

ख्वाजा रहमतुल्ला वल्द ख्वाजा अहमद साकिन बल्ख पहले अमुक सूबे में तैनात था, अब शाही हुक्म के मुताबिक हाजिरे रिकाब हुआ है। (दर्बार में हाजिर हुआ है)

एक हजार मन्सब जाती
दो सौ घुड़सवार
तनखाह चौंतीस लाख दाम

जाती
१८ लाख

घुड़सवारों का
(ताबिनान)
१६ लाख
=मजमूआ ३४ लाख दाम

खूराके दोवाब मुआफ की गयी
अमुक सूबे में अमुक परगने
की लगान का मूल्यांकन
२० लाख दाम

अमुक सूबे में अमुक
परगने की लगान का
मूल्यांकन १४ लाख दाम

पिछले पृष्ठों में मन्सबदारों का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके अनुसार एक हजार का मन्सबदार जाती तथा दो सौ सवारों वाला मन्सबदार तृतीय श्रेणी का मन्सबदार होता था। वेतन तालिका के अनुसार उसका वेतन १८ लाख दाम होना चाहिये। इसमें प्रति सवार आठ हजार दाम के हिसाब से दो सौ सवारों का वेतन हुआ सोलह लाख दाम। इस प्रकार उपरोक्त चौंतीस लाख दाम का तखमीना नियमानुकूल है। अतः उसकी स्वीकृति दे दी गयी।

इस प्रकार की स्वीकृति वाकिया नवीस (डायरी लेखक) के पास भेज दी

जाती थी, जो उसे अपने वाकया (डायरी) में दर्ज करके एक याददाश्त प्रस्तुत करता था। इस याददाश्त (स्मृति-पत्र) को अर्जे मुकर्रर (नियुक्ति को स्थायित्व प्रदान करने वाला कार्यालय) के पास भेज दिया जाता था। याददाश्त भी उसी ढंग पर लिखी जाती थी, जिस ढंग की हकीकत का नमूना ऊपर दिया जा चुका है। इसके ऊपर वजीर लिखता था, कि—"इसे वाकिया से मिलान करके अर्जे मुकर्रर के पास भेज दिया जाय।" इसके बाद हाशिये पर वाकिया नवीस इस प्रकार का लेख लिखता था—"यह याददाश्त वाकिया के मुताबिक सही है।' इसके बाद अर्जे मुकर्रर का दारोगा उसी पर लिख देता था कि—"अमुक वर्ष के अमुक माह की अमुक तारीख को यह हुक्म हमारे कार्यालय में पहुँचा और इस हुक्म को अन्तिम स्वीकृति प्रदान की गयी।" जिस ढंग से एवम् जितने दिनों में यह आदेश सम्बन्धित सूबेदार के पास पहुँचता था उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

कर्ज, अग्रिम धन तथा इनाम—यदि किसी भी कर्मचारी को कर्ज दिया जाता था या उसे उसका वेतन अग्रिम रूप में दिया जाता था तो उसे मुसाअदत के नाम से पुकारा जाता था। ब्लाकमैन द्वारा अनूदित आईने अकबरी के द्वितीय भाग के पन्द्रहवें आईन के अन्तर्गत इस प्रकार की रकम की अदायगी तथा उस पर लगाये जाने वाले सूद के नियम दिये गये हैं। इतिहासकारों ने प्रायः इस प्रकार दी गयी एवम् अदा की गयी रकमों की चर्चा की है। मुहम्मद शाह के समय में तथा उसके परवर्ती काल के सभी सिपहसालार लड़ाई के अवसरों पर आवश्यक तैयारी करने के लिये बड़ी-बड़ी रकमें अग्रिम रूप से लेने के आदी बन गये थे। सम्भवतः ये रकमें कभी अदा नहीं की जाती थीं। यह भी हो सकता है कि ये रकमें यह समझ कर ही दी जाती रहीं हों कि इनकी अदायगी नहीं होगी। आगे चल कर इस प्रकार दी गयी रकमों के लिये तनखाहें-इनाम शब्द इस्तेमाल किया गया है जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ये रकमें यही समझ कर दी जाती थीं कि इनकी वसूली नहीं की जायगी। इनाम शब्द से कम से कम यही भाव प्रगट होता है और वह तनखाह से भिन्न अर्थ प्रगट करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के इनामों की स्वीकृति प्रायः हुआ ही करती थी। कर्जों एवम् अग्रिम रूप में दी गयी रकमों की वसूली को मुतालबा कहते थे। यदि इस रकम में किसी प्रकार की रकम मुआफ कर दी जाती थी तो उसे बाजयाफ्त कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि हिसाब की जांच के समय लेखा निरीक्षक (आडिटर) जिस रकम को निकाल देते थे अर्थात् जिसकी अदायगी से कर्जदार को बरी कर देते थे, उसे ही बाजयाफ्त कहते थे। आईन में एक जगह एक कर्मचारी का कर्ज चार किश्तों में चुकाने की चर्चा की गयी है, परन्तु औरंगजेब के समय में इन कर्जों की अदायगी आठ किश्तों में करने का नियम था।

कटौतियाँ—तत्कालीन इतिहास ग्रंथों को देखने से पता चलता है कि उस

समय में पाँच प्रकार की कटौतियाँ बेतन में की जाती थीं, (१) कसूरे-दो दामी (२) खर्चे-सिक्का (३) अय्यामें हिलाली (४) हिस्सये-इजनास तथा (५) खूराके दोवाब। पाठकों की सुविधा के लिये इनका अलग-अलग विवरण नीचे दिया जाता है।

कसूरे-दो दामी—कसूर शब्द से भाग, अंश, कमी इत्यादि का बोध होता है। यह कटौती वेतन का पांच प्रतिशत होती थी अर्थात् प्रति चालीस दाम (एक रुपया) पर दो दाम। इसीलिये इसको दो दामी कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कटौती की शुरुआत अकबर द्वारा की गयी थी, जब उसने अहदी (एक प्रकार के सैनिक विशेष) सैनिकों के वेतन में से पांच प्रतिशत की कटौती घोड़ों के खर्च एवम् अन्य प्रकार के कुछ खर्चों के लिये की थी। ब्रिटिश म्यूजियम में रक्खें हुये ग्रंथ संख्या १६४१ के अनुसार यह कटौती प्रति सौ दाम में चार दाम की होती थी, यदि सैनिक को सात या आठ माह का वेतन मिल जाय परन्तु यदि इससे भी कम महीनों का वेतन मिलता था तो प्रति सैकड़ा दो दाम की ही कटौती होती थी।

खर्चे-सिक्का—प्रत्येक कर्मचारी को जो सिक्के वेतन में दिये जाते थे, उनकी ढलाई का खर्च भी उनके वेतन में से ही कट जाया करता था। औरंगजेब के समय में प्रति सैकड़ा रुपये पर पौने दो रुपया इस मद में कट जाया करता था यदि सिक्के शाह-जहाँ के समय के होते थे, परन्तु यदि वे खुद औरंगजेब के ही सिक्के हुये तो उन पर डेढ़ रुपये प्रति सैकड़ा रुपये ही कटौती होती थी। चूंकि मुगल काल की परम्परा यह थी कि हर नये बादशाह के समय में नये सिक्के ढाले जाते थे अतः पुराने बाद-शाह के सिक्के अप्रचलित हो जाते थे। शायद इसीलिये शाहजहाँ के समय के सिक्कों पर अधिक कटौती की जाती थी, परन्तु स्वयम् औरंगजेब के सिक्कों पर क्यों कटौती की जाती थी, इसका जवाब दे पाना कठिन जान पड़ता है। फर्रुखसियर के जमाने में प्रति वर्ष पुराने सिक्के वापस लेकर नये सिक्कों को चालू करने का नियम हो गया था, अतः उसके समय में प्रति वर्ष पुराने सिक्कों को गला कर नये सिक्के ढाले जाते थे और केवल नये सिक्के ही पूरी कीमत पर चलते थे। शेष सिक्कों पर कटौती आवश्यक हो जाती थी।

अय्यामे-हिलाली—प्रति मास में एक दिन की तनखाह इस मद में कट जाया करती थी, परन्तु यह कटौती रमजान के महीने में नहीं की जाती थी। मन्सबदार हों या अहदी हों या बर्कन्दाज सभी लोग इस कटौती के दायरे में आ जाते थे। औरंगजेब के जमाने में यह कटौती बन्द कर दी गयी थी, परन्तु जब वह दक्षिण की लड़ाइयों में फँसा, तो उसने इसे फिर से चालू कर दिया। सरकारी कागजातों को देखने से पता चलता है कि दक्षिण में कार्य करने वालों को भी इस कटौती का सामना करना पड़ता था, परन्तु ऐसा क्यों होता था, इसका कोई पता नहीं चलता। औरंजेबके

समय 'तलाफी' शब्द का प्रयोग इसी सम्बन्ध में किया गया है। स्टीनगैस ने इस शब्द को प्राप्त करना, सुधार करना, क्षतिपूर्ति करना इत्यादि अर्थों में ग्रहण करने की सलाह दी है, परन्तु इससे भी उपरोक्त क्यों का जवाब नहीं मिलता।

हिस्सये-इजनास—यह शब्द नकद के विरोध में इस्तेमाल किया गया है। ऐसा प्रतीत होता हैं कि मुगल काल में सैनिकों को सारा वेतन नकद सिक्कों में न देकर उसका कुछ भाग खाद्य सामग्री के रूप में भी दिया जाता था। (हिस्सा = भाग, तथा इजनास जमा अर्थात् बहुत बचन है जिन्सक) अर्थात् वह भाग जो सैनिकों को खाने के लिये खाद्य सामग्री के रूप में दिया जाता था। घुड़सवारों के वेतन से इस मद की कटौती नहीं की जाती थी। तोपची, बन्दूकची तथा कारीगरों के वेतन का १।२४ भाग इस मद में कट जाया करता था, वशर्ते कि वे अपना घोड़ा भी रक्खे हों परन्तु यदि उनके पास घोड़ा न हुआ तो उनके वेतन का बारहवाँ भाग इस प्रकार की कटौती में कट जाया करता था। वास्तव में सैनिकों को जो भोजन सरकारी गोदाम से दिया जाता था, उसी की कीमत इन सैनिकों से हिस्सये इजनास के नाम से कट जाया करती थी। इसी सिलसिले में एक अन्य शब्द अर्थात् रसदे-जिन्स का भी प्रयोग हुआ है, परन्तु पूरा प्रयत्न कर के भी मैं इसका तात्पर्य नहीं निकाल सका।

खूराके दवाब—इसका अर्थ होता है चौपायों का भोजन। बादशाही पशुशाला में जो जानवर रहते थे विशेष कर हाथी और घोड़े। उनकी खूराक के लिये प्रत्येक मन्सबदार के वेतन में से कुछ भाग काट लिया जाता था, प्रत्येक मन्सबदार के नाम से कुछ हाथी और घोड़े कर दिये जाते थे और उनकी खूराक का प्रबन्ध उन्हीं मन्सबदारों के वेतन से किया जाता था। आईन भाग एक पृष्ठ १२६ के अनुसार अकबर ने प्रत्येक मन्सबदार के नाम के साथ हाथियों के कुछ हल्के (हाथियों का समूह) जोड़ दिये थे और उनके वेतन में से ही कटौती करके इन हाथियों का खर्च चलाया जाता था। यहीं से खूराके दवाब का इतिहास शुरू होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर इन हाथियों का अधिकांश खर्च स्वयम् देता था और नाम मात्र की ही कटौती वेतन से की जाती थी, परन्तु कालान्तर में इस प्रकार के हाथियों का पूरा का पूरा खर्च ही मन्सबदारों के ही कन्धों पर डाल दिया गया। और भी आगे चल कर यह कटौती आवश्यक बनी रह गयी, यद्यपि मन्सबदारों के नाम से हाथियों का रक्खा जाना बन्द हो गया। यह कटौती धीरे-धीरे इतनी अधिक हो गयी कि खाफी खाँ ने अपनी इतिहास की पुस्तक में इसकी बड़ी ही निन्दा की। खाफी खाँ के शब्दों में—"औरंगजेब के शासन काल में यह कटौती इतनी अधिक हो गयी थी कि मन्सबदारों को शाम का भोजन पा सकने में भी मुश्किलाहट पड़ने लगी। एक ओर तो बादशाह की ओर से दी गयी जागीरों की लगान यों ही वेतन की तुलना में बहुत कम होती थी, दूसरी ओर खूराके दवाब के नाम से उनसे इतनी अधिक रकम मांगी

जाती थी कि उनको दोनों वक्त के भोजन के भी लाले पड़ गये। वह समय ही कुछ ऐसा था कि उसमें 'एक अनार सौ बीमार' की कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती थी। कितनी ही कोशिशों के बाद कहीं छोटी-मोटी जागीर मिलती थी, जिसकी लगान इतनी कम होती थी कि कर्मचारियों के साधारण खर्च भर को भी नहीं होती थी, क्योंकि उस समय में देश की अधिकांश भूमि जोतने वालों की प्रतीक्षा में परती पड़ी हुई थी। खूराके दवाब के मद में जितनी रकम इन कर्मचारियों से माँगी जाती थी, उसकी आधी या तिहाई रकम भी लगान में वसूल नहीं होती थी। यदि वह पूरी की पूरी लगान भी वह खूराके दवाब के मद में दे देता था तो भी पूरा नहीं पड़ता था, फिर वह अपना तथा अपने बाल बच्चों का भरण पोषण किस प्रकार करे। इन रकमों की वसूली के लिये कितने ही मन्सबदारों के स्थानीय प्रतिनिधियों को जेल तक की यातनायें दी जाया करती थी।"

और भी आगे चल कर खाफी खाँ ने लिखा कि—"जब इस कटौती का भार मन्सबदारों के लिये असह्य हो उठा तो उन्होंने अपने-अपने वकीलों की मार्फत बादशाह से शिकायत की, किन्तु आख्ता वेगी (अध्यक्ष अस्तवल) ने बादशाह को इस कदर भर दिया था कि इन शिकायतों की कोई सुनवाई नहीं हुई। परेशान हो कर कितने ही वकीलों ने वकालत छोड़ दिया। अन्ततः बहादुर शाह के समय में खान खानान ने तय किया कि जिस समय जागीर दी जानी लगे तभी खूराके दवाब की रकम उनके वेतन में से काट ली जाया करे और अवशिष्ट वेतन के बदले में उन्हें जागीरें दी जाया करें। इस व्यवस्था से इतनी राहत तो मन्सबदारों को मिल गयी कि उनके कन्धे से खूराके दवाब की वसूली का भार हट गया और उनके वकील भी निश्चिन्त हो गये।" वास्तव में बहादुर शाह द्वारा दी गयी इस व्यवस्था ने मन्सबदारों को खूराके दवाब से एक प्रकार की मुक्ति ही दे दी।

एक विशेष स्तर से नीचे के मन्सबदारों से खूराके दवाब नहीं लिया जाता था। नियम था कि यदि कोई कर्मचारी पन्द्रह लाख दाम से कम से कम वेतन प्रतिवर्ष पाता है तो उसके वेतन में से खूराके दवाब के मद की कटौती नहीं करनी चाहिये। प्रयोगात्मक रूप से भी चार सौ के जाती तथा दो सौ सवारी के मन्सबदारों के वेतन में कोई कटौती नहीं की जाती थी। यदि वेतन तालिका को देखा जाय तो इस वर्ग के मन्सबदारों को बीस लाख दाम वार्षिक वेतन मिलता था। यह कटौती कितनी होती थी, इसका पता सरकारी कागजों के सहारे लगा पाना करीब-करीब असम्भव ही है। कहीं-कहीं यह लिखा मिलता है कि यह कटौती प्रति लाख दाम पर होती थी और कहीं-कहीं ऐसा लिखा गया है कि प्रति लाख दाम वेतन के पीछे एक घोड़े तथा पांच हाथियों का खर्च लिया जाता था। इस कटौती में मुसलमानों एवम् हिन्दुओं द्वारा देय धन में अन्तर होता था। कारण चाहे जो भी रहा हो, परन्तु मुसलमानों से

हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक रकम ली जाती थी। इसी प्रकार जो जागीरदार हिन्दुस्तान में जागीरें पाते थे उन्हें उन जागीरदारों की अपेक्षा कुछ कम देना पड़ता था जो दक्षिण तथा अहमदाबाद में जागीरें पाते थे। इस प्रकार के अवसरों के कारण का पता नहीं लगता।

जुर्माने—अब हम जुर्मानों का वर्णन करेंगे, जो कई प्रकार के होते थे, जैसे (१) तफावते अस्प (घोड़ों सम्बन्धी त्रुटि के कारण किया गया जुर्माना), (२) तफावते सिला (सज्जा की त्रुटि के लिये किया गया जुर्माना), (३) तफावते ताबिनान (सैनिकों में त्रुटि होने के कारण किया गया जुर्माना) इस जुर्माने को कमी-ए-बिरादरी भी कहा जाता था, (४) तवक्कुफों आदमें तसहीहा, (यदि सभी चीजों का मिलान ठीक से नहीं किया जाता था तो यह जुर्माना किया जाता था), (५) सकती (आकस्मिक दुर्घटना के कारण) तथा (६) बरतरफी (अस्वीकृतियों के कारण)।

तफावते अस्प—इसका शाब्दिक अर्थ है घोड़ों का अन्तर तथा इससे यह समझा जाता था कि मन्सबदार ने उस नस्ल तथा ऊँचाई के घोड़े नहीं रक्खे, जिस नस्ल और ऊँचाई के घोड़े उसे रखने चाहिये थे। आगे चलकर दागने की व्यवस्था का वर्णन करते समय इस विषय का विस्तृत वर्णन किया जायगा। परम्परा ऐसी थी कि प्रत्येक मन्सबदार द्वारा रक्खे जाने योग्य घोड़ों की संख्या, उनकी नस्ल तथा उनकी ऊँचाई निश्चित रहती थी और यदि निरीक्षण के समय यह पाया जाता था कि मन्सबदार ने इस नियम का पूर्णतः या आंशिक उल्लंघन किया है तो उस पर इस मद के अन्तर्गत जुर्माना किया जाता था। दागने की प्रथा का विवरण प्रस्तुत करते समय हम इस सम्बन्ध के आँकड़े देने का प्रयत्न करेंगे।

तफावते सिला—प्रत्येक सैनिक के लिये शस्त्र व सज्जा का एक सामान्य स्तर रक्खा गया था। यदि निरीक्षण के समय सज्जा में कमी या खराबी पायी जाती थी तो जुर्माना किया जाता था, जिसके विषय में ज्ञातव्य बातें विस्तृत रूप से उस अध्याय में जायँगी, जिसमें साजसज्जा का विषय प्रस्तुत किया जायगा।

तफावते ताबिनान या कमी-ए-बिरादरी—जैसा पहले अध्याय में कहा जा चुका है कि प्रत्येक बड़े मन्सबदार के लिये आवश्यक था कि वह निश्चित संख्या में पैदल सैनिक या सवार रक्खे। निरीक्षण के समय जुर्माना यदि ताबिनान की संख्या में कमी पायी जाती थी तो इस मद के अन्तर्गत जुर्माना किया जाता था। बृटिश म्यूजियम की पुस्तक संख्या १६४१ के अनुसार मुझे ऐसा मालूम होता है कि ये जुर्माने मन्सबदारों पर तो होते थे, शायद अहदियों पर भी होते थे और प्रति कम सैनिक के लिये यह जुर्माना ा सिक वेतन में से काट लिया जाता था, यद्यपि इस सम्बन्ध के वर्णनों में अस्पष्टतया बहुत है। :—

	साल में जितने महीनों की तनख्वाह ली गयी				
	चार माह	पाँच माह	छः माह	सात माह	आठ माह
	रु०आ०पा०	रु०आ०पा०	रु०आ०पा०	रु०आ०पा०	रु०आ०पा०
जुर्माने की रकम रुपयों में	२—८—०	३—०—०	४—०—०	७—०—०	८—०—०

एक दूसरे अनुच्छेद में इस विषय को इस प्रकार समझाया गया है कि औरंगजेब के शासन के इक्कीसवें वर्ष में शाहन्शाह ने इस विषय पर विस्तृत रिपोर्ट मांगी। प्रस्तुत रिपोर्ट को बादशाह ने स्वयम् देखा और उसने व्यवस्था दी कि प्रति तीसरे महीने में मन्सबदार लोग अपनी-अपनी बिरादरी (रिश्तेदार या परिवार) की सूचना दें। इस सूचना के पाने पर बादशाह स्वयम् तीन माह की तनख्वाह पास कर देता था। परन्तु तेईसवें वर्ष केरबी-उल-अव्वल महीने में ही यह अवधि घटा कर दो महीने कर दी गयी और जो लोग इस दोमाही सूचना के अनुसार अनुपस्थित पाये जाते थे, उनको आधे वेतन की ही स्वीकृति प्रदान की जाती थी।

अहशाम—जहाँ तक अहशाम या पैदल तथा तोपचियों का प्रश्न है, इस विषय को निश्चित रूप से स्पष्ट करने वाली सामग्री का पूर्ण अभाव है। इस वर्ग के अधिकारियों की तीन श्रेणियाँ हुआ करती थी। प्रथम श्रेणी में हजारी लोग होते थे, जिनके अधीनस्थ सैनिकों की संख्या एक हजार हुआ करती थी। द्वितीय श्रेणी में सदीवाल लोग होते थे जिनके कमाराड में सौ सैनिक रहते थे तृतीय श्रेणी मीरदहा लोगों की होती थी, जो दस सैनिकों के नायक होते थे। प्रथम श्रेणी के लोगों की अधीनस्थ सेना में आवश्यक रूप से घुड़सवार ही होते थे। द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों की अधीन सेना में भी घुड़सवार होते थे पर सभी नहीं। ये सवार एक अस्पह (एक घोड़े) वाले) भी हो सकते थे और दुअस्पह (दो घोड़ों वाले) भी। उपरोक्त वर्गीकरण के अनुसार हमें निम्न प्रकार की वेतन व्यवस्था पर विश्वास करना पड़ता है।

दो अस्पह सवार—जब एक हजारी के पास, अपने निजी सैनिकों को मिलाजुला कर १०० के पीछे सवारों की संख्या पूरी १०० रहती थी, उन्हें अस्पह सवारों के लिए निर्धारित दर से ही वेतन मिलता था। परन्तु यदि पूर्व निश्चित १०० की संख्या के पीछे ५० से भी कम सिपाही रहते तो ऐसे हजारी को एक सवार सादीवाल के दर्जे के दर पर वेतन मिलता था और जब ऐसे सादीवाल निश्चित संख्या एवं स्तर को पूरा कर लेते थे तभी उन्हें फिर दुअस्पह सवारों के दर पर वेतन मिल पाता था।

एक अस्पह—यदि खास सिपाहियों को लेकर १०० के पीछे ५० सैनिक भी होते, तो उन्हें पूरी तनख्वाह दी जाती थी, परन्तु यदि १०० के पीछे ३१ से भी कम सैनिक होते तो ऐसे हजारी की सादीवाल प्यादा (बिना घुड़सवारों का सादीवाल) के दर्जे के अनुसार घटी हुई दर पर वेतन दिया जाता था साथ ही कुछ अन्य कटौतियां भी की जाती थीं।

प्यादा (बिना घोड़े का अधिकारी)—यदि कोई सादीवाल अपने लिए निश्चित १०० की संख्या में से ३१ सैनिकों से कम रखता था, उसे केवल खाद्यसामग्री दी जाती थी। जब उसके सैनिकों के संख्या ३१ से ऊपर हो जाती थी तो वह मीरदहा के दर्जे के अनुसार वेतन प्राप्त करता था जब तक कि उसकी १०० की नियत संख्या पूरी नहीं हो जाती थी।

मीरदहा—मीरदहा केवल दो सैनिकों को कवायद कराने पर भी अपना वेतन प्राप्त कर सकता था, परन्तु यदि निरीक्षण होने पर कवायद (परेड) में केवल एक ही सैनिक मिलता था तो मीरदहा के वेतन में कटौती कर दी जाती थी। इस कटौती की रकम कितनी थी, इस विषय में मैं अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कह सकता, फिर भी मेरे विचार से कटौती की दर में कुछ विभिन्नता थी और प्रायः हर सैनिक के पीछे एक आने से ३ आने तक की कटौती होती थी।

तवक्कफए तशहीहा—घोड़ों को दागने एवं मिलान करने के नियम आगे यथावसर दिए गए हैं। यदि एक निश्चित समय के भीतर यह कार्य नहीं हो जाता था तो देरी करने के लिए उसकी शिकायत होती थी और तब मन्सबदार की पूरी तनख्वाह तथा अहदी की तनख्वाह में से आधा काट लिया जाता था। (बृटिशम्यूजियम पुस्तक-संख्या १६४१)।

सकती और बरतरफी—इनमें से पहला शब्द 'सकत शूदन' से बना है जिसका अर्थ है मरना (जानवरों पर लागू होता है—देखिए स्टीनगैस ६८७) और यहाँ इसका अर्थ मृतक घोड़ों की संख्या हो सकता है। दूसरे शब्द का अर्थ है किसी चीज को चुनना या छांट देना; या दूसरे शब्दों में किसी घोड़े को नाकाबिल करार देना। सकती के रिवाज की नींव हमें आईने-ए-अकबरी (ब्लाकमैन भाग १, पृष्ठ २५०) में देखने को मिलती है। बाद में तनख्वाह निश्चित करने के निम्नलिखित नियम थे :—सर्वप्रथम यह देखा जाता था कि वह सिपाही दुअस्पह (दो घोड़ों के लिए वेतन पानेवाला) था या एक एक अस्पह (एक घोड़े का व्यय प्राप्त करने वाला) था। दुअस्पह के मुआमले में (१) यदि एक घोड़ा मर जाता था (सकत शब्द) या नाकाबिल करार दे दिया जाता था (बरतरफशुद) तो उसे एक अस्पह के दर पर ही वेतन मिलता था, (२) यदि दोनों घोड़े मर जाते थे या बेकार हो जाते थे तो उसे एक महीने तक उसका व्यक्तिगत वेतन प्राप्त होता था और यदि एक महीने के भीतर

उसने घोड़ा न रख लिया तो उसका व्यक्तिगत वेतन भी बन्द हो जाता था। एक अस्पह के मुआमले में शर्त थी कि यदि घोड़ा नहीं रह जाता था तो एक महीने तक उसे वेतन मिलता था और एक महीने बाद भी वगैर घोड़े के रहने या उसे कुछ भी नहीं दिया जाता था। (बृटिश म्यूजियम पुस्तक संख्या १६४१)।

यदि हेडक्वार्टर पर ही किसी अहदी का घोड़ा मर जाता था, तो सकती की जाँच करने वाला मुन्शी इस बात की सनद बना देता था, जिसे सकतनामा कहते थे और इसी सकतनामें के अनुसार ही उस अहदी को वेतन मिलता था। यदि अहदी कहीं बाहर गया रहता और तब उसका घोड़ा मर जाता था तो दाग और घोड़े की पूँछ हेडक्वार्टर पर भेजना पड़ता था। (ब्रि० म्यू० पुस्तक संख्या १६२१)।

सैनिकों की तनख्वाह पर असर डालने वाली अन्य बातें—इनमें से निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं। (१) गैर हाजरी, (२) बीमारी, (३) रुखसत (आकस्मिक अवकाश), (४) फरारी, (५) बरतरफी, (निकाल दिया जाना या इस्तीफा), (६) पेनशन, (७) फौती (मृत्यु)।

१—गैर हाजिरी—यदि कोई व्यक्ति लगातार तीन बार अपनी वारी पर चौकी पर अनुपस्थित रहता था, तो उसकी तनख्वाह काट ली जाती थी, परन्तु यदि वह अपनी ड्यूटी पर चौथी बार भी अनुपस्थित रहता था तो उसे नौकरी से निकाल दिया जाता था और उसकी सारी बकाया तनख्वाह जब्त कर ली जाती थी। जब कोई व्यक्ति रात में या हाजिरी लेते समय चौकी से गैरहाजिर रहता था तो उसकी एक दिन की तनख्वाह कट जाती थी। यदि कोई व्यक्ति वादशाह द्वारा सम्पादित किसी सार्वजनिक समारोह से या ईद जैसे त्यौहार के समारोह से में अनुपस्थित हो जाता था तो उसकी आधे दिन की तनख्वाह कटती थी। (ब्रिटिश म्यूजियम की पुस्तक संख्या १६४१)।

२—बीमारी—यदि कोई आदमी बीमारी की वजह से लगातार तीन वारी तक चौकी से गैर हाजिर रहता था तो कोई जुर्माना नहीं होता था परन्तु इससे अधिक गैरहाजिरी पर तनख्वाह रोक ली जाती थी और उससे किसी हकीम की सनद (बीमारी नामा) पेश करने के लिये कहा जाता था (ब्रि०म्यू० की पुस्तक संख्या १६४१)। परन्तु ब्रि० म्यू० की पुस्तक सं० ६५९६ में यह नियम कुछ दूसरी तरह ही बयान किया गया है।

३—रुखसत —जो व्यक्ति अपनी ड्यूटी छोड़कर किसी निजी कार्य से बाहर चले जाते थे, वे वेतन नहीं पाते थे (ब्रि० म्यू० १६४१) इसी पुस्तक में दूसरे स्थान पर हम इससे भिन्न वर्णन भी पाते हैं। इस वर्णन के अनुसार ऐसे व्यक्ति को एक महीने तक आधी तनख्वाह मिलती थी, यदि वह मन्जूर की गई हुई से अधिक समय तक बाहर रह जाता था तो उसे वेतन का १।५ या १।१० ही मिलता था और यदि वह तीन महीने तक बिला किसी सूचना के बाहर रह जाता था तो उसे

फरारी मान लिया जाता था। किसी पारिवारिक समारोह या शोक के अवसर पर केवल एक वारी (टर्न) के लिये छुट्टी मन्जूर की जाती थी और यदि वह इससे अधिक समय तक गैर हाजिर रह जाता था तो उसका वेतन काट लिया जाता था (ब्रि० म्यू० १६४१)। इसी पुस्तक में एक नियम और दिया गया है जिसका अर्थ स्पष्ठ नहीं है। इस नियम के अनुसार छुट्टी लेने वाले व्यक्ति को दो महीने की बकाया तनख्वाह दी जाती थी, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह बकाया छुट्टी लेने के पहले का बकाया होता था या उसकी अनुपस्थिति में उसका अर्जित बकाया होता था।

४—फरारी—यदि अहशाम से सम्बन्धित का कोई व्यक्ति अपनी पूरी तनख्वाह ले लेने के बाद नौकरी छोड़ देता था तो तनख्वाह के विवरण (कब्जा) के हाशिये पर वापस ले ली जाने वाली रकम के रूप में इस रकम को अंकित कर लिया जाता था और उस व्यक्ति के जमानतदार से एक महीने का वेतन वसूल कर लिया जाता था। यदि कोई रंगरूट अग्रिम वेतन ले कर फरार हो जाता था तो उससे सारा अग्रिम वेतन वापस ले लिया जाता था, परन्तु एक महीने का वेतन उसे दिया जाता था। जब कोई मशालची एक सरदार की अधीनता छोड़ कर किसी दूसरे सरदार की अधीनता में चला जाता था तो उसकी आधी तनख्वाह काट ली जाती थी (नीम-माहा)। परन्तु यदि यह खबर मिलती थी कि किसी मीरदहा या सादीवाल ने स्वयं ही उसे अपने पास बुलाया है तो यह जुर्माना उसी अधिकारी से वसूल किया जाता था (ब्रि० म्यू० १६४१)। अन्तिम पहिचान की तारीख तक फरार व्यक्ति का वेतन जोड़ा जाता था और उनको तीन मास का समय दिया जाता था, मेरे विचार से इसका अर्थ यह है कि यदि वे चाहते तो तीन मास की अवधि के लिये भीतर लौट भी सकते थे। यदि वे वापस भी लौट आते थे तो उनकी अनुपस्थिति की अवधि के लिये उन्हें केवल खुराक भर मन्जूर होती थी।

५—बरतरफी :—यदि कोई बर्खास्त किया हुआ मन्सबदार अपनी सही-सही पहचान का सबूत पेश कर सके तो वह अपनी जात की दर का आधा वेतन तथा घुड़सवारों (ताबिनान) का पूरा वेतन प्राप्त करता था। मशालची अपने बर्खास्त किये जाने की तारीख तक का पूरा वेतन पाते थे। (ब्रि० म्यू० १८४१)

६—पेन्शन—जहाँ तक मेरा विचार है, कि पेन्शन के कोई निश्चित नियम नहीं थे और न तो पेन्शन को अधिकार मान कर वृद्धावस्था में गुजारे की माँग ही की जा सकती थी। जब कोई व्यक्ति अधिक उम्र के कारण शाही खिदमत और मुलाजिमत से अवकाश ग्रहण करता था तो प्रायः उसे कुछ दैनिक या वार्षिक भत्ता गुजारे के रूप में दिया जाता था। जब बहादुरशाह के शासन काल में निजामुल-मुल्क ने अपने सभी हकों से इस्तीफा देकर अवकाश ग्रहण कर लिया तो उसे इस

तरह का गुजारा दिया गया था। परन्तु साधारणतः किसी व्यक्ति के वृद्ध हो जाने पर उसे निर्विघ्न रूप से अपनी जागीर को अपने अधिकार में रखने दिया जाता था।

७—फौती—ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्यु के विषय में कुछ भिन्न नियम था। यदि शाही खिदमत करते हुए उस व्यक्ति की मृत्यु हो जाती थी तो उसके उत्तराधिकारी को उसकी पूरी तनखाह दी जाती थी। परन्तु यदि उस व्यक्ति की मृत्यु कुदरती तौर पर (स्वाभाविक रूप से) होती थी तो उसके उत्तराधिकारी को उस व्यक्ति की आधी तनखाह ही मिलती थी। वारिस को मृतक व्यक्ति की तनखाह प्राप्त करने के लिये काजी द्वारा प्रमाणित एक वारिस-नामा पेश करना पड़ता था।

तीसरा अध्याय

पारितोषिक एवं पदवियां

किसी पदवी या पारितोषिक की आशा एक ऐसी चीज है जिसे प्रायः सभी संस्थाएँ अपने कर्मचारियों की कार्यक्षमता बढ़ाने तथा उनसे अधिकतम कार्य कराने के लिये प्रयोग करती हैं। यूरोप के देशों में तथा इंगलैण्ड आदि में मेडल्स, क्रास, या लॉर्ड नाइट आदि पदवियाँ प्रचलित हैं। मुगल शासक इस विषय में और भी चतुर थे। उन्होंने बिल्कुल बेकार की चीजों पर खिताब (पदवी) का कुछ इतना चमकीला रोगन चढ़ा दिया था कि उन्हें प्राप्त करने के लिए लोग एड़ी चोटी का पसीना एक कर देतें थे। इस तरह के इनामों और खिताबों में से प्रमुख निम्नलिखित हैं। (१) खिताब (२) खिलअत (सम्मानसूचक वस्त्र) (३) धन या वस्तुऐं (४) नक्कारा और नौबत (५) झन्डे और बिल्ले (बैजेज)।

१—खिताब—पदवियों से सम्मानित करने का ढंग बहुत ही क्रमबद्ध तथा कठोरता से पालन किये जाने वाले नियमों पर आधारित था। यह विषय सामान्य शासन व्यवस्था से सम्बन्धित है और इसका अधिक विस्तृत वर्णन यहाँ आवश्यक नहीं है। पदवियों की पहली सीढ़ी 'खान' से प्रारम्भ होती है जो कि खिताब पाने वाले व्यक्ति के नाम के आगे जोड़ दिया जाता था। इसके पश्चात दूसरी श्रेणी में किसी व्यक्ति के किसी विशेष गुण को भी विशेषण के रूप में 'खान' के साथ जोड़ दिया जाता था, उदाहरण के लिये एक ईमानदार व सच्चरित्र व्यक्ति के लिये 'इखलास खान', एक बढ़िया गोलन्दाज के लिये 'रअद-अन्दाज खान' था किसी मल्लयुद्ध में कुशल व्यक्ति के लिये, 'एकाताज खान'। इन्हीं पदवियों के अगल-बगल समय-समय पर मिलने वाली अन्य पदवियाँ भी जुड़ती रहती थीं। जैसे-जैसे साम्राज्य की शक्ति घटती गई इन पदवियों की संख्या और शान भी बढ़ती गई और मुगलवंश के अन्त तक इन गुण वाचक पदवियों तथा पदवियों को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के गुणों में इतना अधिक अन्तर दिखाई पड़ने लगा कि कभी ये खिताब उन व्यक्तियों का मजाक उड़ाते से प्रतीत होते थे। परन्तु फिर भी वे खिताब न तो निराधार ही दे दिये जाते थे और न तो कोई व्यक्ति उन्हें स्वेच्छा से ग्रहण ही कर सकता था। इसके बावजूद मैंने हाल ही में एक विख्यात इतिहासकार द्वारा लिखित भारत के इतिहास

में पढ़ा है कि बंगाल का एक सूबेदार खिताबों की वजह से वह अपने को 'मुर्शिद कुली खान लिखता था।

२—खिलअत—(सम्मानजनक वस्त्र) खिलअत देने का नियम केवल सेना से ही सम्बन्धित नहीं था। दरबार में बैठने वाले सभी लोगों को खिलअत दी जाती थी। खिलअत की पांच श्रेणियाँ थी। (१) तीन वस्त्र खण्डों वाली, (२) पाँच वस्त्र-खण्डों वाली, (३) छः वस्त्र खण्डों वाली, (४) सात वस्त्र-खण्डों वाली, (५) किसी व्यक्ति पर विशेष कृपा रखने की अभिव्यक्ति के लिये स्वयं बादशाह द्वारा पहना हुआ वस्त्र (मलबस-ए खास) खिलअत के रूप में किसी को दिया जाता था। ये वस्त्र खिलअत-खोना द्वारा बाँटी जाती थी। तीन वस्त्र-खण्डों वाली खिलअत में एक पगड़ी (दस्तर) एक तरह का लम्बा कोट,(जामा) और कमर के लिये एक कमरबन्द सम्मिलित था। पाँच वस्त्र खण्डों वाली खिलअत तोशखाना से बांटी जाती थी, ऊपर की तीन चीजों के अतिरिक्त एक सरपेंच और एक बालाबन्द (पगड़ी के ऊपर से बाँधने के लिए फीता) भी सम्मिलित है। अगली श्रेणी में आधी आस्तीन का एक कसा हुआ जैकेट भी मिलता था। टैवर्नियर नामक एक यूरोपीय लेखक ने एक सात-वस्त्र-खण्ड वाली खिलअत के वस्त्र-खण्डों का वर्णन किया है जो इस प्रकार है (१) एक टोपी (२) एक लम्बा लबादा (काबा), (३) एक कसा हुआ कोट (अरकलन) जिसे कि, मेरे विचार से 'अलखालिक' होना चाहिये, (४) दो जोड़े पायजामे, (५) दो कमीजें, (६) दो पेटियाँ, (७) सर या गले में बाँधने के लिए वस्त्र खण्ड।

३—धन के अतिरिक्त अन्य इनाम में दी जाने वाली वस्तुएँ :—स्पष्टतः ऐसी वस्तुओं की किस्म अगणित हो सकती थी। बहादुरशाह के शासनकाल के दो वर्षों (१७०८-१७१०) की अवधि से सम्बन्धित दानिशमन्द खान के इतिहास से मैंने निम्नलिखित सूची बनाई है—मोतियों के आभूषण हथियार-मुख्यतः तलवार और खंजर (जिनकी मूठें मोतियों से सजी होती थीं) सोने की पत्तियों तथा हीरों से मढ़ी हुई पालकियाँ, हीरे मोतियों से सजे हुए साजसज्जा के साथ घोड़े तथा हाथी। इन वस्तुओं के क्रम से पता लगता है कि धीरे-धीरे नीचे से ऊपर बढ़ते समय इन इनामों वस्तुओं की कीमत बढ़ती जाती थी। प्रारम्भ की कम कीमत की वस्तुओं का महत्व भी कम होता था और प्रायः हीरे मोती से जड़ी हुई मूठों वाली तलवारें और खंजर दिये जाते थे।

४—नक्कारा :—जब बादशाह सेना के साथ कूच करता था तो सम्मान प्रदर्शित करने के लिये सेना के आगे-आगे नक्कारे बजाये जाते थे। उसकी छावनी के फाटक पर भी हर तीसरे घन्टे के बाद नक्कारे बजाये जाते थे। नक्कारे के साथ बजाये जाने वाले अन्य वाद्य यंत्रों का विवरण आईने-ए-अकबरी (ब्लाकमैन का अनुवाद,

भाग १, पृष्ठ ५१) किसी भी व्यक्ति को सम्मानित करने के लिए नक्कारा ❀ रखने तथा उसे बजाने का अधिकार कि (नौबत) दिया जा सकता था। परन्तु यह सम्मान पाने वाले व्यक्ति को कम से कम २००० या उससे अधिक सवारों का सरदार होना आवश्यक था। नक्कारे के लिये एक शर्त यह भी थी कि न तो बादशाह की उपस्थिति में नक्कारा बजाया जाय और न बादशाह के निवास स्थान के पास बजाया जाय। जब १७१६ ई० में बादशाह फर्रुखसियर को गद्दी से उतारने के इरादे से सैयद हुसेन अमी-उल-उमरा दक्षिण से आया तो बादशाह की शक्ति को चुनौती देने के लिये ऊपर लिखे हुए नियम व शर्त की उपेक्षा करते हुए उसने दिल्ली की सड़कों पर व गलियों में नक्कारे बजवाये थे। जिस व्यक्ति को नक्कारा रखने का सम्मान प्राप्त होता था, उसकी पीठ पर छोटे आकार के नक्कारे रख दिये जाते थे। जिन्हें वह सार्वजनिक सभा में बजाकर बादशाह के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता था। लार्ड लेक ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—"जिस व्यक्ति को यह इज्जत बख्शी जाती थी उसके गले में चाँदी की खोल में चमड़े से बने हुए दो छोटे-छोटे नक्कारे पहना दिये जाते हैं, जिन्हें वह थोड़ी देर तक बजाता है और बाद में उसे उचित आकार के नक्कारे बनवा कर दे दिये जाते थे।" (थार्न, 'वार', ३५६) इस तरह के छोटे आकार के नक्कारों के प्रयोग का विवरण (चिन्ह या संकेत के रूप में) एक स्थान पर और मिलता है। फर्रुखाबाद के बंगश अहमद खान के प्रिय चेले दायम खान की नौबत का अधिकार देते समय अहमद शाह (१७४८-१७५४) ने दायम खाँ को इस तरह के छोटे नक्कारे दिया था। ('बंगश नवाब' जरनल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, १८७६, पृ० १६१)

५—झन्डे और बिल्ले (बैजेज) :—झन्डों और बिल्लों को, जिन्हें अतिरिक्त अस्त्रों के साथ दरबार-ए-आम के दरवाजे पर या बादशाह की छावनी के प्रवेश द्वार पर सजाया जाता था या जिन्हें हाथी पर सजा कर बादशाह के समक्ष सामूहिक रूप से ले जाया जाता था, उन्हें सामूहिक रूप से 'कूर' कहते थे और इसका प्रबन्ध एक ज़िम्मेदार हाकिम के अधीन रहता था जिसे 'कूर-बेगी' कहा जाता था। इस हाकिम के लिये प्रायः 'माही-ओ-मरातिब' या कभी-कभी 'पंजा' शब्द का प्रयोग भी किया जाता था। गैमेली द्वारा दिया हुआ यह वर्णन सम्भवतः कूर के विषय में ही है :— छावनी के बाहर मैंने नौ व्यक्तियों को भालों की नोक पर शाही झन्डों तथा अन्य शाही चिन्हों को लिये हुये देखा जो लाल मखमल पर सुनहला काम किये हुये, चौड़ी आस्तीनों वाले तथा झूलते हुये कालर वाले वस्त्र पहने हुए थे। बीच वाले आदमी

❀ खुशहाल चन्द (बर्लिन मैन्यु पृ० ४६५) ने 'कडरवा' शब्द का प्रयोग किया है और स्टीन गैस ने इसे एक बड़ा ड्रम कहा है।

के हाथ के झण्डे में सूर्य बना हुआ था। उसके अगल-बगल के दोनों व्यक्ति के पास सोने से मढ़ी हुई मुठियों वाली तलवार थी। इसके बाद के दो व्यक्ति लालरंग में रंगी हुई घोड़ों की पूँछ लिये हुये थे। अन्य चार व्यक्तियों के भालों पर एक खोल चढ़ी हुई थी और यह नहीं देखा जा सका कि वे क्या लिये हुये थे।

आईन, भाग १, पृष्ठ ५० में ८ शाही चिन्हों का वर्णन किया गया है जिनमें से प्रथम चार चिन्ह पूर्ण रूप से बादशाह के लिये ही प्रयोग किये जाते थे। १—औरंग या सिंहासन (२) छत्र (३) सायबान या आफताबगीर (धूप से बचाव के लिये) (४) कौकबा।

५—अलम या झण्डा (६) छत्र टोक (७) तुमन टोक (८) झण्डा और इसी में हम 'माहीओ-मर्णतिव को भी जोड़ सकते हैं।

इन विभिन्न सांकेतिक चिन्हों की उत्पत्ति तथा उनके अर्थ के सम्बन्ध में 'मीरातुल-इस्तिलाह' में निम्नलिखित विवरण दिया गया है :—

१—पंजा—कहा जाता हे कि पन्जे का मतलब 'अली' के हाथ से है। तैमूर ने धार्मिकता से प्रेरित हो कर इस हाथ को अपने सामने पेश करने का आदेश दिया था। कहा जाता है कि सियाह पोश जाति पर कब्जा पाने के बाद उसे यह हाथ मिला था। सन् १७५३ में जेन्टिल ने सलाबत जंग की घुड़सवार सेना में घोड़ों की पीठ पर इस तरह के चार पन्जे देखे थे, ये पन्जे ताँबे के थे और भाले की नोक पर लगे हुये थे (मेम्वायर्स, ६१)।

२—आलम—कहा जाता है कि यह हुसेन का झण्डा था जिसे तैमूर ने कर्बला में प्राप्त किया था। रूम के कैसर बयजीद के ऊपर विजय प्राप्त होने का सारा श्रेय उसने इसी झण्डे को दिया था।

३—मीजान—इस तराजू के दोनों पल्ले इस बात के संकेत थे कि न्याय की दृष्टि में सभी समान हैं। इस तराजू को नौशेखान-ए-आदिल के स्मृति चिन्ह के रूप में ग्रहण किया गया था। जेन्टिल के 'मेम्वायर्स' में एक प्लेट पर एक चित्र बना हुआ है जो सम्भवत; मीजान का ही है।

४—आफताब—(सूर्य) यह अग्नि पूजकों पर विजय प्राप्त करने के बाद प्राप्त हुआ था, यह मूर्ति अग्निपूजकों द्वारा पूजी जाती थी।

५—६ अजदहा पयकर—सिकन्दर की विजय के बाद से ही हिन्दुस्तान के राजाओं ने अपने मन्दिरों में इस मूर्ति की पूजा करना आरम्भ कर दिया था और जब तैमूर भारत में आया तो यह मूर्ति उसे भेंट में दे दी गई। इसके दो भाग थे। एक भाग बादशाह के आगे और दूसरा उसके पीछे रहता था।

७—माही—(मछली) कहा जाता है कि समुद्री द्वीपों से यह मछली भेंट स्वरूप भेजी गई। थी, उन द्वीपों में यह मछली पूजी जाती थी।

८—कुमकुमा—(स्टीनगैस, ६८१, कटोरा बड़ा बर्तन, एक गोला छत्र, लालटेन) यह भी भारतीय राजाओं द्वारा दिया गया था। आईन-ए-अकबरी भाग १, पृष्ठ ५० में 'कौकबा' शब्द भी इसी के लिये इस्तेमाल किया गया है (देखिये नवीं प्लेट पर दूसरा चित्र) जेन्टिल के 'मेम्वायर्स' में भी एक प्लेट पर इसी तरह का एक चित्र है। स्टीनगैस द्वारा 'कौकबा' की जो परिभाषा दी गई है वह भी आईन के चित्र से मेलखाती है। उसके अनुसार यह एक लम्बे खम्भे से लटकता हुआ रोगन किये हुये इस्पात का एक गेंद है और एक शाही चिन्ह के रूप में बादशाह के सामने ले जाई जाती है। केरेरी बताता है कि उसने दो सुनहले हाथों में एक जन्जीर से लटकता सुनहला गेंद देखा। वह आगे लिखता है कि यह—"एक शाही चिन्ह था जो कि सेना के कूच करते समय हाथी पर ले जाया जाता था।"

कहा जाता है सातों महा द्वीपों (पूरे विश्व) पर बादशाह की विजय के प्रतीक के रूप में ये शाही चिन्ह बादशाह के सामने पेश किये जाते थे।

माहीओ-मरातिब :—इस महत्वपूर्ण पद व चिन्ह के विषय में कुछ विशेष कहना आवश्यक है। यह चिन्ह एक विशेष सरदार के प्रबन्ध में हाथी या ऊँट पर रख कर ले जाया जाता था। इसका प्रबन्ध रखने की जिम्मेदारी प्राप्त करना एक बहुत ही सम्मानपूर्ण वस्तु थी, इसे प्राप्त करने के लिए उम्मीदार व्यक्ति के लिये कम से कम ६००० सवार और ६००० जात का सरदार होना जरूरी था। (मीरातुल इस्तिला) माही एक प्रकार की मछली का चार फीट लम्बा, ताम्बे से मढ़ा हुआ चित्र होता था और यह भाले की नोक पर टंगा रहता था। स्टीन गैस ने इसे माही-मरातिब लिखा है और 'दो गेंदों तथा मछली के आकार के चिन्ह से सम्मानित करना' ही इसका अर्थ है। पर अन्य लेखकों ने इसे माही-ओ-मरातिब ही लिखा है और मेरे विचार से माही का अर्थ मछली है और मरातिब मछली के साथ दी जाने वाली अन्य वस्तुओं के लिये प्रयोग किया गया है। थार्न ने 'वार' में मरातिब का अर्थ ताम्बे से मढ़ी हुई एक गेंद बताया है जिसके चारों तरफ लगभग दो फीट लम्बाई की एक झालर लगी रहती है, यह एक लम्बे खम्भे पर टिका रहता है और माही की तरह यह भी हाथी पर ही रखा जाता है। क्या गेमेली केरेरी की 'सुनहली गेंद' से इसकी तुलना की जा सकती है? शायद यह वर्ण कुमकुमा के सम्बन्ध में ऊपर दिये हुये वर्णन से मेल खाता है। 'सीरउल मुताखरीन के अनुवादक के अनुसार मछली के साथ ताम्बे के ऊपर जड़ा हुआ मनुष्य के सिर का चित्र भी हमेशा ही रहता था। इस प्रकार मछली तथा गेंदों के साथ, इस अनुवाद के अनुसार इसमें मनुष्य का सिर भी सम्मिलित था। १४ अगस्त १८०४ में लार्ड लेक को भी माही द्वारा सम्मानित

किया गया था जिसमें 'मछली का सिर जड़ाऊ ताम्बे का था और शरीर तथा पूँछ रेशम की, यह एक लम्बी छड़ी में जड़ी हुई थी और एक हाथी पर लाई गई थी (थार्न "वार") जेम्स स्किनर ने राजपूतों द्वारा हुई एक लड़ाई में महादजी सिन्धिया का एक माही-ओ-मरातिब प्राप्त किया था, उसके अनुसार यह पीतल की बनी हुई एक मछली थी जिसकी मूँछों की जगह घोड़े के बाल की चँवरी दोनों ओर लटकी हुई थी (फ्रेजर 'मेम्वायर')। जेन्टिल अपने 'मेम्वायर्स' में माही की परिभाषा केवल 'एक खम्मे पर टिका हुआ मछली का सिर' ही देता है। उसके अनुसार यह प्रतीक इतना दुर्लभ था कि दक्षिण में अपने निवास की अवधि में (१७५२-१७६१) उसे केवल चार माही-ओ-मरातिब देखने को मिले थे।

शेर-मरातिब—यह नाम मुझे केवल जेन्टिल के 'मेम्वायर्स' में देखने को मिला है जिसे उसने दक्षिण के नाजिम सलावत जंग के पास देखा था। इस प्रतीक का सिरनामें शुआ-उद्दौला की स्मृति में समर्पित किया गया है, इसके सिरे पर दो हाथियों के चित्र बने हुये हैं। इनमें से एक हाथी के चित्र पर एक झन्डा लगा है जिस पर एक शेर बना हुआ है, डन्डे के सिरे पर भी शेर का चित्र बना हुआ है।

अलम—सम्भवतः ये झन्डे त्रिकोणाकार के तथा लाल और हरे रंग के थे जिसके ऊपर सुनहले झालर से घिरा हुआ सुनहला चित्र बना रहता था। छड़ी के सिरे पर भी प्रायः झन्डे वाले चित्र ही बने होते थे। जेन्टिल के 'मेम्वायर्स' में एक प्लेट पर इनमें से चार कढ़े हुये प्रतीकों के चित्र बने हुये हैं (१) पंजा (२) किरणों से घिरा हुआ एक मनुष्य का चेहरा (३) शेर (४) मछली झन्डा या अलम प्राप्त करने के लिये किसी भी व्यक्ति का कम से कम १००० सवारों का सरदार होना आवश्यक था।

आफताब-गीरी—(सूर्यमुखी) इसका आकार ताड़ के खुले हुए पंखे की तरह था और इसे सूर्यमुखी भी कहा जाता था। मुगलों के शाही नियमानुसार यह केवल शाहजादों को दिया जा सकता था। (मीरातउल-इस्तिलाह) १८वीं शताब्दी में मराठों ने इसे अपना सामान्य प्रतीक मान लिया और मराठा घुड़सवारों का छोटे से छोटा दल भी अपने साथ सूर्यमुखी लेकर चलता था।

तुमन-तोग :—यह अकबर की 'आईन' में दिये हुये दो तोगो में से एक है और इस आईन की नवीं प्लेट पर इसका चित्र बना हुआ है। यह तोग प्रायः ऊँचे ओहदे वाले हाकिमों को सम्मानित करने के लिये उन्हें दिया जाता था जिसको वे बहुत महत्व देते थे। कैंची के आकार के छड़ों में याक के बालों से बनी हुई तीन पूछों से यह तोग बना होता था जो कि एक लम्बे डन्डे के सिरे पर जड़ा रहता था।

सारांश—इस प्रकार खिताब, धन या कीमती इनामों के अतिरिक्त निम्न-लिखित ढंगों से किसी व्यक्ति को सम्मानित किया जा सकता था। (१) किसी झन्डे को ले चलने का अधिकार देकर (२) याक की पूँछ से बना हुआ झन्डा लेकर चलने का अधिकार दे कर (३) नक्कारे और नौवत बजाने का अधिकार देकर (४) मछली और सम्बन्धित प्रतीकों को देकर (५) सोने की झालरों तथा मोतियों से जड़ी हुई पालकी पर चलने का अधिकार दे कर। वास्तव में ये सभी इनाम आदि बादशाह की मर्जी पर आधारित होते थे, क्योंकि मुगल साम्राज्य में अन्य देशी रियासतों की तरह बयक नुक्ता महरम मुजरिम शव्वाद ? एक ही क्षण में विश्वास पात्र व्यक्ति भी मुजरिम (अपराधी) करार दिया जा सकता था।

चौथा अध्याय

सेना में भर्ती होने का ढंग

ऐसे व्यक्ति जो सेना में नौकरी पाने के उद्देश्य से दरबार में हाजिर होते थे, उन्हें सबसे पहले अपना संरक्षक किसी को बनाना पड़ता था। प्रायः अपनी ही जाति या क्षेत्र के किसी सरदार का संरक्षण ही उन्हें प्राप्त होता था। मुगल सैनिक मुगल सरदार का संरक्षण ढूँढ़ते थे और अफगान सैनिक अफगान सरदार के पीछे चलते थे। इस सम्बन्ध में कुछ नियम भी बनाये गये थे जिनका वर्णन खुशहाल चन्द ने इस प्रकार किया है। मावर-उन-नहर का कोई सरदार केवल मुगलों की भर्ती कर सकता था, ईरान का कोई सरदार केवल १।३ मुगल और शेष सैयदों व शेखों की भरती करता था, यदि वह चाहता तो अपनी टुकड़ी की कुल संख्या के १।६ भाग के बराबर अफगानों और १।७ के बराबर राजपूतों को भी भरती कर सकता था। जो सरदार सैय्यद या शेख होते थे वे अपनी बिरादरी के लोगों को ही भरती कर सकते थे, स्वेच्छा से वे अपनी कुल संख्या के १।६ के बराबर अफगानों को भी भरती कर सकते थे। अफगान सरदार अपनी टुकड़ी में का १।२ भाग अफगानों से तथा शेष १।२ भाग मुगलों एवं शेखजादों की भरती करके अपनी संख्या पूरी कर सकता था। राजपूत सरदार अपनी टुकड़ी में केवल राजपूत सैनिकों को ही भरती करता था। यदि कभी ऊँचे ओहदे वाले सरदार अपनी सेवा बढ़ाना चाहते थे तो वे अपने विशेष क्षेत्र में पर्याप्त धन व्यय करके किसी विशेष श्रेणी के लोगों को आकर्षित कर अपने झण्डे के नीचे कर लेते थे। उदाहरण के लिये मुहम्मद शाह के शासन काल में (१७१६-१७४८) में मुहम्मद खान बंगश ने इसी तरीके से अपनी सेना में बंगश देश के मनुष्यों और अफरीदी पठानों की पर्याप्त संख्या को भर्ती कर लिया था। किसी सरदार की प्रसिद्धि, या उसके सम्बन्ध या उसके सैनिकों की संख्या के आधार पर उसे मन्सब दिया जाता था। उसके अधीनस्थ सैनिक प्रायः अपने घोड़े एवं साज सज्जा के अन्य सामान स्वयं लाते थे, परन्तु कभी-कभी कोई सैनिक या सरदार अपने ही द्रव्य से फालतू घोड़े भी रखते थे जिसे वे अपने सम्बन्धियों के भरती होते समय दे दिया करते थे। जो व्यक्ति अपने निजी घोड़े पर सवार होता था उसे सिलादार और दूसरे के घोड़े पर सवार होने वाले सैनिक को बारगीर कहते थे। प्रायः उधार धन ले कर घोड़े नहीं

खरीदे जाते थे, परन्तु प्रायः सरदार ही साधनहीन सैनिकों को घोड़ा खरीदने के लिये अग्रिम धन दे दिया करते थे, जो बाद में उनके वेतन से काट लिया जाता था।

इस प्रकार किसी व्यक्ति का संरक्षण प्राप्त हो जाने पर सेना में भरती होने का इच्छुक व्यक्ति अपने संरक्षक के जरिये बख्शी-उल-मुमालिक या मीर बख्शी से परिचय प्राप्त करता था। बख्शी ही उनको बादशाह के सामने पेश करता था और प्रायः उसी की सिफारिश के आधार पर बादशाह किसी व्यक्ति को कोई मन्सब देता था।

बख्शी :—इस हाकिम के लिये विभिन्न लेखकों ने विभिन्न अंग्रेजी अनुवाद किये हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं। पेमास्टर जनरल (तनखाह बाँटने वाला अफसर) एडजुटेन्ट जनरल—कमाण्डर—इन—चीफ आदि । (प्रथम दो शब्द ब्लाक मैन के हैं,) परन्तु इनमें से कोई भी शब्द बख्शी के कार्यों का सही वर्णन नहीं करता । वेतन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, सम्बन्ध था भी तो केवल इतना कि वह किसी व्यक्ति के ओहदे मनसब या तरक्की के विषय में बादशाह को राय दिया करता था और सम्भवतः वेतन के मसविदों पर दस्तखत भी करता था। 'एडजुटेन्ट जनरल' शब्द उसके कार्यों की दृष्टि से बख्शी के कुछ अधिक निकट है, परन्तु 'कमाण्डर इन चीफ' तो वह किसी तरह भी नहीं था। उसे सिपहसालार बना कर भेजा जा सकता था और यदि बादशाह, वकीले-मुतलक या वजीर में से एक भी उपस्थित नहीं रहता था तो सैन्य संचालन की जिम्मेदारी उसी के कन्धे पर पड़ती थी। सेना का वास्तविक सेनापति तो स्वयं बादशाह ही था। उसकी अनुपस्थिति में वकील या वजीर यह उत्तर दायित्व सम्भालते थे। 'बख्शी' का शाब्दिक अर्थ होता है देने वाला, उस अर्थ के अनुसार वह सेना और छावनियों में लोगों को नौकरी दिलाने वाला हाकिम था (दस्तूर-उल-इन्शा, पृष्ठ २३२)। मेरे विचार से बख्शी का अर्थ 'अलग-अलग भागों में बाँटना या वितरित करना' भी हो सकता है, और इस अर्थ के अनुसार बख्शी का कार्य किसी वस्तु को बाँटना या वितरित करना हो सकता है। परशिया में इस तरह का कार्य करने वाले हाकिम को आरिज कहा जाता था। इस नाम से यह ज्ञात होता है कि नौकरी ढूढ़ने वाले व्यक्तियों को बादशाह के समक्ष पेश करना तथा ऐसे लोगों के विषय में सभी तथ्यों की खबर बादशाह को देना ही उसका कार्य था। आईन-ए-अकबरी' में सम्भवतः पद के लिये दो स्थानों पर 'मीर-अर्ज' का प्रयोग किया गया है जिसके लिये बाद में 'बख्शी' शब्द का प्रयोग किया गया। दरबार में चार बख्शी होते थे, इसमें से पहले तथा श्रेष्ठ बख्शी को 'अमीर-उल-उमरा' का खिताब मिलता था। आलमगीर के शासन काल में तथा उसके बाद भी यह खिताब एक समय में एक से अधिक व्यक्तियों को दिये जाने का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। यद्यापि अकबर के शासन काल में ऐसा होने का उदाहरण मिलता है। (आईन भाग १ के अनुवाद में ब्लाकमैन के नोट के आधार पर)।

बख्शी-उल-ममालिक के कर्तव्य :—बख्शी के प्रमुख कर्तव्य निम्नलिखित थे, सेना में भर्ती करना, मन्सबदारों की नियुक्तियों की एक सूची रखना और उसमें (१) दरबार के हाकिमों तथा (२) सूबे के हाकिमों का विवरण भी देना, महल की सुरक्षा में नियुक्त टुकड़ी के सैनिकों की बारी (टर्न) का विवरण बनाना, तनख्वाह के विषय में नियम और कायदे बनाना, नकद वेतन पाने वाले अफसरों की सूची रखना, घोड़ों के दागने, पहचानने तथा उनकी गणना का निरीक्षण करना, अनुपस्थित, छुट्टी या मृत, बर्खास्त, अगली तनख्वास पाने वाले सैनिकों, अफसरों से प्राप्त होने वाले अवशिष्ट धन (मुतालिबा) और अफसरों द्वारा पेश की जाने वाली जमानतों इत्यादि के सम्बन्ध में विवरण रखना तथा सूबों में अफसरों के भेजे जाते समय उन्हें लिखित आज्ञा (दस्तक) देना। ❀ किसी बड़े युद्ध की तैयारी के समय सेना के मध्य भाग, अगली पंक्ति, दाहिने बाये तथा पिछली पंक्ति का उत्तरदायित्व विभिन्न सेना-नायकों को सौंपना, बख्शी का एक विशेष कर्तव्य था। किसी भी बड़े और नियोजित युद्ध के प्रारम्भ होने के पहले बख्शी बादशाह के समक्ष अपनी सेना की वर्तमान स्थिति का विवरण प्रस्तुत करता था, साथ ही यह भी बताता था कि प्रत्येक युद्ध पंक्ति के प्रत्येक सेना नायक के साथ कितने सैनिक हैं।

अन्य बख्शी—इस तरह एक प्रथम बख्शी होता था जिसे सामान्यतः अमीर-उल-उमरा का खिताब मिलता था और उसे साधारणतः बख्शी-उल-ममालिक साम्राज्य का बख्शी या मीर बख्शी, (प्रधान बख्शी) कहा जाता था। इस मीर बख्शी के अतिरिक्त तीन अन्य बख्शी भी होते थे जो केन्द्र में हो रहते थे। यह बताना मुश्किल है कि ये तीन बख्शी क्या कार्य करते थे। दूसरे बख्शी को प्रायः बख्शी-उल-मुल्क (राज्य का बख्शी) तथा बख्शी-ए-तन † कहते थे। तन, (शरीर) तनख्वाह (तन = शरीर, ख्वाह = इच्छा, जरूरत) का ही संक्षिप्त रूप है, इसलिये यह माना जा सकता है कि उसका कार्य जागीरों का या वेतन के रूप में जागीरों को सौंपने का विवरण रखना ही था। जिस तरह कि महकमा लगान राजस्व विभाग में इस तरह के वेतन की अदायगी का विवरण रखना दीवान-ए-तन नामक एक विशेष अफसर का कार्य था। परन्तु इस बख्शी के कार्यों का विस्तार में निरीक्षण करने पर (जो कि हम आगे करेंगे,) केवल ऊपर वाली बात को मान लेना उचित नहीं लगता। जो भी हो, परन्तु ऐसा लगता है कि पहले, दूसरे और तीसरे बख्शी के कर्तव्यों का क्षेत्र लगभग वही था। मुख्य अन्तर सम्भवतः यही था कि दूसरा बख्शी छोटे ओहदे वाले व्यक्तियों

❀ दस्तूर-उल-इन्शा पृ० २३२, दस्तूर-उल-अमल ब्रि० म्यू० पृ० सं० ६५६६ और पृ० सं० १६४१।

† दानिशमन्द खाँ १८वां शव्वाल, खाफी खाँ भाग २, यहियां खाँ।

की भरती और तरक्की से सम्बन्ध रखता है जब कि बड़े ओहदों से सम्बन्धित कार्य मीर बख्शी के अधीन था। कुछ ऐसा लगता है कि अफसरों द्वारा भरे जाने वाले सेना सम्बन्धी बाण्ड का विवरण रखना उसी का कार्य था, उस समय शाही सेवा के सभी विभागों में बाण्ड भरने का रिवाज प्रचलित था। उसका दफ्तर सम्भवतः मीर-बख्शी के दफ्तर के विवरणों को चाँज भी करता था, बहुत से कागजातों पर मीर-बख्शी की मुहर के बाद उसकी मुहर भी लगती थी, कुछ अन्य कागजतों की नकलें उसके और मीर बख्शी के सहयोग से बनाई जाती थी। तीसरे बख्शी के कार्यों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है, परन्तु एक बड़ा अन्तर यह था कि वह भरती से सम्बन्धित वही कार्य करता था जो उसके सुपुर्द किया जाता था और वह जो कुछ भी करता था उस पर पहले और दूसरे बख्शी की भी मुहरें लगती थीं। अन्य दो बख्शियों की तुलना में उसके कार्य यद्यपि वही थे, पर छोटे पैमाने पर थे।

दस्तूर-उल-इन्शा (ब्रि० म्यू० सं० १६११) का विस्तृत अध्ययन करने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दूसरे बख्शी का कर्तव्य-क्षेत्र अहदियों से सम्बन्धित था, जो कि बादशाह की निजी खिदमत और हिफाजत के लिये नियुक्त किये जाते थे। परन्तु यह मान लेने पर कठिनाई यह पैदा होती है कि चौथे बख्शी को भी प्रायः अहदियों का बख्शी कहा जाता था, जब कि तीसरे बख्शी को सामान्यतः 'बाला-शाही' का बख्शी कहा जाता था, यह वह टुकड़ी थी जिसके सैनिक स्वयं बादशाह द्वारा नियुक्त किये जाते थे, बादशाह अपनी निजी आय से उनकी तनख्वाह भी देता था। (कामवर खाँ-प्रथम जमादी का लेख, भाग १)।

सूबे के तथा अन्य बख्शी—केन्द्र के इन बख्शियों के अतिरिक्त प्रत्येक सूबेदार के अधीन भी उपरोक्त प्रकार के कार्य करने के लिए इस प्रकार के अफसर नियुक्त किये जाते थे। सूबे के बख्शी के दफ्तर के कार्यों का विवरण लिखने के लिये एक 'वाक़या-निगार' भी रहता था। केन्द्रीय व्यवस्था व शाही सेवा के लिये जो कार्य बख्शी करते थे, उसी कार्य की व्यवस्था करने के लिये प्रायः बड़े-बड़े सामन्त भी बख्शियों की नियुक्ति करते थे।

किसी अफसर की नियुक्ति का ढंग—किसी निश्चित दिन बख्शी बादशाह के सामने पहले से ही तैयार की हुई हकीकत (किसी व्यक्ति के गुण चरित्र का विवरण) पेश करता था। यदि बादशाह उस व्यक्ति की सेवाएँ स्वीकार कर लेता था, तो इस हकीकत के एक भाग पर ही उस व्यक्ति को दरबार में हाजिर होने का हुक्म दिया जाता था। नियत समय पर उम्मीदवार दरबार में हाजिर हो कर बादशाह के समक्ष स्वयं को अदब से पेश करता था। उसकी बारी आने पर उम्मीदवार आगे

लाया जाता था और उसकी नियुक्ति के लिये आखिरी हुक्म दिया जाता था। हकीकत तथा उस पर लिखे जाने वाले आदेशों का नमूना नीचे दिया जाता है।

"अर्ज किया जाता है कि अमुक वल्द अमुक, शाही खिदमत में जगह पाने के नेक इरादे से शाहे हिन्दुस्तान के दरबार में हुजूर-ए-आला की कदमबोसी के लिए हाजिर हुआ है। उसके बारे में शाहे-आजम का क्या हुक्म होता है?"

(पहला हुक्म) बादशाह का नेक, पाक और बुलन्द हुक्म होता है कि वह शख्स माबदौलत के हुजूर में पेश किया जाय और उसे उसकी काबिलियत के लिहाज से शाही खिदमत करने का मौका दिया जायगा।

(दो तीन बाद दूसरा हुक्म) आज अमुक शख्स शहन्शाह के हुजूर में पेश हुआ, उसे १००० और २०० (सवार) की मनसब के लिये चुन लिया गया।

इसके पश्चात् बख्शी के दफ्तर से उसे एक प्रमाण पत्र (तसदीक) दिया जाता था जिस पर बख्शी अपना हुक्म लिखता था। यह हुक्म इस प्रकार होता था :—

तसदीक

किया जाता है कि अमुक वल्द अमुक, फला वर्ष की अमुक तारीख को इस दरबार की खिदमत करने के इरादे से शहन्शाह के पाक दरबार में आया और शाही नजर के सामने से गुजरा। बादशाह का हुक्म जिसके आगे तमाम जहान सर झुकाता है—हुआ है कि उसे १००० और दो सौ सवारों की मनसब दी जाय।

१००० जात
२०० सवार

(इस पर बख्शी का भी हुक्म होता था) इस हुक्मनामें को 'वाकिया' में दर्ज किया जाय।

जब यह तसदीक वाकिया निगार के दफ्तर में पहुँचती थी तो वह अपने 'वाकिया' (रजिस्टर) में इसे दर्ज कर लेता था और इसी के आधार पर एक मसविदा तैयार करता था जिसे याददाश्त (स्मृति-पत्र) कहा जाता था। इस याददाश्त का रूप इस प्रकार था :—

याददाश्त

तारीख...दिन...महीना...वर्ष को शाहे आलम, महान विजेता, बहादुरों की कद्र करने वाले बादशाह के साम्राज्य के अमुक बख्शी के हुक्म से महकमा-ए-रिसाला में इस शाही गुलाम द्वारा वाकिया में दर्ज किया गया कि अमुक वल्द अमुक शहन्शाह के पाक दरबार की खिदमत करने के नेक इरादे से शाहे-आलम के हुजूर में पेश हुआ। तमाम जहान पर हुकूमत करने वाले शहन्शाह द्वारा हुक्म दिय

गया कि उसे १००० जात और २०० सवार की मन्सब दी जाय और मन्सबदारान की सूची में उसका नाम भी दर्ज किया जाय। अमुक तारीख को तसदीक के अनुसार यह याददाश्त कलम बन्द की गई।

१००० जात
२०० सवार

१—(वजीर का हुक्म)

'वाकिया' से इसका मिलान करने के बाद इसे अर्ज-ए-मुकर्रर (दुहराने वाला दफ्तर) में भेज दिया जाय।

२—(वाकिया निगार की तसदीक)

वाकिया के बयान से मिलता है।

३—(अर्ज-ए-मुकर्रर का आदेश)

तारीख···दिन···महीना···वर्ष को यह कागज दुहराने के लिये इस दफ्तर में पेश हुआ।

ऊपर वाले नमूने के अन्तिम भाग की सूचनाओं से हमें आईन में उल्लेख किये गये 'तलीका' शब्द के विषय में भी संकेत मिलता हैं जो सम्भवतः 'याददाश्त' का संक्षिप्त रूप था। सम्बन्धित अफसर के पास भेजे जाते समय इस हुक्म का जो रूप होता था, उसी को तलीका कहते थे (आईन भाग १ पृष्ठ २२५)। इस अर्थ में 'तलीका' शब्द का प्रयोग ११२७ हिजरी (१७१६ ई०) तक मिलता है, उदाहरण के लिये सैयद अब्दुल जलील बिलग्रामी ने दिल्ली से अपने पुत्र को लिखे गये पत्रों में 'तलीका' शब्द का प्रयोग किया है और ये पत्र १७१६ में लिखे गये थे। ('ओरिएन्टल मिसेलेनी' कलकत्ता १७६८)।

अहदी—अहदी की स्थिति एक तरफ मन्सबदारों और उनके साथ के सवारों (ताबिनान) तथा दूसरी ओर अहशाम या पैदल सेना, तोपखाना और अन्य उपविभागों के सैनिको के बीच में थी। अहदी का शाब्दिक अर्थ होता है 'अकेला' (अहद-एक)। यह समझना मुश्किल नहीं है कि उन्हें यह नाम क्यों दिया गया, वे अपने एक कर्तव्यों के लिये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी थे क्योंकि वे किसी सरदार या मनसबदार के अधीन नहीं होते थे और इस तरह वे ताबिनान से भिन्न एक श्रेणी बनाते थे। परन्तु दूसरी तरफ वे घुड़सवार थे और इस तरह अहशाम के उपविभागों के सैनिकों से भिन्न थे। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर सेवा करने के कारण उन्हें अहदी कहा जाता है—"कि स्वयं बादशाह ही उनका एकमात्र नायक होता था।" (सीर भाग १ पृष्ठ २६२)। हार्न के कथनानुसार अहदी एक प्रकार से बादशाह के निजी रक्षक (बाडीगार्ड) थे, कुछ दृष्टियों से इस विचार को उचित माना जा सकता है, यद्यपि मेरे विचार से उनके लिए इस तरह का कोई नाम अलग से नहीं

रक्खा गया था। अकबर के शासन काल में सर्व प्रथम अहदियों के संगठन की नींव बनी, यह बात आईन के दूसरे भाग से स्पष्ट हो जाती है। मुख्य रूप से उन लोगों को जो सदैव बादशाह की सुरक्षा की दृष्टि से सदैव उसके साथ रहते थे, बाला-शाही (महान बादशाह के अनुचर) कहा जाता था और मेरे विचार से वे चार हजार मनुष्य इसी श्रेणी के थे जिनका मनूसी ने 'बादशाह के गुलामो' के नाम से वर्णन किया है ('कात्रू' १८५६ का अनुवाद पृ० २६७)। चाहे वे गुलाम रहे हो या न रहे हों, परन्तु वे बादशाह के अधिकतम विश्वस्त सैनिक थे। मुझे कई स्रोतों एवम् सूत्रों से पता लगा है कि 'बाला-शाही' के सैनिक प्रायः बचपन से ही होने वाले बादशाह के साथ सम्बन्धित होते थे और जब वह बादशाह हो जाता था तो उसके बचपन के ये साथी एक घरेलू आधार पर टुकड़ी के रूप में संगठित हो जाते थे एवं सदैव बादशाह की रक्षा में तत्पर रहते थे। यसावल या महल की सुरक्षा पर नियुक्त सैनिक भी कुछ दृष्टियों से बाला-शाही की श्रेणी के होते थे, विशेष कर इसलिये कि यसावल भी बादशाह की व्यक्तिगत सुरक्षा के लिये बाला-शाही के सैनिकों की तरह ही जिम्मेदार होते थे, पर बालाशाही की भाति वे सदैव बादशाह के साथ ही नहीं रहते थे। सामान्य सैनिकों की अपेक्षा अहदी ऊँची तनख्वाहें प्राप्त करते थे। एक स्थान पर मैंने स्पष्ट पढ़ा है कि उस समय इनके वेतन का दर क्या था। अपने शासन काल के द्वितीय वर्ष के दूसरे सफर में (११२० हिजरी २२ अप्रैल, १७०८), दानिशमन्द खाँ के अनुसार बहादुर शाह ने ४० रु० प्रति मास के दर पर ४७०० अतिरिक्त अहदियों की नियुक्ति का आदेश दिया था और यह उनका भुगतान करने की व्यवस्था शाही खजाने के अधीन थी। 'सीर' भाग १ के अनुसार १८ वीं शताब्दी के अन्त तक इन सैनिकों की संख्या लगभग ४०,००० तक हो गई थी जिनमें से सभी सवार थे परन्तु किले में और महल के आस-पास पैदल ही सेवा करते थे। अहदियों के अलावा इनमें कई अन्य उपविभाग भी थे जैसे सुर्ख पोश (लालवर्दी वाले), सुल्तान (शाही) वाला शाही, कम्बल पोश। परन्तु हाजी मुस्तफा स्वयं ही अपने विचार पर दृढ़ नहीं है क्योंकि 'सीर' भाग १ में आला-शाही नामक एक अन्य टुकड़ी का उल्लेख करते हुये उसने कहा है कि सुर्ख-पोश टुकड़ी पैदल सैनिकों की थी जिनकी संख्या ८००० थी।

———

पांचवां अध्याय

दागना और पहचान करना

सैनिकों तथा घोड़ों की संख्या का झूठा विवरण देना मुगल सैनिक संगठन की एक ऐसी बुराई थी जो अच्छी से अच्छी व्यवस्था में भी पूर्णतः दूर न हो सकी। प्रायः सामन्त और मन्सबदार आदि अपनी निश्चित संख्या की गणना कराते समय आपस में सैनिकों और घोड़ों का अदल-बदल करते रहते थे, कभी-कभी तो वे बिल्कुल अनजान मनुष्यों को किसी भी तरह से प्रायः घोड़ों पर बिठाकर कुशल सैनिकों में उनकी गणना कराकर अपनी जान बचाते थे। इस बुराई को दूर करने के लिए बहुत प्रयत्न किए गए और प्रारम्भ में कुछ सफलता भी मिली। परन्तु बाद के शासन-काल में विशेषकर मुहम्मदशाह के शासनकाल (१७१६-१७४८) के मध्य भाग से ही ये सभी सावधानियाँ समाप्त हो गईं और हर तरफ अव्यवस्था फैल गई और भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया। ११७४ हिजरी (१७६१) ई० तक अहमदाबाद के सूबे से इन नियमों का इस तरह से लोप हो गया था कि वहाँ इन नियमों की जानकारी रखने वाले क्लर्क (मुंशी) मिलते ही नहीं। (मीरात-ए-अहमदी)

"सिअरउल मुताखरीन" का अनुवादक मुस्तफा इस बात का उदाहरण देता है कि किस सीमा तक यह जालसाजी फैली हुई थी ('सीर' भाग१)। ११६३ हिजरी (१७५० ई०) में अलीवर्दी खाँ महावत जंग बंगाल का नाजिम था। उसे १७०० व्यक्तियों के लिए वेतन मिलता था जब कि उसके पास ७० या ८० से अधिक सैनिक न थे। १७८७-८८ में मुस्तफा ने अपने अनुभवों के आधार पर लिखा है—"भारत का सभी सैन्य-दल, बिना किसी अपवाद के इसी प्रकार से सङ्गठित हैं और यदि हम इस ढंग से गणना करें तो पलासी और बक्सर की भाग्य निर्णायक लड़ाइयों में जो ५०००० और एक लाख सिपाहियों की सेना के लड़ने की बात कही जाती है उसमें से सैनिकों की सख्या बहुत कम हो जायगी। परन्तु यह नियम मीर कासिम की सेना (१७६०-६४) पर लागू नहीं होता, उसकी सेना की गणना में जरा भी जालसाजी नहीं थी, और न तो हैदर अली की सेनाओं में ही यह गड़बड़ी थी। नादिरशाह के हमले के समय बुरहान-उल मुल्क द्वारा जो सेना दिल्ली

लाई गई थी उसके विषय में उल्लेख करते हुए खुशहाल चन्द (बर्लिन एम० एस०) ने कहा कि हमें 'मौजूदी, न कि कागजी' सैनिकों की संख्या पर विचार करना चाहिए।

इन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिए बादशाह अकबर ने ही बुद्धिमत्ता से मनुष्यों तथा घोड़ों की गणना के लिए अनुक्रमांक बनाए और घोड़ों को सैनिक कार्य में लाने के पहले उन पर गर्म लोहे से दाग कर निशान बनाने का नियम भी बनाया। दागने, गणना करने तथा मिलान करने के लिए बख्शी के अधीन एक अलग विभाग बनाया गया जिसका एक दरोगा भी होता था, इस विभाग को दाग-ओ-तशीहा कहा जाता था (दाग—निशान, छाप, तशीहा—पहचान करना)। सेना के लिए घोड़ों का छाँटने की क्रिया को 'अस्प—बा० दाग—रसानिदन' (घोड़ों को दाग लगाने के लिए लाना) कहा जाता था। घोड़ों को दागने का नियम सर्वप्रथम ७१२ हिजरी—मई-१२१२-अप्रैल १३१३ में अला-उद्दीन खिजली द्वारा प्रारम्भ किया गया था, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह नियम भंग हो गया। (दस्तूर-उल इन्शा' पृ० २३२) बादशाह शेर शाह अफगान ने ६४८ हिजरी —अप्रैल १५४१—अप्रैल १५४२ में यह प्रथा फिर चालू कर दिया। अकबर ने (आईन, भाग १, २३३) अपने शासन के १८ वें वर्ष में (लगभग ६८१ हिजरी--१५७३ ७४) इस प्रथा को पुनर्जीवित किया और १८ वीं सदी के मध्य तक—जब तक कि मुगलों की शासन व्यवस्था पूर्ण रूप से नष्ट न हो गई—यह नियम चलता रहा। प्रारम्भ में बहुत कठिनाइयाँ सामने आईं ('दस्तूर-उल-इन्शा' पृ० २३४) और इस नियम के लागू रहने पर भी लोग जालसाजी की गुंजाइश निकालते रहे, परन्तु अन्त में यह प्रथा प्रभावशाली सिद्ध हुई। ५००० और उससे ऊपर के मन्सबदार इन नियमों के बन्धन से मुक्त ही रहे परन्तु फिर भी उनसे आशा की जाती थी कि आज्ञा मिलने पर वे निरीक्षण के लिए अपने सैनिकों की निश्चित संख्या पेश करेंगे ('दस्तूर-उल-अम्ल,ब्रि० म्यू० नं० ६५६६)। इस प्रकार की निरीक्षणात्मक परेडों को विशेष भाषा में महल्ला (स्टीनगैस, ११६०) कहा जाता था जो कि स्पष्ट रूप से अकबर के समय में दागने के विषय में प्रयोग किए जाने वाले शब्द 'दाग-ओ-महल्ली (आईन भाग १ पृ० २४२, बदौनी, भाग २, पृष्ठ १६०) से सम्बन्धित था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सैनिक भरती के समय घोड़े का प्रबन्ध अपनी तरफ से करते थे। ओर्म कहता है—"प्रत्येक भरती का उम्मीदवार अपना घोड़ा लाता है और भरती के लिए अपने को पेश करता है। घोड़े की सावधानी से जाँच की जाती है और घोड़े के आकार तथा मूल्य के अनुसार ही वह व्यक्ति वेतन प्राप्त करता है। एक बढ़िया घोड़ा रखने पर ३० रुपये से ४० रुपये प्रति

मास तक वेतन मिल सकता है। कभी-कभी कोई अफसर पूरी टुकड़ी के घोड़ों का ठीका ले लेता है। हिन्दुस्तान में एक अच्छे घोड़े की कीमत यूरोप की तुलना में चौगुनी है। यदि घोड़ा मारा जाता है तो उसका मालिक बरबाद हो जाता है, इसलिये निजी घोड़े रखने की प्रथा के कारण सिपाही कम से कम खतरे में पड़ने और लड़ाई से जान बचाने में ही अपना हित समझता है," (हिस्टारिकल फ्रैग-मेन्ट्स)। घोड़ों के साथ ही सैनिकों को कुछ निजी हथियारों और जिरहबख्तर आदि का भी प्रबन्ध करना पड़ता था। परन्तु साधारण व्यवहार में, प्रायः सरदार सैनिकों के लिए घोड़ों तथा अन्य साज सज्जा का प्रबन्ध करते थे। ऐसी परि-स्थिति में सरदार ही उनका वेतन खजाने से निकाल कर जितना उचित समझता था, ऐसे सैनिकों को देता था। दूसरे के घोड़े पर सवारी करने वाले सैनिक को बारगीर और निजी घड़े पर सवारी करने वाले सैनिक को सिलादार कहते थे। दूसरे शब्द की उत्पत्ति ऐंग्लो इन्डियन शब्द सिलीदार कैवेलरी से मानी जा सकती है जिसमें स्वयं सैनिक के लिए तथा घोड़े, वर्दी और साज सज्जा के लिये उसे महीने भर में एक साथ ही पूरा धन मिल जाता था।

चेहरा—जब कोई मन्सबदार शाही खिदमत में शामिल होता था (ब्रि० म्यू०-सं० ६५६६) तो उसके सम्बन्ध में विस्तृत विवरण जानने के लिए एक विवरण बनाया जाता था जिसमें नए मन्सबदार का नाम, उसकी वल्दियत, जाति, जन्म-स्थान, तथा उसके चेहरे और शरीर की विशेषता आदि का वर्णन किया जाता था। उसका रंग गेहुँआ (गन्दुम रंग,) दूध की तरह सफेद (शीर फाम) लाल (सुर्ख) या सुनहला-भूरा हो सकता था। उसका माथा हमेशा 'खुला' (फराग) होता था, उसकी आँखें भेंड़ की तरह (मीश) हिरण की तरह (आहू,) अदरक की तरह या बिल्ली की तरह (गुर्बा) हो सकती थी। नाक ऊँची (बुलन्द) या चिपटी (पस्त) हो सकती थी, कोई व्यक्ति बिना दाढ़ी का (अमरद) हो सकता था, हल्की दाढ़ी (रीश-ओ-बरवत-आगाज) रख सकता था, उसकी दाढ़ी काले रंग की हो सकती थी (रीश-ओ-बरयत-सियाह) या हल्के लाल रंग की (सियाह-ए-मैगन-नुमा) दाढ़ी मुड़ी (बनी) हुई (मुतरश) बकरे के आकार की (खोस-ए-खुर्ज) या ऐंठी हुई (शकीक) हो सकती थी। इसी प्रकार उस तरह की विशेष बातें भी नोट की जाती थी जैसे चेहरे पर कोई मुहासा, तिल या दाग, कानों की बनावट और उनका छिदा होना, चेचक के दाग आदि। अशाब 'शहादत' में लिखता है कि चेहरों का विवरण सुनहला छिड़काव किए हुए लाल रंग के कागज पर लिखा जाता था।

ताबिनान—के चेहरों का विवरण, इनके चेहरों का विवरण भी बनाया

जाता था, परन्तु वह उतना विस्तृत नहीं होता था उदाहरण के लिए नमूना पेश है (ब्रि० म्यू० स० ६५९६) :—

चेहरा-ए-ताबिनान

कमर अली वल्द मीर अली वल्द कबीर अली, गेहुँआ (गन्दुम) रंग, खुली हुई भौंहें, मीश (भेंड़ की तरह आँखें, बुलन्द नाक, मूछ और दाढ़ी काली (रीश-ओ-बखत-सियाह), तलवार की चोट से दाहिना कान कटा हुआ। कुल ऊँचाई लगभग ४० शान।

घोड़ा—रंग कबूद (लोहें के रंग का) बांये सीने पर निशान, बायीं तरफ के जंघे पर निशान, दाहिने जंघे पर लश्कर (?) —के निशान का दाग।

घोड़ों के पहचानने के लिए उनका विवरण (चेहरा-ए-अस्पान)

इसके पश्चात् घोड़े या घोड़ों का विस्तृत बयान लिखा जाता था (ब्रि० म्यू० संख्या ६५९६)। रंग-रंग के आधार पर घोड़ों को बीस श्रेणियों में बाँटा गया था; इनमें से आठ श्रेणियों के उपविभाजन किए गए थे और इस प्रकार घोड़ों के कुल ५८ विभाग-उपविभाग थे। इसके पश्चात् घोड़ों के शरीर पर लगाए जाने वाले दाग (खाल-ओ-खत) भी ५२ किस्म के थे।

शाही दाग

नाम	नाम
(१) चहार परहा (चार परव)	(८) इस्तादहो उफ्तादह
(२) चहार परहा जोमर-खज	(९) एक वा दो
(३) चहार परहा दूर-खज	(१०) असरन
(४) चहार परहा सिहसर-खज	(११) तोग
(५) चकूश	(१२) पंज-ए-मुर्ग (मुर्गी का पैर)
(६) इस्ताद	(१३) मीजान (तराजू)
(७) उफ्ताद	(१४) दो दारह तूर
	(१५) चहार-बारह मकर-खज

सामन्तों और मनसबदारों द्वारा बनाए गए दाग

यह बात स्पष्ट है कि शाही छाप के साथ-साथ प्रत्येक सरदार भी अपने सैनिकों द्वारा प्रयोग में लाए जाने वाले घोड़ों पर एक और निशान दागता था। बर्नियर ने ऐसे घोड़ों का वर्णन किया है "जिनकी रानों पर उमरा (सरदारों) का निशान या

दाग रहता है। इस वर्णन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि अमीर-उमरा भी अपने सैनिकों के घोड़ों पर अपने अलग-अलग दाग लगवाया करते थे। इस काल के अन्त तक बड़े सरदार दाग के निशान के लिए अपने नाम का पहला या आखिरी अक्षर प्रयोग किया करते थे। उदाहरण के लिए अवध का नाजिम सआदत अली खाँ अपने विशेष निशान के रूप में सीन-दाग (सी) का प्रयोग करता था। खुशहाल चन्द्र के अनुसार सैय्यद अब्दुला खाँ का विशेष निशान शब्द (अ) था। गुलाम अली खाँ (ब्रि० म्यू० २४०२८) के अनुसार लगभग ११५३ हिजरी (१७४०-४१ ई०) में मुहम्मद इशहाक खाँ अपने नाम का अन्तिम काफ" (क) का निशान प्रयोग करता था। कामराज द्वारा लिखित "आजम-उल-हर्ब" के एक अंश से निशान चुनने का ढंग और भी स्पष्ट हो जाता है। जब आजम शाह १११६ हिजरी (१७०७ ई०) दक्षिण से लौटने लगा तो दाग के लिए कई नए निशान चुने, गए। 'वाला-शाही' के लिए 'आजमा,' आजमशाह के बड़े बेटे बेदार बख्त की सेना के लिए 'कनकव,' दूसरे बेटे वालाजाह के लिए 'खैल' और सबसे छोटे बेटे अला-तबार के लिए 'हश्म' (ह) शब्द दाग के निशान के लिए चुना गया।" इस उद्धरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नाम के अनुसार दाग का निशान बनाने के लिए प्रायः न.म का पहला अक्षर ही चुका जाता था।

घोड़ों का वर्गीकरण

'आईन' भाग १ के अनुसार नस्ल के आधार पर घोड़ों को सात वर्गों में बाँटा जा सकता था—(१) अरबी (२) परशियन (ईरानी) (३) मुजन्नस (४) तुर्की (५) याबू (६) ताजी (७) जंगली।

आलमगीर के शासनकाल में हमें घोड़ों की केवल छः नस्लों का (ब्रि० म्यू० सं० ६५६६) विवरण मिलता है। उस सूची में अरबी घोड़ों का उल्लेख नहीं है, शेष नस्लें इस प्रकार हैं (१) ईराकी (२) मुजन्नस (३) तुर्की (४) याबू (५) ताजी (६) जंगली। अरबी घोड़ों का उल्लेख शायद भूल से ही छूट गया है क्योंकि कई तत्कालीन इतिहासकारों के विवरणों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि घोड़े हिन्दुस्तान में ही पाये जाते थे; इनमें से जंगली की अपेक्षा ताजी घोड़े को अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। याबू घोड़े सम्भवतः उसी नस्ल के थे जिसे हम आजकल काबुली कहते हैं। तुर्की घोड़े बुखारा से और ईराकी घोड़े मेसोपोटामिया से लाए जाते थे।

आलमगीर के शासन काल में जब दागने के लिए घोड़ों को पेश करने का हुक्म दिया जाता था तो साथ ही यह निर्देश भी रहता था कि विभिन्न नस्लों के घोड़ों

का अनुपात विभिन्न दर्जे के मन्सबदारों के लिये क्या होगा । यह अनुपात इस प्रकार था ।

मन्सबदार का दर्जा	घोड़ों की नसलें ईराकी	मुजन्नस	तुर्की	याबू	योग
४००	३	१	१	०	५
३००,३५०	२	१	१	०	४
१००,१५०	०	०	३	०	३
८०,६०	०	०	२	०	२
५०,७०	०	०	१	१	२
४०	०	०	१	०	१

ये आँकडे 'आईन' भाग १ में दिए अनुपात से कुछ भिन्न हैं । 'आईन' में उच्चतम श्रेणी के मनसबी के घोड़ों की संख्या भी की गई है । "मीरात-ए-अहमदी" भाग २ में भी कुछ आँकड़े दिए गए हैं जो कि उपरोक्त तालिका से मिलते-जुलते हैं ।

दागने के समय मन्सबदार और अधिकारियों द्वारा जिस स्तर के बढ़िया या खराब घोड़े प्रस्तुत किए जाते थे, उसी के अनुसार दाग देने वाले हकिम द्वारा एक निश्चित नियम के अनुसार वेतन में वृद्धि या कटौती कर दी जाती थी, अच्छे और खराब नस्ल के घोड़ों की इस गणना को 'तफ़ावते अस्पान कहा जाता था (ब्रि० म्यू० सं० ६५६६) निश्चित वेतन से अधिक धन इस प्रकार प्राप्त होता था :—

नियम द्वारा पेश की जाने वाली नस्ल	पेश की हुई बढ़िया नस्ल	अतिरिक्त भत्ता
तुर्की	ईराकी	१२ रुपया
तुर्की	मुजन्नस	६ ,,
ताजी	तुर्की	८ ,,
याबू	तुर्की	६ ,,

इसके विपरीत यदि बढ़िया नस्ल के घोड़े दागने के लिए प्रस्तुत किए जाते थे तो निम्नलिखित दर से कटौती की जाती थी ।

नियमतः पेश की जाने वाली नस्ल	प्रस्तुत की हुई घटिया नसल	कटौती
तुर्की	जंगली	१२ रुपया
याबू	जंगली	१० ,,
ताजी	जंगली	८ ,,

अन्य पेशे वाले

नीचे दी हुई तालिका (ब्रि० म्यू० सं० १६४१) के अनुसार प्रत्येक मन्सबदार को नाल बाँधने वालों, लुहारों और पशु चिकित्सकों को भी अपने अधीन रखना पड़ता था।

ओहदा	नाल बन्द	लुहार (अहनगर)	चिकित्सक (जर्राह)
४०००	८	२	२
३५००	७	२	२
३०००	६	२	२
२५००	५	१	०
२०००	४	१	२
१५००	३	०	१
१०००	२	०	१

'मीरात-ए-अहमदी' भाग २ पृ० ११८ में लिखा गया है कि प्रति एक हजार की मनसब के पीछे ३० पैदल (प्यादा) रखना अनिवार्य था। इन तीस प्यादों में पानी ढोने वाले, नाल बाँधने वाले, खबर ले जाने और ले आने वाले, मशालची और धनुर्धर सैनिक सम्मिलित थे।

पहचान (तशीहा)

'आईन' भाग १ के पृ० २५० में इस विषय में कुछ सामग्री मिलती है जहाँ कि अहदियों का उल्लेख किया गया है। डाक्टर हार्न ने अपनी पुस्तक में इस विषय में कुछ संकेत दिया है। बाद के समय में गणना करने और पहचान करने का नियम लगभग सर्वत्र व्याप्त हो गया था। मेरे पास छबीला रामनागर द्वारा संग्रहीत एक पुस्तक "गुलदस्त-ए-बहार" (कुछ पत्रों का संग्रह है) का कुछ अंश है। यह पुस्तक ११३६ हिजरी (१७२६-२७) में तैयार हुई थी। इसका जो अंश मेरे पास है, उसमें बहादुर शाह के शासन काल के अन्त (१११८-२४ हिजरी) में एक मनसबदार के खिलाफ पहचान के नियमों के अनुसार कार्रवाई किये जाने का उल्लेख है। छबीला राम उस समय सूबा अलाहाबाद के कड़ामानिक पुर में फौजदार था। उसने एक लिखित शिकायत बादशाह के पास भेजा था कि कुछ क्लर्कों ने उसकी १० लाख दाम प्रति वर्ष की आय वाली जागीर को छीन लेने का जाल बनाया है क्योंकि उसके पास दाग ओ-तशीहा से सम्बन्धित कागजात नहीं थे। उसने बाद में एक विशेष दूत द्वारा वे कागजात भेज दिया और अपने दूत से जो कि दरबार में कुछ पहुँच रखता था— जागीर वापस पाने के लिए जोर लगाने के लिये भी आग्रह किया।

किसी व्यक्ति की तनख्वाह के आधार पर ही जाँच और पहचान के लिये समय का अन्तर निर्धारित किया जाता था। यदि उस व्यक्ति को जागीर के रूप में वेतन दिया जाता था, तो उसे साल भर में एक बार पहचान और जाँच के लिये अपने से आदमियों को पेश करना पड़ता था, उसे ६ महीने के समय की छूट भी मिलती थी। यदि वह व्यक्ति नकद तनख्वाह पाता था, तो उसकी जाँच व पहचान के लिये समय का अन्तर इस आधार पर निश्चित किया जाता था कि वह (१) हाजिर-ए-रिकाब (दरबार में उपस्थित) है या (२) किसी दूसरे स्थान पर ड्यूटी पर तैनात है। पहली श्रेणी के व्यक्तियों को हर छः माह बाद, या अधिक से अधिक ८ माह बाद सनद लेनी पड़ती थी। दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों के लिये दरबार में वापस पहुँचने की तारीख से १५ दिन के भीतर का यह सनद प्राप्त कर लेना जरूरी था। इसी तरह की ड्यूटी पर तैनात अहदियों को सात दिन का ही समय मिलता था। जो अधिकारी तनख्वाह का कुछ हिस्सा जागीर के रूप में और कुछ हिस्सा नकद प्राप्त करते थे उनके लिये यह निश्चित था कि यदि उन्हें अपनी जागीर से कुछ तनख्वाह के आधे से अधिक अंश प्राप्त होता था तो उन जागीरदारों से सम्बन्धित नियम लागू होते थे, परन्तु इसके विपरीत यदि उनकी तनख्वाह का आधे से अधिक भाग नकदी में चुकाया जाता है तो उन पर नकदी से सम्बन्धित नियम लागू होते थे (ब्रि० म्यू० १६४१)।

यदि दिये हुये समय के अन्तर पर तथा छूट का समय भी बीत जाने पर भी वे अपनी सचाई की सनद नहीं पेश करते तो 'तवक्कफ तशीहा' पहचान में देर कराने के लिये उसकी रिपोर्ट कर दी जाती थी। ऐसे मामले में पिछले पहचान की तारीख से रिपोर्ट किये जाने के वक्त के बीच की एक मनसबदार की पूरी तनख्वाह कट जाती थी यदि वह व्यक्ति अधिक प्रभावशाली हुआ तो वह बादशाह से मिल कर और सिफारिश, करके अपनी व्यक्तिगत तनख्वाह पाने की इजाजत प्राप्त कर लेता था। ऐसी परिस्थितियों में एक अहदी की आधी तनख्वाह कट जाती थी और बहुत ही जोर लगाने पर उस तनख्वाह का न कटना सम्भव हो सकता था। यदि एक मन्सबदार दरबार में हाजिर रहता था तो उसके ताबिनान (घुड़सवारों) की संख्या कुछ और होती थी और जब वह सूबों में तैनात किया जाता था, तो इस संख्या में अन्तर पड़ जाता था। यदि वह दरबार में रहता तो उसे कम से कम कुल संख्या के १।४, और ड्यूटी पर तैनात रहता तो कुछ की १।३ संख्या को एकत्रित करके पहिचान और मिलान करना पड़ता था। कुछ इसी तरह का बयान 'मआसिर-उल-उमरा' भाग १ पृ० ४४४ पर मिलता है:—'शाहजहाँ के शासन काल में यदि मन्सबदार जिस सूबे में तैनात रहता था, उसी में जागीर भी पाता था तो उसे अपने ताबिनान की १।३ संख्या दगवाने के लिये प्रस्तुत करना पड़ता था। इस प्रकार

यदि वह ३००० जात और तीन हजार सवार का मन्सबदार होता तो उसे पहिचान के लिये १००० सवारों की उपस्थिति दिखानी पड़ती थी, परन्तु यदि वह किसी बाहर के सूबे में तैनात रहा तो उसे ताबिनान का केवल १।४ भाग उपस्थित करना पड़ता था। बल्ख और बदख्शां में तैनात लोगों के लिये कुल का १।५ उपस्थित करना ही पर्याप्त था क्योंकि वे बहुत दूरीपर स्थित थे।" पहचान तथा जाँच के लिये तीन मौसम निश्चित किये गये थे। (१) २६ वें शव्वल से १५ वें जूलकदा तक (२० दिन), (२) १६ वें सफर से १५ वीं खील तक (२५ दिन) और (३) १६ वें जमादी से १५ वीं रजब तक (२६ दिन) (ब्रि० म्यू० सं० १६४१ और ६५६६)।

कर्मचारी और उनके कर्तव्य—केन्द्रीय स्थानों पर अमीन, दरोगा और मशरिफ आदि की नियुक्ति, (पहिचान करने के लिये) बादशाह द्वारा की जाती थी और यह पहिचान तथा जाँच वाला विभाग मुख्य बख्शियों के अधीन रहता था। ये बख्शी ही सूबों में इनकी नियुक्तियाँ करत थे। अमीन की व्यक्तिगत उपस्थिति भी मन्सब के साथ ही थी जब तक कि वह दफ्तर के कार्य में व्यस्त रहता था। उसे १० घोड़ों का मन्सब अलग से भी मिलता था। (मीरात-ए-अहमदी भाग १ पृष्ठ ११८)। हिदायतुल्ला बहारी ने अपनी 'हिदायत-उल कुवैद' में इन लोगों के कर्तव्यों का वर्णन इस प्रकार किया है। दरोगा को घोड़ों के निशान को 'चेहरा' के विवरण से मिला लेना चाहिये और यह भी देखना चाहिये कि घोड़े शाही खिदमत के योग्य हैं या नहीं। यदि घोड़े सेवा के योग्य हों तो वह उन पर दाग का निशान कर देता था और दिन तारीख महीना वर्ष आदि के साथ 'चेहरा' पर दस्तखत बनाता और लिखता था, "दो घोड़े, अमुक नस्ल के दागे गये।" यदि वह व्यक्ति दुस्पह हुआ तो दरोगा को दोनों घोड़ों की स्वस्थता की सनद तथा अपना मूल विवरण पत्र (चेहरा) बख्शी के दफ्तर में भेजना पड़ता था और बख्शो की मुहर लगी हुई एक नकल अपने पास रखना पड़ता था। इसके बाद दो माह बीत जाने पर वह उसे विवरण पत्र (चेहरा) की नकल के आधार पर दाग व अन्य चिन्हों का मिलान कर लेता था। 'चेहरा' की पीठ पर दिन, तारीख, माह, वर्ष आदि के साथ लिख देता था—'अमुक व्यक्ति ने अपने घोड़ों और हथियारों की जाँच कराया (१) यदि किसी एकस्पह (एक घोड़े वाले) का मुआमला होता तो दरोगा लिखता, "अमुक आदमी और एक घोड़े की जाँच की गई।" यदि किसी मशालची या धनुर्धर की जाँच की जाती थी तो लिखा जाता था कि आदमी और हथियारों की जाँच की गई। दरबार की सफाई व्यवस्था करने वाले नौकरों और खिदमतगारों के विवरण पत्र (चेहरा) की पीठ पर दरोगा अपनी रिपोर्ट लिखता था और उस कागज के भर जाने पर दूसरा कागज नत्थी कर लेसा था। दरोगा का पेशकार जाँच के लिये उपस्थित होने वाले तथा अनुपस्थित रहने धाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण बना कर दरोगा के पास पेश करता था। दरोगा इस

विवरण पर मुहर लगा कर बख्शी के दफ्तर में भेज देता था। इसी रिपोर्ट के आधार पर खजाने को वेतन बाँटने से सम्बन्धित आदेश भेजे जाते थे। यह देखना भी दरोगा का कर्तव्य था कि सवार और प्यादे अपने कर्तव्यों को पूरा कर रहे हैं या नहीं। चौकी के मुन्शी (क्लर्क) को वह अर्धरात्रि में निरीक्षण करके नियुक्त व्यक्तियों के चौकी पर उपस्थित रहने या न रहने का पता लगाने का निर्देश दे देता था। 'मीरात-ए-अहमदी भाग २ के अनुसार पहिचान तथा जाँच के बाद अधिकारी या सैनिक उसकी दस्तक (प्रमाण पत्र) लिखवा लेते थे जिस पर अमीन, दरोगा तथा मुशरिफ की मुहरें लगाई जाती थी, बाद में इन दस्तकों को मन्सबदार के पास भेज दिया जाता था।

छठवाँ अध्याय

सैनिक सेवा की विभिन्न शाखाएँ

तत्कालीन आधिकारिक मूल पुस्तकों में सेना की तीन श्रेणियों का वर्णन किया गया है। मन्सबदार (अपने ताबिनान के साथ), अहदी और अहशाम। यद्यपि यहाँ मैं इन्हीं तीन विभागों के अनुसार सेना का वर्णन करना उचित समझता हूँ परन्तु यह उल्लेख करना भी आवश्यक समझता हूँ कि डा॰हार्न ने मुगल सेना को तीन निम्नलिखित भागों में विभाजित किया है। घुड़सवार, पैदल और तोपखाना। परन्तु घुड़सवारों के मुकाबले में अन्य दोनों विभाग बहुत कम महत्व रखते थे। सेना का अधिकांश भाग घुड़सवारों से ही भरा हुआ था। मुगल घोड़ों की पीठ पर से ही लड़ने के अभ्यस्त थे, पैदल सेना को ये बहुत नीची नजर से देखते थे और उनका तोपखाना कभी भी बहुत शक्तिशाली नहीं हुआ। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक एक पैदल सैनिक किसी रात के चौकीदार से अधिक महत्व नहीं पाता था, चाहे वह छावनी में हो या लड़ाई के लिये कूच कर रहा हो। इसी समय फ्रांसीसियों तथा अँग्रेजों ने अनुशासित ढंग से संगठित की हुई पैदल सेना का महत्व प्रदर्शित किया। आर्मी ने (हिस्टारिकल फैगमेन्ट्स) में ठीक ही कहा है कि मुगल-काल में युद्ध में जीत या हार का फैसला अधिकांशतः सेना में बढ़िया घोड़ों की संख्या पर आधारित होता था। १७०७ ई॰ में भीमसेन द्वारा शाहजादा आजमशाह को लिखे गये पत्र में (नुस्खा-ए-दिलकुशा) लिखा गया है कि—"तोपखाने से लड़ना तो महज खिलवाड़ है, असली हथियार तो तलवार ही है।" इस वाक्य से यह स्पष्ठ हो जाता है कि नजदीकी लड़ाई और पीछा करने में घुड़सवारों पर ही अधिक विश्वास किया जाता था।

सेना के विभिन्न रेजीमेन्टों में कोई निश्चित विभाजन नहीं होता था। अहदी सैनिक प्रायः अपने से किसी धनी या प्रसिद्ध सरदार के झन्डे के नीचे एकत्रित हो जाया करते थे, ये छोटे-छोटे सरदार किसी अपने से बड़े कमाण्डर के अधीन हो जाते थे और इस प्रकार सीढ़ी-सोढ़ी किसी वड़े अमीर की सेना संगठित होती थी। परन्तु ऊँचे ओहदे वालों से लेकर साधारण सैनिक तक अपने निकटतम सरदार या अधिकारी

के हितों का ही अधिक ध्वान रखते थे, पूरी सेना या बादशाह या साम्राज्य के हितों से उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था। मुगल काल के अन्त के कुछ पहले तक यही प्रथा प्रचलित रही। इस काल के अन्त में, यूरोपियन प्रभाव के कारण, मुगल अमीर-उमरा भी अपने ही व्यय से अपने पूरे रेजिमेंन्ट का संगठन करने लगे और बीच के छोटे-छोटे सरदारों का कोई विशेष स्थान न रह गया। अवध में सफदर जंग और शुजा उद्दौला के पास 'किजिलवाश' और 'शेर-बच्चा' और अन्य रेजिमेन्ट थे, उन सभी की वर्दियाँ एक ही प्रकार की होती थीं और उनकी साज सज्जा का व्यय नवाव अपने ही जिम्मे रखता था।

जब अकबर ने प्रत्येक सरदार के अधीनस्थ सैनिकों और घोड़ों की संख्या के आधार पर मन्सबदारी प्रथा का प्रचलन किया, उस समय इन मन्सबदारों के सैनिकों की संख्या के कुल योग का साम्राज्य की सेना की कुल संख्या से अवश्य कुछ सम्बन्ध था। परन्तु यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि शाहजहाँ के शासन काल में (१६२७-५८) तक इन दोनों के बीच का सम्बन्ध पूर्णतः समाप्त हो गया था। यदि किसी निश्चित काल के सभी मन्सबदारों के जात (व्यक्तिगत) सैनिकों की संख्या को जोड़ लिया जाय तो एक इतनी बड़ी संख्या प्राप्त होगी कि उनका व्यय सम्भालने में साम्राज्य की असमर्थता ही सिद्ध होगी, भले ही अधिकतम सीमा तक जनता पर कर भार लाद दिया जाता। यदि सैनिकों को नकद वेतन दिया जाता, तो साम्राज्य का सारा राजस्व सेना का वेतन देने भर को भी प्रर्याप्त नहीं होता, यदि उन्हें जागीर या भूमि के रूप में वेतन दिया जाता तो सारी भूमि और भूमि की सारी मालगुजारी की आय सीधे सैनिकों के हाथ में चली जाती और दरबार तथा शासन के कोई अन्य विभागों का कार्य तथा व्यय सम्भालने के लिये एक पैसा भी न बचता। इन सारी बातों से मेरा मतलब केवल यही है कि यदि किसी को कोई मन्सब दिया जाता था, तो इसका अर्थ थह नहीं होता था कि मन्सब से सम्बन्धित सभी सैनिक वास्तव में सेना के अंग थे। यह प्रथा सी बन गई थी कि किसी व्यक्ति का ओहदा सैनिकों की संख्या के आधार पर निश्चित किया जाता था, भले ही वे मन्सवदार उतने सैनिकों और घोड़ों को रखें। आधुनिक काल के इतिहासकारों ने इस बात के काफी प्रमाण एकत्रित किये हैं कि मन्सब के सैनिकों की संख्या को जोड़ कर सेना की पूरी संख्या निकालना असम्भव है। सेना की वास्तविक संख्या मन्सबों के जात सैनिकों के योग की अपेक्षा बहुत ही कम होती थी।

डाक्टर हार्न ने ब्लाकमैन के 'आईन' के अनुवाद के आधार पर मुगल सेना की कुछ संख्या का अनुमान लगाने का प्रयास किया है परन्तु मेरे विचार से मन्सब-दारों के जात सैनिकों के योग से सेना की कुल संख्या का अनुमान लगाने का प्रयत्न

करना एक बहुत ही निराशा जनक उपाय है। यदि हम मन्सबदारों की जात को आधार मान लें तब भी एक गम्भीर कठिनाई सामने आती है कि किसी एक समय पर एक ही सूची में सभी मन्सबदारों का पूर्ण विवरण नहीं मिलता। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि किसी मन्सवदार के अधीन सैनिकों की संख्या प्रायः घटती बढ़ती रहती थी। जब मन्सवदार किसी युद्ध में भाग लेते थे, या सूबेदार बना कर या सूबेदार के अधीन कार्य करने के लिये भेज दिये जाते थे, तो यदि सामर्थ्य से अधिक नहीं तो सैनिकों की उस अधिकतम संख्या को अपने साथ रखते थे जिनके लिये वे वेतन का प्रबन्ध कर सकते थे। इसके विपरीत यदि इन मन्सबदारों की उपस्थिति दिल्ली में ही रहती तो उनका मुख्य कार्य दिन में दोबार बादशाह के दरबार में हाजिरी देना (और इस हाजिरी पर सख्ती से ध्यान रक्खा जाता था) और महल की सुरक्षा के लिये अपनी बारी पर जिम्मेदारी सम्भालना होता था। इस प्रकार के कार्यों के लिये मन्सबदारों का काम थोड़े से आदमियों से चल जाता था। यदि हम प्रत्येक मन्सबदार से सम्बन्धित घुड़सवारों की संख्या का जोड़ करें, तो सम्भवतः सेना की संख्या के विषय में कुछ सही अनुमान लगा सकते हैं। परन्तु इस रास्ते में भी गम्भीर कठिनाई सामने आती है, घोड़ों को दागने तथा पहिचान और जाँच करने के नियमों के बावजूद भी हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इने-गिने मन्सबदार ही पूरी संख्या रखते थे, यहाँ तक कि ताबिनान (घुड़सवारों) की कोई निश्चित संख्या भी पूरी नहीं रखते थे, यद्यपि प्रति घोड़े के हिसाब से मन्सबदारों को अलग से भत्ता और वेतन भी मिलता था। इन मामलों में विभिन्न मन्सबदारों में बहुत अन्तर पाया जाता था। कोई अमीर अपने लिये निश्चित पूरे घुड़सवार और पैदल सैनिक पूर्ण साज सज्जा के साथ अपने पास रखता था, वहीं दूसरा अपने उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य की पूर्णतः उपेक्षा करता था। उदाहरण के लिये "नादिर-उज-जमानी" में खुशहाल चन्द (ब्रि० म्यू० मूल प्रति सं० १८४४) में लिखा है। लुत्फुल्ला खाँ सादिक को यद्यपि ७००० की मन्सब मिली थी परन्तु उसने "कभी सात गधे भी अपने पास नहीं रक्खे, घोड़ों और सवारों की संख्या तो इससे भी कम होती थी।" यह लुत्फुल्ला खाँ मुहम्मद शाह के शासन काल में एक मन्सबदार था, परन्तु वह सदैव दिल्ली से ३०-४० मील की दूरी पर स्थित पानीपत में आराम से अपने घर रहता था। उसका सारा जोर नगर के आस पास की सारी जमीन पर कब्जा जमाने के कार्य में लगा रहता था। यद्यपि उसे सात हजार की सम्मान पूर्ण मन्सब मिली थी, परन्तु वह एक देहाती की तरह बड़ी सादगी से रहता था।

सेना की संख्या का अनुमान लगाने के लिये डाक्टर हार्न ने एक और तारीका निकाला है, जिसके अनुसार यदि किसी एक बड़ी लड़ाई में सम्मिलित होने

वाले सभी मन्सगदारों के ओहदो के हिसाब से सैनिकों की संख्या निकाली जा सकती है। इस तरीके का प्रयोग डा० हार्न ने स्वयं किया है परन्तु वे परिणाम से सन्तुष्ट नहीं हैं। मेरे विचार से मन्सबों से सम्बद्ध संख्या और लड़ाई में उपस्थित सैनिको की संख्या में कोई सम्बन्ध नहीं था और यदि था भी, तो बहुत साधारण। वास्तविकता तो यह थी कि पूर्वी देशों में ऐसे नियम कभी बने ही नहीं जिनका उल्लंघन न किया जा सके। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि सेना के विभिन्न डिवीजनों पर नियन्त्रण रखने के लिये ऊँचे ओहदों के मन्सबदार ही चुने जाते थे। परन्तु यह एक संयोग की ही बात होती थी कि किसी डिवीजन की सैनिक संख्या उसके मन्सबदार के ओहदे के अनुरूप ही रहती थी। किसी डिवीजन की सैनिक संख्या इस बात पर निर्भर रहती थी कि कितने आदमी सेना के लिये प्राप्त हो सकते थे, छोटे सरदार इस तरह सैनिकों को एकत्रित करते थे जो कि उनके डिवीजन के सेनापति की अधीनता में रहते थे। इसलिए किसी डिवीजन की वास्तविक संख्या और सेनापति के ओहदे से सम्बद्ध संख्या में संयोग से ही सही सम्बन्ध स्थापित होता था।

इतिहासकारों द्वारा सेना की संख्या के अस्पष्ट विवरणों के विषय में बर्नियर ने एक बहुत उल्लेखनीय बात कहा है—"छावनी के अगल बगल घूमने वाले तथा बाजारू लोग भी···मेरे विचार से, युद्ध में लड़ने वाले सैनिकों की संख्या में जोड़ लिये जाते थे।" एक दूसरे स्थल पर बर्नियर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अनुमानतः मुगल सेना की छावनी में उपस्थिति कुल व्यक्तियों में से एक तिहाई व्यक्ति ही लड़ने वाले होते थे। डाक्टर हार्न द्वारा दी गई तालिका नीचे प्रस्तुत है;—

मुगल सेना की अनुमानित संख्या

काल	घुड़सवार	मशालची और पैदल	तोपखाना	प्रमाण देनेवाली पुस्तक
अकबर	१२,०००	१२,०००	१०००	'आईन' भाग १
,,	३८४,७५८	३८,७७,५५७	—	ब्लाकमैन का अनुवाद
शाहजहाँ	२००,०००	४०,०००	—	बादशाहनामा भाग २, पृ० ७१५ आईन भाग १ पृ० २४४
औरंगजेब	२४०,०००	१५,०००	—	बर्नियर
,,	३००,०००	६००,०००	—	कैट्रन
मुहम्मदशाह	२००,०००	८००,०००	—	रुस्तम अली द्वारा लिखित "तारीख-ए-हिन्दी

विशेष अवसरों या युद्धों में उपस्थित सैनिक संख्या

लड़ाई या सेनापति का नाम	शाही सेना की संख्या				शत्रु की सैनिक संख्या				प्रामाणिक पुस्तक
	सवार	पैदल	तोपखाना	हा थी	घुड़सवार	पैदल	तोपखाना	हाथी	
सरखेज—	१०,०००	—	—	१००	४०,०००	१००,०००	—	—	'अकबर नामा' भाग ३, पृ० ४८४
खान आजिम के अधीन	१०,०००	—	—	—	३०,०००	—	—	—	'अकबर नामा' भाग ३, पृ० ५६३
खानखाना के अधीन	१,२००	—	—	—	५०००	—	—	—	,, भाग ३, पृ० ६०८
सादिक खान	३०००	—	—	—	८०००	—	—	८०	,, भाग ३, पृ० ७१४
कन्धार (१०६१ हिजरी)	५०,०००	१०,०००	—	१०	—	—	—	—	एलियट भाग ७, पृ० ९९
जहाँगीर (१०१६ हि०)	१२,५००	२०००	—	६०	—	—	—	—	,, भाग ६, पृ० ३१८
अहमद अब्दाली	६०,०००	२०,०००	—	—	—	—	—	—	
(११७४ हिंजरी					—	—	—	—	

सातवाँ अध्याय

साज-सज्जा (अ) जिरहबख्तर

हथियारों एवं कवच आदि को सामूहिक रूप से 'सिला,' तथा बहुवचन में 'असला' कहा जाता था। सभीं तरह के बढ़िया अस्त्रों एवं कवचों आदि की हिन्दुस्तान में बहुत कद्र की जाती थी और उनको साज सज्जा के लिये बहुत बुद्धि एवं धन व्यय किया जाता था। प्रत्येक सभी बड़े उमरा अपने पास चुने अस्त्रों एवं सम्बन्धित सामानों का चुना हुआ संग्रह रखते थे। नीचे उद्धृत किये हुये अंश में लखनऊ के नवाब वजीर (१७८५) के संग्रह का वर्णन हैं—"नवाब की अधिकृत सभी चीजों में अस्त्रो एवं कवचों का संग्रह सर्वोत्तम एवं प्रशंसनीय है। हथियारों में बड़ी बन्दूकें, राइफलें, हल्की बन्दूक, घुड़सवारों की टेढ़ी तलवार, पिस्तौल, किर्च, भाला, पैदल सैनिकों की सीधी लम्बी तलवार, कटार, युद्ध में प्रयोग की जाने वाली कुल्हाड़ियाँ तथा अन्य बहुत से अस्त्र थे जिनमें से अधिकांश हिन्दुस्तान में ही बने हुये थे, उनमें शुद्ध इस्पात का प्रयोग हुआ था और उन पर बहुत कलात्मक चित्र कारियाँ की गई थी। बहुत से हथियारों पर सोने, चाँदी का काम किया हुआ था, हीरे जड़े हुये थे।"

कवच दो प्रकार के थे--पहले प्रकार में सिर, पीठ, सीना और भुजाओं को बचाने के लिये इस्पात के टोप और प्लेटें थीं और दूसरे प्रकार में इस्पात के घने तारों से बुना हुआ कमीज की तरह का एक जालीदार लिबास था, जिसमें सर गर्दन और चेहरे के बचाव के लिये इस्पात की जालीदार टोपी भी जुड़ी हुई रहती थी। इस जालीदार कमीज के नीचे कई तहों का बना हुआ सूती बस्त्र पहना जाता था जिसमें तलवार न धँस सके···इस्पात की प्लेटों पर सुनहली मालाएँ और किनारे बड़ी खूबसूरती से बने हुये रहते थे और जालीदार वस्त्र से भी कलात्मक रुचि प्रकट होती थी। ("एशियाटिक मिसेलेनी" भाग १ पृ० ३६३)।

जाँच के समय यदि किसी व्यक्ति के पास अपना निजी कवच और उसके हाथी के लिये कवच (पखार) नहीं मिलता था तो उसके ऊपर निम्नलिखित जुरमाने होते त्रि० म्यू० पु० सं० ६५६६) :—

मन्सबदार का ओहदा	इन वस्तुओं के न मिलने पर जुरमाने की रकम				
	सिर का टोप (खुद)	शरीर का कवच (बख्तर)	हाथी का कवच (पखार)	पेटके निचले भाग का कवच (रानक)	हरहाई (?) या सरि-अस्प (ब्रि० म्यू० १६४१)
	रु०-आ०-पा०	रु०-आ०-पा०	रु०-आ०-पा०	रु०-आ०-पा०	रु०-आ०-पा०
४००	२—०—०	५—०—०	४—०—०	२—०—०	१—०—०
३५०	२—०—०	४—०—०	३–१२—०	१–१२—०	०–१५—०
३००	१–१२—०	४—०—०	३—८—०	१—८—०	०–१४—०
२५०	१—८—०	३—८—०	३—४—०	१—४—०	०–१३—०
२००	१—०—०	३—०—०	३—०—०	१—०—०	०–१२—०

यदि वे स्वयं से प्रबन्ध कर सकें तो सभी घुड़सवारों द्वारा ये कवच पहने जाते थे और कुछ निश्चित ओहदे वाले यदि जाँच के समय इन कवचों को प्रस्तुत नहीं कर पाते थे तो उनके ऊपर जुरमाना ठोंक दिया जाता था। इनका प्रयोग निरन्तर चलता रहा, मुगल या देशी सेनाओं में भरती होने वाले यूरोपियनों को भी जिरह बख्तर आदि पहनना पड़ता था। उदाहरण के लिये १७९७ में जेम्स स्किनर ने लिखा है—'कि मैं पूरे जिरह बख्तर के साथ घोड़े को अभ्यास करा रहा था और फिर लिखा है, 'केवल जिरह बख्तर के कारण मेरी जान बच गई।' (फ्रेजर "मेम्वायर्स", पृ० १२५ व १२७)। कवचों का प्रयोग आज दिन भी समाप्त नहीं हुआ है, उदाहरण के लिये बुन्देल खण्ड की रियासतों की सेनाओं ने जनवरी १८७६ में पूरे कवच जिरह बख्तर अन्य प्रति रक्षात्मक वस्तुओं के साथ प्रिन्स ऑव वेल्स के सम्मान में आगरा में परेड किया था।

कवच एवं अन्य (जिरह बख्तर) इस प्रकार पहना जाता था (डब्ल्यू इजर्टन) :—सीने और पीठ को ढँकने वाली इस्पात की प्लेटों के सहारे कमर के नीचे तक एक मखमलों लिबास रहता था जिस पर सुनहला काम किया रहता था। शरीर रक्षक बख्तर के नीचे एक बहुत मोटा और अलंकृत जेकैट पहना जाता था जिसे कवच कहा जाता था। इन चीजों के अतिरिक्त कमर में काश्मीरी साज और रेशमी पाजामे पहने जाते थे। एक ऊँचे ओहदे के अमीर की यही पोशाक थी। रुई से भरे हुये मोटे सूती लिबास के विषय में 'सीर' भाग १ में निम्नलिखित वर्णन प्राप्त होता है,

"साधारण सिपाही एक काफी लम्बा अँगरखा पहनते थे, जिसमें रुई भरी होने से यह बहुत मोटा होता था, यह नीचे घुटनों तक लटकता था। इस लिबास पर कटार की चोट या तीर की नोक का असर नहीं होता था और सबसे बड़ा लाभ यह था कि इस वस्त्र को भेद कर सूर्य की किरणें भी उसके शरीर तक नहीं पहुँच पाती थीं और गर्मी कम महसूस होती थी।" कुछ समय बाद के एक अन्य लेखक १ (फिटज-क्लेरेन्स 'जरनल') ने लिखा है, "हिन्दुस्तान भर में अनियमित घुड़सवार प्रायः गद्दीदार सूती जैकेट पहनते हैं, यद्यपि इस लिबास में रुई नहीं बल्कि सूती कपड़ों की ही कई तहें सिली रहती हैं। यह एक प्रकार का प्रतिरक्षात्मक कवच है और जब सैनिकों का सिर दाढ़ी के नीचे तक मोटी पट्टियों से लपेटा रहता है, तो उन पर तलवार का असर होना बड़ी मुश्किल चीज है। कभी-कभी ये सैनिक कोकून द्वारा छोड़े हुये रद्दी रेशम को भी लिबास की तहों में भर लेते हैं, उनका विचार है कि इससे टकरा कर गोला भी वापस हो सकता है।" इस प्रकार प्रति रक्षात्मक साज सामानो से सिपाहियों का शरीर इस तरह ढँक जाता था कि केवल आँख ही दिखाई देती थी।' ८वें शबान, ११२७ हिजरी (६ सितम्बर १७१५) में जब हुसेन अली खाँ के विरुद्ध दाऊद खाँ, लड़ाई में गया तो उस पर हमला करने के लिये मीर-मुशरिफ इसी तरह कवच से स्वयं को ढँके हुये आगे बढ़ा। उसे देख कर दाऊद खाँ ने उपहास पूर्वक कहा कि—"उसका हमलवार उससे मिलने के लिये एक दुलहिन की तरह पूरा ढँके हुये सामने आया है।" (गुलाम अली खाँ मुकद्दम-ए-शाह-आलम नामा)।

अब मैं सभी प्रतिरक्षात्मक साज सामानों का बारी-बारी से वर्णन करता हूँ।

खूद, दबलगा या टोप :—यह इस्पात का एक टोप होता था, जो सिर पर पहना जाता था। उसमें नाक की सुरक्षा का भी प्रबन्ध रहता था। इन्डियन म्यूजियम में टोप के कई नमूने रखे हुये हैं और इनमें से अनेक टोपों का चित्र भी डब्ल्यू इजर्टन की पुस्तक "हैन्ड बुक" में दिया गया है। तेरहवीं प्लेट पर नम्बर ७०३ और ७०४ के, पृष्ठ १३४ पर नं० ७०३ का और पृष्ठ १२५ पर नं० ५६१ का चित्र है। इस १ टोप को प्रायः 'खूद' ही कहा जाता है, परन्तु आईन (भाग १, तीसरी प्लेट पर नं० ५६ और तेरहवीं प्लेट पर नं० ४३) में 'दबलगा' शब्द का प्रयोग हुआ है। दलबगा चगताई भाषा का शब्द है और उसका अर्थ होता है लोहे का टोप। पैवेटडी कर्टिलेक ने इस शब्द के चार रूप दिये हैं (पृ० ७२३) दबलग, दावलगा, दाब लगन, तथा दबलगः ये सभी शब्द एक ऐसे लेख से मिले हैं जो १८ वीं सदी में लिखा गया था।

इजर्टन ने 'टोप' शब्द का इस अर्थ में कई बार प्रयोग किया है (पृ० ११६, १२५)। टोप एक हिन्दुस्तानी शब्द है; मराठों द्वारा तथा मैसूर में शिरस्त्राण के

लिये 'टोप' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है, परन्तु उत्तरी भारत के लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। मद्रास मैनुअल आफ एडमिनिस्ट्रेशन ❀ में हैट के लिये 'टोपी' तथा शिरस्त्राण के लिये 'टोप' शब्द का प्रयोग किया गया है।

खोगी—'आईन' की सूची में 'दबलगा' के बाद 'खोगी' (नं० ५३) लिखा है; सम्भवतः इसका प्रयोग भी सिर की रक्षा के लिये ही होता रहा होगा, इसका कोई चित्र भी प्राप्त नहीं है, इसलिये इस शब्द को स्पष्ट करना मुश्किल है। यह शायद देहाती शब्द घोघी इस शब्द का ही रूप है।

मिगफर—स्टीन गैस के अनुसार यह इस्पात का जालीदार काम है जो लड़ाई के समय टोप के नीचे, चेहरे की सुरक्षा के लिये पहना जाता था। स्पष्टतः मिगफर गर्दन और पीठ तक लटकता हुआ एक जालीदार जिरह या जैसा कि 'आईन' भाग १ की १२ वीं प्लेट न० ४५ में दिखाया गया है, साथ ही इस प्लेट पर तथा पृ० ११२ नम्बर ५४ पर 'जिरीहकुला' लिखा है। गुलामअली खाँ के इतिहास के अनुसार अब्दुल्ला खान कुतबुल मुल्क गिरफ्तार होने के पहले एक तीर से घायल हो गया था जो इसी मिगफर में से गुजरता हुआ उसे लगा था। यह वर्णन हसनपुर के युद्ध का है जो १३ नवम्बर १७२० को हुआ था। नीचे लिखा शेर शायद इसी भाव पर लिखा गया था :—

चह यारे कुनद मिगफरो जोशन अम,
चूं बारी ना कर्द अख्तर रोशन आम।

अर्थात् 'यदि खुदा ने मेरे सितारे को चमकने के लिये नहीं बनाया है तो मिगफर मेरी कौन-सी मदद कर सकता है?' †

बख्तर—यह सामान्य रूप से शरीर की रक्षा करने वाले कवच का नाम है, चाहे यह 'चार-आईना' रहा हो या जिरह (जालीदार लिबास)। स्टीन गैस ने इसे पीठ और सीने को ढँकने वाला इस्पात का कवच माना है। 'दस्तूर उल-इन्शा' के पृ० २२८ पर भी इसका उल्लेख है। 'आईन' भाग १ की सूची में बख्तर ५८ वें नम्बर पर है और १२ वीं प्लेट पर ४७ वें नम्बर पर दिखाया गया है। चित्र से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बख्तर इस्पात की प्लेटों का जुड़ा हुआ रूप था।

❀ लेफ्टिनेन्ट कर्नल फिट्ज क्लारेन्स को मन्सटर का अर्ल बना दिया गया था, डॉ० हार्न ने पृष्ठ ८ पर मुस्लिम फौजी शब्दों से सम्बन्धित प्रश्नों के लेखक के रूप में इन्हीं को लार्ड मन्सटर के नाम से लिखा है।

† 'मुकद्दमा-ए-शाह आलम नामा' ब्रि० म्यू०

चार-आईना—इसका शाब्दिक अर्थ 'चारदर्पण' है, इसके चार भाग होते थे, एक इस्पात की प्लेट सीने के लिये, दूसरी पीठ के लिये, तथा दोनों बगलों के लिये दो छोटी प्लेटें होती थीं। चारों इस्पात की प्लेटें चमड़े के फीतों द्वारा आपस में मिली रहती थीं। 'आईन' भाग १ के पृष्ठ ११२ पर यह ५० वें नम्बर पर है और तेरहवीं प्लेट के ४६ वें नम्बर पर इसे दिखाया गया है। इजर्टन की किताब में भी इसे ६६ वीं प्लेट पर और फिर पृ० १४४ में दिखाया गया है। इन्डिन म्यूजियम में रखे हुये 'चार आईना' के विभिन्न नमूनों पर लिखे हुये नम्बर निम्नलिखित है :—नम्बर ३६४, ४५०, ४५२, ५६६, ५७०, ५८७, ७०७, ७६४।

जिरह—यह एक इस्पात का कोटनुमा ढाँचा था जिसकी आस्तीनें भी इस्पात ही की होती थी (दस्तूर-उल-इन्शा, पृ० १२८)। इस लोहे के कोट की लम्बाई घुटनों तक होती थी (इजर्टन, पृ० १२५)। 'आईन' १, में यह पचासव नम्बर पर है और इसी पुस्तक की तेरहवीं प्लेट के ४६ वें नम्बर पर इसका चित्र है। इन्डिन म्यूजियम में जिरह के छः नमूने हैं नम्बर ३६१, ३५२, ४५३, ५६१, ५६१ (टी) और ७०६, 'आईन' भाग १ की प्लेट के आधार पर यह मानना उचित है कि जिरह के ऊपर से बख्तर या 'चार-आईना' पहना जाता था।

जैवह—ब्लाक मैन के 'आईन' भाग १, पृ० ११७ के अनुसार जैवह प्रतिरक्षात्मक चीजों का सामान्य नाम था, इसका कोई चित्र भी नहीं दिया गया है। अर्सकिन ने अपनी 'हिस्ट्री' भाग २, पृ० १८४ में जैवह के स्थान पर 'जवा' लिखा है। स्टीनगैस के अनुसार यह शब्द अरबी जुबाव के 'जुब्बाल' से बना है और इसे 'जुब्बाली' होना चाहिये। आलमगीरनामा' में यह शब्द इस प्रकार प्रयोग किया गया है "तन बा-ए-जबह ओ जोशाँ पैरास्ताह" अर्थात् 'जबह' और 'जोशाँ' से सज्जित शरीर। 'अहवाल-उल-खवाकीन (११४७ हिजरी) में इसे 'जैवह' लिखा गया है। 'अकबर-नामा' में भी किसी तरह के 'जैवह' का उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार चित्तौड़ का एक विख्यात राजपूत एक 'जैवह-ए-हजार-मीखी' पहनता था। स्पष्टतः यह लिबास छोटी-छोटी कीलियों (मीख) से ढका होता था।

'दस्तूर-उल-इन्शा' के अनुसार शरीर की रक्षा के लिये प्रयोग की जाने वाली चीजों में ये चीजे और थीं। जोशाँ, जिहलम, अंगरखा और दगला। अन्य पुस्तकों में कुछ अन्य नाम भी दिये गये हैं जैसे जाम-ए-फताही, चिहिलकद, सादिकी, कोठी भन्जू और सलकंवा (आईन, नम्बर ६६) का कोई चित्र प्राप्त नहीं है, मैं इसका अर्थ भी नहीं समझ पाया, क्योंकि यह शब्द पहली ही बार मेरे सामने आया है। कुछ अन्य शब्द जो मेरी समझ से बाहर है, वे हैं। हरहाई' (ब्रि० म्यू० ६५६१

और १६४१) और 'दस्तूर-उल-इन्शा' में तीन चीजों के नाम खूबी, मल्क, मखारी। इनके अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ थीं। दस्ताना, रानक और मोजा-ए-आहनी।

जोशन—'आईन' की सूची में इसका ५६ वाँ नम्बर है और १३ वीं प्लेट के ४८ वें नम्बर पर इसका चित्र बना हुआ है। ऐसा लनता है कि सीने से पेट तक के भाग की सुरक्षा के लिये इसका प्रयोग होता था ब्लाकमैन के अनुसार यह छाती और पेट को बचाव करता था।

झिलम—डिक्शनरी (शेक्शपियर, ८२५) के अनुसार जिरह-बख्तर आदि के लिये यह हिन्दी शब्द है जिसका अर्थ 'लोहे का कोट' या 'टोप की चेहरा ढँकने वाली जाली' है। मैं नहीं जानता कि इसका स्वरूप या उपयोग क्या था। स्टीन गैस ने इसे 'चहलम' (एक प्रकार का कवच) या 'चिहल्तह' (लोहे का कोट) माना है। कामराज की पुस्तक में एक स्थल पर लिखा है :—'मीर मुशरिफ तेजी से आया, उसने अपने चेहरे से अपना 'झिलम' उठा दिया, इससे पता चलता है कि यह चीज टोप से सम्बन्धित चेहरा ढँकने वाली लोहे की जाली से मिलती जुलती है। यह नाम 'आईन' में नहीं है।

अंगरखा—'आईन' भाग १, पृ० ११२ पर इसका ६३ वाँ नम्बर है और चौदहवीं प्लेट के ५२ वें नम्बर पर इसका चित्र बना है। चित्र के अनुसार अंगरखा एक लम्बा, ढीला ढाला और काफी चौड़ा ऊपरी पहनावा है जो जिरह बख्तर आदि के ऊपर से पहना जाता है।

दगला—यह कई तहों में रुई के समय सिले हुये कपड़ों की एक कोट थी।

जाम-ए-फताही—यह शब्द 'अकबरनामा' (लखनऊ एडीशन) भाग २, पृष्ठ ८६ में मिलता है। सम्पादक की टिप्पणी के अनुसार यह एक 'लिबास है जो कि युद्ध के दिन जिरह बख्तर आदि के नीचे पहना जाता है, और इस पर कुरान के कुछ अंश खुदे होते थे। स्टीन गैस ने इसका अर्थ 'एक सुन्दर रेशमी पोशाक' बताया है। सूडान में खलीफा (जो अब यूनाइटेड सर्विस इन्स्टीट्यूशन में हैं) जो कोट पहनते थे, वे दगला के नमूने माने जा सकते हैं क्योंकि उन पर भी कुछ विशेष शब्द लिखे या कढ़े हुये या सिले हुये होते हैं।

चिहिलकद :—'आईन' की सूची में इसका नम्बर ६७ है और चौदहवीं प्लेट के ५४ वें नम्बर पर इसका चित्र है। "अहवाल-उल-खवाकीन" में मुहम्मद कासिम इसे 'चलकत' लिखता है। यह जिरह बख्तर आदि के ऊपर से पहना जाने वाला एक तंग और चुस्त वस्त्र था और सम्भवतः इसी को स्टीनगैस और शेक्सपियर ने 'चिहल-तह या 'चिल्ता' (शाब्दिक अर्थ ४० तहें) लिखा है।

सादिकी—('आईन' पृ० ११२, नम्बर ६२; १४ वीं प्लेट पर ५ नम्बर

५१)। यह भी लोहे के तारों का कीलदार कोट था, परन्तु इसमें कीलें लगी होती थीं।

कोथी—('आईन' पृ० ११२, नम्बर ६१; चित्र १४ वीं प्लेट के ५० वे नम्बर पर), यद छाती पर पहने जाने वाली इस्पाती प्लेट के नीचे पहना जाने वाला तारों का बुना हुआ एक लम्बा कोट था जो सामने की ओर नीचे से खुलता था।

भन्जू—('आईन' पृ० ११२, नम्बर ६४;) इस शब्द को मैंने अन्यत्र नहीं पाया हैं, सम्भवतः यह हिन्दी शब्द है पर शेक्सपियर की डिक्शनरी में भी यह शब्द नहीं है। इसका केवल एक चित्र अवश्य है जिसे इजर्टन ने अपनी किताब के पृ० २३ के सामने पहली प्लेट के नवें नम्बर पर प्रस्तुत किया है। मेरे विचार से यह बिना आस्तीन की जैकेट थी।

कम्बल—सम्भवतः इसी के आधार पर एक फौजी दल का नाम कम्बल-पोश पड़ा था। सम्भवत; यह कोई मोटा वस्त्र था जिसके ऊपर कम्बल की खोल लगी रहती थी। रुई की तहों से बने हुये मोटे वस्त्र ऊन से भरे हुये मोटे वस्त्र भी बनाये जाते थे जिन पर कटार आदि का असर नहीं होता था। रेशमी टुकड़ों से भरे हुये एक प्रकार के मोटे वस्त्र, गोली को भी रोक सकते थे, ऐसा वर्णन भी मिलता है ('सीर' भाग १, पृ० १४३)। इस तरह की प्रतिरक्षात्मक वस्तुएँ साधारण सिपाहियों द्वारा भी प्रयोग की जाती थी। "देशी रियासतों का लगभग प्रत्येक सैनिक अपने सिर की सुरक्षा के लिये सिर के चारो तरफ और नीचे दाढ़ी तक कई तहों में सूती वस्त्र लपेटता था, इसी तरह गर्दन के पिछले भाग की सुरक्षा के लिये भी सूती वस्त्रों का ही सहारा लिया जाता था। उसका जैकेट, जिसमें रुई भरी रहती थी, इतना कड़ा होता था कि शरीर को वह एक तने हुये कवच के रूप में ढँक लेता था। बिना इस जैकेट को काटे तलवार की नोक उनके शरीर तक नहीं पहुँच सकती थी।' (वैलेन्टाइन ब्लैकर, "वार" पृ० ३०२)।

घुघवा—यह सज्जा की वस्तु है और आईने अकबरी की सूची नं० ५५ में दी गयी है। यह अवश्य किसी प्रकार के कवच का कोई सामान है। यह शब्द हिन्दी का है पर इसके मूल का पता नहीं चला है। प्लेट १३ सं० ४४ में इस वस्तु का प्रदर्शन किया है जो एक समूचे कोट की तरह है। ईजरटन की प्लेट सं० १ चित्र ४ में यह एक बिलकुल भिन्न प्रकार की वस्तु के रूप में दिखायी गयी है। इसके आकार प्रकार को कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसका क्या उपयोग होता था, इसका पता चलना कठिन है। यह शब्द खोघी या घोघी से सम्बन्धित प्रतीत होता हैं। पूर्वी हिन्दी में एक शब्द है घोघा। इस ढंग से घुघवा शब्द हिन्दी प्रयोगानुसार घोघा का छोटा रूप हो सकता है।

कण्ठ-शोभा—('आईन' की सूची में ७० वां नम्बर), इजर्टन की पहली प्लेट के सातवें चित्र के अनुसार यह गरदन में पहनी जाने वाली चीज थी। 'रानक' (नम्बर ६६) और 'मोजा-ए-आहनी' (नम्बर ७१) ये दोनों चीजे घोड़े नहीं, बल्कि सिपाही पहनते हैं, परन्तु न जाने कैसे ब्लाकमैन ने अपनी टिप्पणी में लिख दिया है कि कण्ठ-शोभा (नम्बर ७०) घोड़ों के गले में पहनाई जाती है।

दस्ताना—यह एक कीलदार दस्ताना होता था जिसमें भुजा तक ढँकने के लिये इस्पात की खोल भी जुड़ी होती थी। 'आईन' की सूची में इसका नम्बर छुटा है और चौदहवीं प्लेट के नम्बर ५५ पर इसका चित्र है। इन्डियन म्यूजियम में में दस्तानों के जो नमूने रक्खे हुये हैं उनकी क्रम संख्या इस प्रकार है। ४५२, ४५३ ४५४, ४५५ (इजर्टक पृ० ११२) ५६८, ५७० (इजर्टन पृ० ११६), ५८७, ५६० (इजर्टन १२४), ७४५ (इजर्टन पृ० १३६ । इनमें से तीन का चित्र दिया हुआ है। दो का चित्र पृ० १२२ के सामने १२ वीं प्लेट पर और एक का पृ० १३६ के सामने चौदहवीं प्लेट पर।

रानक—'आईन की सूची में ६६ वें नम्बर पर 'राक' या 'राग' शब्द मिलता है जिसका कोई अर्थ नहीं होता। ब्लाकमैन की चौदहवीं प्लेट की चित्र संख्या ५६ के अनुसार यह पैर में पहनी जानेवाली लोहे की कोई चीज है। 'दस्तूर-उल-अम्ल' की पाण्डुलिपि में एक शब्द मिलता है जिसे रातक या रालक या रानक तो पढ़ा जा सकता है, पर वह 'राक' तो किसी भी तरह नहीं हो सकता। फारसी में जांघ को रान कहते हैं, इसलिए मेरे विचार से ब्लाकमैन द्वारा अनूदित 'आईन' में 'राक' के स्थान पर 'रानक' होना चाहिए। 'रानक' शब्द स्टीनगैस की पुस्तक में नहीं है।

मोजाए आहनी :—इस इस्पाती मोजे का उल्लेख आईन की सूची में ७१वें नम्बर पर है और इसका चित्र चौदहवी प्लेट के ५६वें क्रम पर है। यह रानक का छोटा रूप है।

पटका:—गुलाम अली खाँ के 'मुकद्दमा' में 'पटकह—पोशाँ' नाम का एक शब्द मिलता है। यह भी सैनिक साज सज्जा की कोई वस्तु है पर मैं नहीं जानता कि यह क्या है। स्पष्टतः यह प्रशंसात्मक अर्थ में नहीं प्रयोग किया गया है।

सिपाहियों की प्रतिरक्षात्मक वस्तुओं के बर्णन के बाद अब हम घोड़ों की साज सज्जा का वर्णन करेंगे। हाथियों की साज-सज्जा का वर्णन एक अलग अध्याय में किया जायगा।

कजीम—('आईन' पृष्ठ ११२, नं० ७२, चित्र चौदहवी प्लेट के ५७वें नम्बर पर) अर्सकिन की 'हिस्ट्री' में इसे 'किचिम लिखा गया है। यह घोड़े के पिछले भाग की सुरक्षा के लिए एक गद्दीदार आसन (अर्तक-ए-कजीम-'आईन नं० ७३) के ऊपर से रखा जाता था।

घोड़े के कन्द प्रतिरक्षात्मक साजों में कशाका (आईन ११२,नं० ७४) जो सामने की ओर लगाया जाता था, और 'गरदनी' ('आईन' नं० ७५) मुख्य थे। ब्लाकमैन के अनुसार (पृष्ठ ११२, टिप्पणी ३) गरदनी घोड़े के सीने के सामने तक लटकती रहती है, पर मेरे विचार से यह व्याख्या ठीक नहीं है। 'गरदनी' आज भी घोड़े के सर और गरदन को ढँकने वाले वस्त्र को कहते है जो घोड़े के गद्दीदार आसन का ही एक भाग है। ब्लाकमैन की १५वीं प्लेट के ५८वें चित्र में यह गरदन की शक्ल का बना हुआ है; इजर्टन की पहली प्लेट के तीसरे चित्र में इसे अलग से दिखाया गया है। फारसी में 'कशाका' शब्द हिन्दी के 'तिलक' का समानार्थी है ; यह तिलक माथे के बीच में लगाया जाता है ।

घोड़े की साज-सज्जा प्रायः सोने, चाँदी, जरी के काम तथा हीरे जवाहरातों द्वारा सजाई जाती थी। इस तरह के कीमती सामानों से सजे हुए घोड़ों को 'साज-ए-तिला' या 'साज-ए- मरस्सा कहा जाता था। घोड़े की साज-सज्जा से सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओं के नाम इस प्रकार हैं:—पलटा (सर-रक्षक) इनान (रास) जेरबन्द (तंग) दुमची (गद्दी को पूंछ से बाँधने वाली) खोगिर (गद्दी) अस्तक (जीनपोश) बालातंग (ऊपरी पेटी) रिकाब, शिकारबन्द (सुसज्जित कोना)। गद्दी का उठा हुआ भाग या तो 'करबूस' (स्टीनगैस पृष्ठ ६६३) या 'काश' (स्टीन गैस ६४७) होता था। पहला शब्द शेख गुलाम हसन बिलग्रामी द्वारा ११६८ हिजरी (१७८३) में लिखे गए 'तजकिरह' में है और दूसरा शब्द रूस्तम अली बिजनौरी द्वारा लगभग १८०३ में लिखे गए 'हिस्ट्री आफ दि रुहेलाज' में मिलता है। निजाम उद-दीन ने (इशरत, सियाल कूटी) ने अपने 'नादिरनामा' में यलतंग(पोश' का उल्लेख किया है जो घोड़ों की सज्जा में प्रयोग किया जाता था। मुझे यह पता नहीं लग सका कि यह क्या चीज है। अस्तबल से सम्बन्धित सूची 'आईन' भाग १ पृ० १३६ में देखी जा सकती है।

———

आठवाँ अध्याय

साजसज्जा—'ब' आक्रामक शस्त्र

प्रायः घुड़सवारों के पास विभिन्न प्रकार के अनेक अस्त्र होते थे। उनके सबसे अधिक भरोसे के अस्त्रों को 'कोताह-यराक कहा जाता था। ये अस्त्र छोटे होते थे और गुत्थम-गुत्था की लड़ाई में प्रयोग किये जाते थे, बदायूनी (भाग १ पृ० ४६०) ने इसी तरह के एक शब्द 'कोताह-सिला' का प्रयोग किया है जिसका अर्थ रैंकिंग (पृ० ५६३) ने हथियारों की कमी बताया है, परन्तु मेरे विचार से बदायूनी का यह शब्द 'कोताह-यराक' का समानार्थी है। ये छोटे अस्त्र ५ श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—(१) तलवार और ढाल (२) गदा (३) लड़ाकू कुल्हाड़ियां (४) भाला (५) कटार। अधिक दूरी पर स्थित दुश्मन पर हमला करने के लिए (क) तीर-कमान (ख) बन्दूक या तुफंग और पिस्तौल का प्रयोग होता था। अग्निवाण भी प्रयोग में आते थे, पर ये तोपखाना के अधीन थे जिसका अध्ययन हम बाद में करेंगे।

नीचे दिए गए अस्त्रों के विवरण से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ये सभी अस्त्र एक ही साथ एक व्यक्ति के पास रहते थे ; फिर भी पर्याप्त अस्त्र उनके पास रहते थे और एक बड़ी फौज में ये सभी अस्त्र विभिन्न व्यक्तियों द्वारा यथावसर प्रयोग में लाये जाते थे। एक व्यक्ति द्वारा ले जाये जाने वाले हथियारों के विषय में फिटजक्लेरेंस ने निजाम के एक जमादार का उदाहरण लेकर, स्पष्ट लिखा है कि,' इस जमादार के अधिकार में दो उत्तम ढंग से सुसज्जित घोड़े रहते है। जमादार हरे रंग का बहुत ही शानदार इंगलिश ब्राड क्लाथ (रंगीन दो सुती) पहनता है जिसमें सोने का काम किया रहता है। वह बहुत कीमती और सजी हुई पेटियाँ बाँधता है। उसकी पीठ पर भैंस के चमड़े से बनी हुई तथा काम की हुई ढाल बँधी रहती है। उसके हथियार हैं—दो तलवारें, एक कटार और अंग्रेजी पिस्तौल ; उसका एक नौकर उसकी बन्दूक लेकर चलता है।" मूर ने अपने 'नैरेटिव' पृ० ६८ में जो व्यंग्यात्मक विवरण दिया है उससे भी सरदारों द्वारा ले जाये जाने वाले हथियारों के विषय में काफी जानकारी मिलती है। उसके अनुसार १७६१ में निजाम के बहुत से सरदार जिरह बख्तर से तथा प्रतिरक्षात्मक एवं आक्रामक अस्त्रों से लैस थे। उनमें से अधिकांश के पास दो तलवारें, आधे दर्जन पिस्तौलों की एक पेटी, एक भाला, एक कटार

और एक बन्दूक थी। एक आदमी एक लम्बे दुबले पतले अस्थिपंजर मात्र घोड़े पर बैठा हुआ या और उसके कन्धे से अगल बगल साँपों की २५-३० पूछे लटक रही थीं उसकी कमरबन्द में दो बड़ी पिस्तौल दिखायी पड़ रही थी इनसे भी बड़े आकार की एक पिस्तौल घोड़े की गरदन पर रखी हुई थी जिसकी नली घोड़े के उन लम्बे असाधारण रूप से लम्बे कानों की ओर थी, जों आक्रामक दुश्मनों को दहला देने की हस्ती रखते थे। उस सवार के अगल बगल भी घोड़े के विभिन्न अंगों पर बिभिन्न अस्त्र रखे हुए थे, दोनों पैर रखने के स्थानों (रकाब) पर एक-एक आग्नेय अस्त्र खड़े थे और एक तीसरा अस्त्र बीच में रखा हुआ था जिसकी नली वेचारे घोड़े के पूछ की ओर थी ...। इनके अतिरिक्त उसके पास दा कटारें, एक भाला, एक बन्दूक और एक ढाल थी...। वह लोहे का कीलदार कोट पहने हुआ था जिसके नीचे से लाल रंग की कई तहों वाली मोटी जैकेट दिखाई पड़ रही थी।" विल्क्स (भाग ३, १३५) मेंभी हथियारों की किस्मों का वर्णन किया है —१६६१ ई० में तिजाम अली खाँ की घुड़सवार सेना को साज सज्जा के विषय में उसने लिखा कि—"किसी भी राष्ट्रीय या व्यियतगत संग्रह में ऐसा साज सामान या अस्त्र नहीं मिल सकता जो इस रंग विरंगी भीड़ के पास न रहा हो।"

१. तलवारें

फिट्जक्लरेन्स ने तलवार बांधने के तरीके के विषय में अपने 'जरनल' पृ० ६६ में सन् १८१७ में कम्पनी की सेवा में नियुक्त देशी सवारों का वर्णन इस प्रकार किया है :—"उनकी तलवार बाँधने की पेटियाँ बहुत चौड़ी और खूबसूरती से सजी होती हैं और यद्यपि वे घोड़े पर रहते हैं, फिर भी वे तलवार को कन्धे पर रखते है।" परन्तु इस वर्णन से हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि हमेशा तलवार एक पेटी के सहारे कन्धे से लटकी रहती थी। ब्रि० म्यू० मूल प्रति, सं० ३७५ की ८ वीं प्लेट पर के चित्र में आजमशाह ने कमर में बँधी हुई पेटी से जुड़े हुए तीन फीतों द्वारा अपनी तलवार बाँध रक्खी है। 'तलवार' हिन्दी शब्द है; अरबी में इसे 'तेग' और फारसी में 'शमशीर' कहा जाता है। एक तरह की छोटी तलवार भी होती थी जिसे 'नीमचट्ट शमशीर' (स्टीनगैस) कहा जाता था। जब ११३७ हिजरी (१७२५ ई०) में इब्राहीम कुली खाँ ने अहमदाबाद में सूबेदार के महल के पास हामिद खाँ पर हमला बोला था, तो उसके पास यही अस्त्र था ('मीरात-ए-अहमदी')। इस हथियार का नाम 'अकबरनामा' (लखनऊ प्रकाशन) भाग २, पृ० २२५ में भी मिलता है। तलवार के लिए 'मुजमिल-उत-तारीख बाद नदिरिया' 'पलारक' शब्द का प्रयोग हुआ है, परन्तु यह शब्द हिन्दुस्तानी किताबों में नहीं मिलता। अरबी में कभी-कभी तलवार को 'सैफ' भी कहा जाता है।

तलवार के विभिन्न अंगों के नाम (ब्रि० म्यू० ६५६६) इस प्रकार हैं :— तेगा–(नीचे का तेज भाग—ब्लेड) नाबह (खांच) कब्जा (मुठिया); जानरेला; सरनाल या मुहनाल और तहनाल (म्यान पर धातु के खोल) कमरसाल (पेटी) ❀ बन्दतार किसी तलवार का गुण उसके 'आब' या जौहर से जाना जाता था। कमर की पेटी के लिए 'हमायल' (स्टीनगैस पृ० ४३०; हिमालत का बहुवचन)। किसी दिलेर खाँ तथा एक अन्य व्यक्ति की आपसी वार्ता का वर्णन शाह-आलम के सामने करते समय (११७३ हिजरी) 'इबारतनामा' में भाग १, पृ० ६१ में खैर-उद्दीन ने इस शब्द का प्रयोग निम्न प्रकार से किया है:—"फिदवी अज वक्त की सिपार व शमशीर रा हमावल कर्दहएम, गाह बा दुश्मने खुद पुश्त ना नमूदह" अर्थात् "हमने जिस दिन से अपने कन्धे में तलवार और ढाल लटकाई, उस दिन से कभी दुश्मनो को पीठ नहीं दिखाया।" तलवार की पेटी के लिए एक और शब्द 'कमर-ए-खंजर' (स्टीनगैस) का प्रयोग मुझे मिला है। यह शब्द बदायूनी (४४१ पृ०) में और रैंकिंग (पृ० ५६६) भी है।

शमशीरः—यह शब्द विशेष रूप से वक्राकार तलवार के लिए प्रयोग किया जाता है। जैसा कि उसकी शकल और छोटे आकार के कब्जे से स्पष्ट है, यह एक काटने वाला हथियार है।

धूप—यह एक लम्बी सीधी तलवार थी जिसे मुगलों ने दक्षिण वालों से ग्रहण किया था। इसका फल (ब्लेड) बहुत चौड़ा होता था, लम्बाई चार फीट थी और इसकी मुठिया (कब्जा) क्रास की तरह होती थी। यह तलवार शाही तथा सम्मानित समझी जाती थी। यह तलवार किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति द्वारा बड़े सामन्तों और उमरा के आगे आगे ले जाई जाती थी; इसकी नोक आसमान की ओर रहती थी और इसकी म्यान मखमली होती थी। यह तलवार (धूप) विशेष अवसरों पर ही प्रदर्शित की जाती थी। जब सम्मानित अमीर-उमरा दरबार में रहते थे, या किसी अन्य कार्य में व्यस्त रहते थे तो यह तलवार उनके तकिए पर रखी रहती थी। इस प्रकार की तलवार बादशाह द्वारा बहादुर सिपाहियों, उत्साही सरदारों तथा स्वामिभक्त दरबारियों को सम्मानित करने के उद्देश्य से प्रदान की जाती थी ('सीर' भाग १, पृ० ५४६,५५१; भाग २ पृ० ६५; भाग ३, पृ० १७२)। मिस्टर इजर्टन (पृ० ११७) ने निम्नलिखित वाक्य-खण्ड 'आईने-ए-अकबरी' से उद्धृत किया है:—"धूप-सीधा फाल, दक्षिणवासियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली।" मैंने ये शब्द ब्लाकमैन के अनुवाद में कहीं नहीं पाया।

❀ कानून-ए-इस्लाम के अनुसार यह औरतों द्वारा पहनी जाने वाली धातु की की पेटी हैं, परन्तु बहुत सी हिन्दुस्तानी पुस्तकों में यह पुरुषों के सज्जा की वस्तु के रूप में लिखी गयी है।

खाँडा—(आईन' भाग १, पृ० ११२ की सूची में दूसरा नम्बर) १२ वीं प्लेट के दूसरे क्रम पर बने चित्र के अनुसार यह भी धूप ही के आकार का ही शस्त्र था।

सिरोही—म-आसिर-उल उमरा भाग ३ के अनुसार १०२४ हि० (१६१५) में अजमेर में राजा सूर्य सिंह राठौर और उसके भाई कृष्ण सिंह के बीच हुए युद्ध के बाद ही इस शस्त्र को बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हो गई। "जिस व्यक्ति के सिर पर इस भारतीय लोहे का वार पड़ता था, उसका शरीर कमर तक चीर उठता था और यदि वार शरीर पर पड़ता था, तो उसका शरीर दो भागों में कट जाता था।" इजर्टन (पृ० १०५) के अनुसार इस तलवार का "ब्लेड जरा सा वक्र था और इसका आकार दमिश्क की तलवार की तरह था।" इन्डियन म्यूजियम में इसका कोई नमूना नहीं है। हेन्डले ने 'मेमोरियल्स आव जयपुर एग्जीबीशन" (१८८३) में २६ वें प्लेट के चौथे नम्बर पर अलवर के शस्त्रागार की एक तलवार का चित्र दिया है और उसने इसका नाम शिकारगाह या सिरोहीगजवेल लिखा है। इसका ब्लेड साधारण तलवार से हल्का और पतला प्रतीत होता है। स्पष्टतः इस तलवार का नाम राजपूताना में स्थित सिरोही के नाम के आधार पर पड़ा है जहाँ कि यह तलवार बनाई जाती थी। यहाँ की तबवारें "आज भी, पहले ही की तरह अपने गुण के लिए प्रसिद्ध हैं" (थार्नटन, ८७४) सिरोही नगर २४'५६' अक्षांश और ७२'५६' देशान्तर पर बसा हुआ है।

पट्टा—यह पतले धार की सीधी तलवार है और आज भी मुहर्रम के जुलूसों में इसका प्रदर्शन देखा जा सकता है। इसकी मुठिया (कब्जा) ऊपर कलाई में फंसने लायक बनी रहती है। इजर्टन की पुस्तक में इसके नमूनों की क्रम संख्याएं इस प्रकार हैं:—४०२, ४०३, ४०४ (पृ० ११०) ५१५ (पृ० ११७) ६४३ (पृ० १३१)।

गुप्ती—आईन की सूची में यह तीसरा है, यह एक सीधी छड़ी नुमा सीधी तलवार है; जो प्रायः छड़ी के खोल में ही रखी जाती है। इस तरह गुप्त रहने के कारण ही इसका नाम गुप्ती पड़ा। आईन की १२ वीं प्लेट पर तीसरा चित्र इसी का है। इजर्टन की पुस्तक में इसके नमूनों की क्रमसंख्या है;—५१६, ५१७, ५१८, ५१६ (पृ० ११७) ६४१, ६४२ (पृ० १३१) ब्लाकमैन द्वारा गुप्ती की मूठ का जो चित्र दिया गया है, वह फकीरों की बैसाखी की मूठ से एकदम मिलता जुलता है। इजर्टन ने पृ० ४७ पर और फिर १३ वीं प्लेट पर इसका चित्र दिया है, इसकी लम्बाई केवल एक कटार के बराबर है। जोनाथन स्काट के अनुसार 'यह एक छोटा डंडा है जिसकी लम्बाई तीन फीट होती है। फकीर बैठने पर

इस छड़ी की टेक लेते हैं और ऊँचे ओहदे वालों के पास भी यह नम्रता के प्रतीक के रूप में रहती है।"

ढाल—तलवार के साथ ढाल का उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना कि धनुष के साथ बाण का। एक तलवारबाज के पास ढाल का होना अत्यन्त ही आवश्यक होता था। यह युद्ध के समय बाँए हाथ में रहती थी और जब इसका प्रयोग नहीं किया जाता था तो यह कन्धे पर लटकी रहती थी। ढाल आईन की सूची में ४७ वें और ४८ वें नम्बर पर है और इसका चित्र तेरहवीं प्लेट के ४० वें और ४१ वें नम्बर पर बना हुआ है। ढालें प्रायः इस्पात या चमड़े की बनती थीं और इनका घेरा १७ से २४ इन्च तक होता था। यदि ढाल इस्पात की होती थी तो प्रायः उस पर सुनहले चित्रों एवं आकारों से सजावट की जाती थी और चमड़े की ढालों पर सोने, चाँदी से सितारे आदि टाँके जाते थे। इजर्टन ने (पृष्ठ १३३) बादशाह बहादुरशाह (१७०७-१२) की दो शानदार ढालों का वर्णन दिया है। जो कि इस्पात की बनी थी और कभी बादशाह के पास थी। चमड़े की ढाल बनाने के लिये साँभर, हिरन, भैंसों, नीलगाय, हाथी और गैंडा की खाल सबसे मँहगी तथा ढाल बनाने के लिए सर्वोत्तम मानी जाती थी। ब्राह्मणों को चमड़े की ढाल के बदले में लाल रंग की, रेशम की ४०-५० तहों की सिलकर तैयार की हुई ढाल दी जाती थी (इजर्टन)। इन्डियन म्यूज़ियम में ढालों के बहुत से नमूने हैं। देखिए इजर्टन—पृ० १११, ११८, १३४, १३६। आश्चर्यजनक नागफणि (साँप के चमड़े की ढाल) नं० ३६५ (पृ० १०३) मुगलों का अस्त्र नहीं है।

चिखा और तिलवा—'आईन' भाग १ (पृ० २५२) के अनुसार ये ढालें उन शमशीरबाजो द्वारा प्रयोग में लाई जाती थी जो सदैव कूच करते समय अकबर के साथ ही चलते थे (अकबरनामा—भाग २, लखनऊ एडीशन पृ० २२५)।

ढाल ही के सिलसिले में 'आईन' के पृ० १११ के नं० ४६ में खेरा लिखा है पर इसका कोई चित्र नहीं दिया गया है। मेरे विचार से यह गिरवा (शेक्सपियर, पृ० १६६५) या गरवा (स्टीनगैस, पृ० १०८१) का समानार्थी है। मुझे किसी भी कोष में खेरा शब्द नहीं मिला है। इसे 'घेरा' पढ़ा जा सकता है जिसका सम्बन्ध ढाल के गोल घेरे से हो सकता है। आईन में पचासवें नम्बर पर ब्लाकमैन ने 'पहरी' का वर्णन किया है। उसके चित्र के अनुसार यह बेंत की बुनी हुई सधारण ढाल है, परन्तु इसे अर्थ के हिसाब से 'फरी' पढ़ा जाना चहिए। मारु या सिंगौटा हरिण की सींगों का बनता था (इजर्टन पृ० १११, १३३)

(ख) गुर्ज

यह आतंकित कर देने वाला शस्त्र एक मुगल योद्धा की साज-सज्जा का एक

आवश्यक अंग था। आईन की सूची में इसका २५ वाँ नम्बर है, गुर्ज की दो अन्य किस्में—'शशबर' और 'पियाजी'—२६ वें नम्बर पर है। ब्लाकमैन ने आखिरी किस्म (पियाजी) का चित्र नहीं दिया है और सम्भवतः वह स्वयं भी इस विषय में निश्चित रूप से नहीं जानता था कि यह क्या था। आईन में १२ वीं प्लेट के २३ वें नम्बर पर गुर्ज का चित्र बना हुआ है जिसके अनुसार यह एक छोटी मुठिया वाली वजनी छड़ी है जिसके दूसरी तरफ लोहे के ३ बड़े गोले जुड़े हुए थे। इसी गुर्ज की एक अन्य किस्म है 'शशबर'❀ 'आईन' की १२ वीं प्लेट के २१ वें चित्र के अनुसार इसमें गोले के आकार का एक ही सिरा होता था, परन्तु इजर्टन की पहली प्लेट के ३५ वें चित्र के अनुसार इसका आकार अर्धचन्द्र के समान था जिसमें केन्द्र से जुड़े हुए छोटे-छोटे काटने वाले ब्लेड लगे थे। इन्डियन म्यूजिम में 'गुर्ज' के तीन नमूने हैं। ४६६ नं० के नमूने की लम्बाई २ फीट ७ इन्च है जिसके दोनों सिरों पर काटने वाले ब्लेड लगे हुए हैं ये दोनों सिर एक के ऊपर एक लगे हुये हैं। चित्र नं० ५७४ के चित्र में २ फीट २ इन्च लम्बे एक इस्पात के छड़ के दूसरे सिरे पर ३ इन्च के घेरे का ग्लोबनुमा गोला लगा हुआ है। नं० ६१८ के चित्र में २ फीट २ इन्च लम्बी वजनी इस्पात की छड़ी है जिसके एक सिरे पर ६ काटने वाले सिरे लगे हुये हैं। इजर्टन ने इसी किस्म के ३ और शस्त्रों का नाम दिया है—धरा, गरगूज और कुण्डली काँसी। धरा (नं० ४६८, पृ० ११५ में ६ धार का ब्लेड और अष्टकोण के आकार का इस्पात का हत्था लगा हुआ है जिसकी लम्बाई २ फीट है। इसकी उत्पत्ति का स्थान कोल्हापुर माना जाता है। गरगूज के चार नमूने उपलब्ध हैं। नं० ३७३ और ३७४ (पृ० १०८, प्लेट १०) में टोकरी नुमा कब्जा और ८ ब्लेड वाला सिर है, उनमें से एक की लम्बाई २ फीट ७ इन्च और दूसरे की २ फीट ८ इन्च है। नं० ४६७ (पृ० ११५) में सात ब्लेड वाला सिर लगा है, इसकी मुठिया टोकरीनुमा है और लम्बाई २ फीट ४ इन्च है। नं० ४६६ (पृ० ११५) में भी ८ ब्लेड वाला सिर तथा उसी प्रकार का कब्जा है। परन्तु इसकी लम्बाई २ फीट १० इन्च है। 'कुण्डली—फाँसी' नं० ४७० पृ० ११५, प्लेट १०) एक १६ इंच लम्बा अस्त्र है जो खुले मुँह का होता हैं और आकार में बैरागियों की बैसाखी के समान होता है।

इस तरह के शस्त्रों में, मेरे विचार से 'पुश्त-खार' ('आईन' नं० ४१, १३ वीं प्लेट पर ३५ वाँ चित्र) जो कि हाथ की शकल का इस्पाती अस्त्र है तथा 'खार-ए-माही' को भी रखना चाहिये। 'खार-ए मही' एक लोहे का डन्डा होता

❀ इजार्टन के अनुसार बाबर ने इस अस्त्र का उल्लेख किया है परन्तु 'मेम्वायर्स' के डी-कर्टील के अनुवाद में मुझे यह नहीं मिला।

है जिसके हर तरफ कीलें उभरी रहती हैं। 'गजबाग' (आईन, नं० ४६, १३ वीं प्लेट पर नं० ३६) हाथियों को वश में करने वाले शस्त्र (अंकुश) को कहा जाता है।

'ग' कुलहाड़ी (तबर)

युद्ध में प्रयोग की जाने वाली कुल्हाड़ी (तबर) का 'आईन' की सूची में २८वाँ नम्बर है और १२वीं प्लेट के १२वें नम्बर पर इसका चित्र बना हुआ है। इस चित्र के अनुसार इसका ब्लेड तिकोना तथा नीचे का काटने वाला छोर चौड़ा है। जब यह सिरा नुकीला और दो सिर वाला होता था तो इसे 'जगनोल' (कौवे की चोंच) कहते थे (नं० ३०, १२ वीं प्लेट का २४ वाँ चित्र--'आईन' भाग १)। ऐसी कुल्हाड़ी को, जिसके एक सिरे पर चौड़ा ब्लेड तथा दूसरी तरफ नुकीला ब्लेड लगा होता था—'तबर जगनोल' (आईन, नं० ३२, १२ वीं प्लेट पर २६ वाँ चित्र) कहा जाता था। कभी-कभी लम्बे बेंट वाली कुल्हाड़ी भी प्रयोग में लाई जाती थी जिसे 'तरगाँल' ('आईन' नं० ३३, १२ वीं प्लेट का २७ वाँ चित्र) कहा जाता था। इजर्टन ने भी पहली प्लेट के २२ वें नम्बर पर उसका चित्र दिया है। तबर के सात नमूने उपलब्ध हैं:—३७५, ३७६, ३७७ (पृ० १०८) ७११, ७१२ ७१३ (पृ० १३७) और ७४६ (पृ० १४४)। पृ० ११४ के सामने की १० वीं प्लेट पर नं० ३७६ का चित्र भी दिया हुआ है। इन कुल्हाड़ियों के बेंट १७ से २३ इन्च तक लम्बे हैं। इन कुल्हाड़ियों के सिरों की एक तरफ की लम्बाई ५ से ६ इन्च तक दूसरी ओर की लम्बाई ३ से ५ इन्च है। इनमें से कुछ के सिरे अर्ध चन्द्राकार, हैं और एक कुल्हाड़ी का बेंट खोखला है जिसमें कटारें रखी जा सकती हैं। 'आईन' की सूची में २३१ वें नम्बर पर एक और हथियार का नाम दिया गया है— 'बसोला," नाम से यह बसुला (लोहारों का औजार) प्रतीत होता है परन्तु इसका चित्र (प्लेट १२, नं० २५) रुखानी से अधिक मेल खाता है।

दरबार में प्रदर्शन के लिये सेवकों के हाथ में चाँदी के तथा चित्रकारी किये हुये कुल्हाड़े रहते थे। इन सेवकों को 'यसावल' कहा जाता था, ('मीरात-उल इस्तिला')। इस शब्द के अतिरिक्त हमें 'चमखक,' 'चकमक,' और 'चकमाग' शब्द भी मिलते हैं (स्टीनगैस ३८८,३६६)।

'घ' भाला

सभी तरह के भालों के लिये सामान्यतः अरबी भाषा का शब्द 'सिनाँ' प्रयोग किया जाता था जिसका बहुवचन 'असनाँ' है (स्टीनगैस)। भाले की नोक 'सुनाइन्न' ('मीरात-ए-अहमदी,' स्टीन गैस) और भाले के पास (डन्डे) को 'बनाइन' कहा जाता था (स्टीनगैस) भाले की कई किस्में प्रचलित थीं। घुड़सवारों

द्वारा प्रायः 'नेजा' का प्रयोग किया जाता था, अन्य किस्मों का प्रयोग पैदल सिपाही या दरबार की सुरक्षा एवं व्यवस्था के लिये नियुक्त दरबान करते थे। इसका भी प्रमाण मिलता है कि मराठे एक प्रकार के छोटे भाले का प्रयोग करते थे जिसे फेंककर मारा जाता था ('जनरल-एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल') 'आईन-ऐ-अकबरी भाग १ (पृ० ११२) में भाले की ५ किस्मों का उल्लेख किया गया है—(१) नेजा (२) बरछा (३) साँक (४) सेन्थी (५) सेलरा; इनके नम्बर क्रम से २०, २१, २२, २३ और २४ हैं।

नेजा :—यह अस्त्र प्रायः घुड़सवारों द्वारा प्रयोग किया जाता था। नेजा एक लम्बे बाँस की लाठी में होता है जिसके सिरे पर लोहे का छोटा सा नोकदार सिर लगा होता है। स्टीनगैस के अनुसार नेजा एक छोटा भाला है। परन्तु हिन्दुस्तानी लेखकों की राय से यह मेल नहीं खाता, उनके अनुसार यह एक लम्बे डन्डे वाला अस्त्र है। नेजा आईन की सूची में २० वें नम्बर पर है (चित्र-प्लेट १२, नं १६) नेजा का हिन्दी समानार्थी शब्द मेरे विचार से भाला है। शेक्सपियर (पृ० ३८६) के अनुसार 'भाला' संस्कृत के 'भल्लशब्द से निकला है जो कि १०॥ फीट लम्बा होता है। नेजा, भाला तथा इस किस्म के ६ शस्त्रों का उल्लेख इजर्टन ने किया है जिनके नम्बर हैं ४६३ (पृ० ११५) ६०६, ६०७, ६०८, ६०६, ६१०, ६११, ६१२ नम्बर मे दो, (पृ० १३०)। इनमें से एक में लोहे का छोटा सिर और लम्बा बांस का डन्डा है, एक दूसरे में बेंत का डन्डा और तिकोना लोहे का सिर इनमें से चार भालों में १२ से १५ फीट की लम्बाई तक के बाँस के डन्डे लगे हुये हैं।है; इनकी लाठियों का निचला सिरा वजनी है और सिर छोटे तथा नुकीले हैं। नं० ६११ की लम्बाई ८ फीट और लोहे की लम्बाई १६ इंच है, नम्बर ६१२ में से एक के डन्डे की लम्बाई ६ फीट तथा दूसरे की ६ फीट ३ इंच है; दोनों के लोहे की लम्बाई २१ इंच है।

नेजा मराठा सैनिकों की साज सज्जा का इतना आवश्यक अंग था कि मुहम्मद कासिम औरंगाबादी अहवाल-उल-खवाकीन) उनके लिये नेजा वाजान' विशेषण का प्रयोग किया है। मराठों द्वारा भाले के प्रयोग के विषय में उसने लिखा है—"वे इसका प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि कोई सयार सैनिक उनके वार से बच नहीं सकता। अपने शत्रु के सामने वे २०,००० से ३०,००० तक की संख्या में भाले इतने घने रूप से तान लेते हैं, कि भालों की नोकों के बीच में एक बलिश्त का भी अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। यदि सवार इन नेजा बाजान को रौंदने का प्रयास करते हैं तो ये मराठे अपने भालों की नोक अपने हमलावरों की ओर करके उन्हें बिना घोड़े का कर देते हैं। जब घुड़सवार सेना उनपर हमला बोल देती है तो वे अपने भाँलों को आपस में लड़ाकर इतनी आवाज पैदा करते हैं कि घोड़े भयभीत होकर मुड़ जाते हैं और भाग निकलते हैं।"

भाले से हमला करने के तरीके के विषय में, ब्रि० म्यू की मूल पुस्तक संख्या ३६१० में एक चित्र दिया हुआ है जिसमें रफी-उश-शान की हाथी पर अब्दुस-समद-खान को घोड़े की पीठ पर से भाले द्वारा हमला करते हुये दिखाया गया है। उसका भाला उसके सर के ऊपर, हाथ की पूरी लम्बाई में तना हुआ है। अन्य चित्रों में भी एक घुड़सवार इसी ढंग से दूसरे घुड़सवार पर भाले से हमला करता है।

बरछा—यह एक हिन्दी शब्द है, कभी-कभी 'बरछी' शब्द भी प्रयोग में आता है। इजर्टन ने पृ० ११५ पर टाड के राजस्थान का यह उदाहरण दिया है—"मराठों के भाले को बरछा कहा जाता है।" शाब्दिक रूप में यह सत्य हो सकता है, परन्तु इससे यदि यह अर्थ निकाला जाय कि बरछा मुख्यतः मराठों का हथियार है, तो यह निष्कर्ष गलत होगा। हमें बरछे का नाम व चित्र दोनों 'आईन' में प्राप्त होता हैं, और उस समय सैनिक शक्ति के रूप में मराठों का संगठन ही नहीं हुआ था। यह उत्तरी भारत में सुपरिचित शब्द और अस्त्र है, जबकि महाराष्ट्र उत्तरी भारत से सैकड़ों मील की दूरी पर है। 'आईन' की १२ वीं प्लेट के १७ वें नम्बर पर इसका चित्र बना हुआ। इसकी विशेषता यह है कि इसका सिर और डन्डा, दोनों लोहे के ही बने हैं। इजर्टन ने भी पृ० ११३ पर काड्रिंगटन के संग्रह के दो नमूनों का उल्लेख किया है। यह हथियार इतना वजनी होता था कि सवार घोड़े की पीठ पर से इसे मुश्किल से सम्भाल सकते थे, इस लिये यह शस्त्र केवल पैदल सेना द्वारा प्रयोग किया जाता था।

साँक—इस शब्द को यह रूप ब्लाकमैन द्वारा दिया गया है ('आइन भाग १, पृ० ११०, नं० २२)। वर्तमान उच्चारण के अनुसार इसे साँग होना चाहिये सेक्सपियर (पृ० १२३६) के अनुसार 'साँग' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'शंक' या 'शक्ति' से हुई है। यह पूर्णरूपेण लोहे का ही होता था परन्तु आईन (१२ वीं प्लेट पर १८ वाँ चित्र) के अनुसार यह आकार में बरछे से बहुत छोटा होता था इसके विपरीत इन्डियन म्यूजियम में साँग के जो नमूने रखे हुए हैं उनकी कुल ७ फीट ११ इन्च है, जिसमें से सिरे या नोक की लम्बाई ही दो फीट छः इन्च है। उनके सिर लम्बे, पतले, तीन सिरे तथा चार सिरे वाले हैं, और पकड़ने की जगह पर मखमल लपेटा हुआ है। उनमें लगा हुआ डन्डा पूर्णतः लोहे का है (इजर्टन, नं० ७२, पृ० ६१, चित्र पृ० ७६ पर)। इनके नमूने का नम्बर ४६१ है जिसमें दो नमूने हैं (पृ० ११५)

वायनेट का हिदुस्तानी नाम संगीन से बना है जो सम्भवतः साँग से ही निकला है। साँग का सर, आकार में संगीन की ही तरह होता भी है।

सैंथी या सेंटी—यह एक हिन्दी शब्द है। शेक्सपियर (१३७०) के अनुसार यह एक छोटा भाला है। 'आईन' की सूची में इसका २३ वाँ नम्बर है और इसका चित्र १२ वीं प्लेट में १६ वें क्रम पर बना हुआ है। इसका डन्डा साँग से भी छोटा है। इजर्टन में इसका उल्लेख नहीं है।

सेलरा—('आईन' पृ० १११, चित्र नं० २०, प्लेट १२)—यह भी एक छोटा भाला है जिसके डन्डे की लम्बाई साँग से कम और सेन्टी से अधिक है। इजर्टन ने इसका उल्लेख नहीं किया है, और न तो मैंने 'आईन' के अतिरिक्त किसी अन्य पुस्तक में इस अस्त्र का नाम या चित्र ही देखा है। हो सकता है कि हिन्दी और संस्कृत के 'शूल' से इसका कोई सम्बन्ध हो।

भाले की अन्य किस्में :—इजर्टन ने भाले की चार और किस्में दी हैं—बल्लम, पन्दीबल्लम, पंजमुख और लाँग, यद्यपि 'आईन' में इनका उल्लेख नहीं है।

बल्लम—हिन्दुस्तान में यह एक सुपरिचित शब्द एवं शस्त्र है इजर्टन (पृ० ७८) ने इसके दो नमूने (नं० २७ और २८) दिये हैं। इनके डन्डे लकड़ी के हैं और सिरे नुकीले हैं। इनकी कुल लम्बाई ५ फीट ११ इन्च है, जिसमें केवल ब्लेड ही १८ इन्च लम्बा है।

पन्दी-बल्लम—(इजर्टन पृ० ७८, नं० २६) इसका ब्लेड पत्ती के आकार का होता है, बाँस का डन्डा लगता है, कुल लम्बाई ८ फीट ३ इन्च तथा ब्लेड की लम्बाई २ फीट ३ इन्च होती है।

पंजमुख—काड्रिंगटन की सूची के अनुसार 'यह पाँच सिरों वाला भाला है जिसे अधिकतर गुजरात के लोग प्रयोग करते हैं।

लाँग—इसका उल्लेख पृ० १२३ पर काड्रिंगटन की सूची के उदाहरण द्वारा किया गया है और इजर्टन के विचार से यह शब्द अंग्रेजी शब्द 'लैन्स' का अपभ्रंश है। इसका लोहे का सर चार कोनों वाला है और डन्डा खोखला है'

शेक्सपियर ने भाले के लिये कुछ अन्य शब्द भी दिये हैं, जो निम्नलिखित हैं :—आलम गढ़िया और कुन्त। इलमें से 'आलम' का प्रयोग मैंने सुना है, पर अन्य दो शब्द मुझे कहीं नहीं मिले। अब इस लम्बी सूची में मुझे एक शस्त्र और जोड़ना है, और वह है 'गँड़ासा'। यह एक लम्बे डन्डे में लगा हुआ चौड़ा ब्लेड होता है। गाँव के चौकीदार का प्रमुख शस्त्र यही है।

(च) कटार और छुरी

इनकी बहुत सी शक्लें और किस्में थीं जिनके अलग-अलग नाम थे।

कटारी, कटार—यह हिन्दी शब्द है और सम्भवतः 'काटना' क्रिया से सम्बन्धित है (शेक्सपियर पृष्ठ १५५६)। 'सीर' के अनुवादक ने कटार का वर्णन इस प्रकार किया है—"यह हिन्दुस्तान का एक विशेष शस्त्र है जिसकी मूठ की दो शाखाएँ भुजा तक पहुँचती है। जिससे हाथ और भुजा का कुछ भाग सुरक्षित रहता है। इसके मोटे ब्लेड में दोनों तरफ धार रहती है। मूठ (कब्जे) के पास इस ब्लेड की चौड़ाई ३ इंच और नोक के पास चौड़ाई केवल १ इंच होती है। इसका ब्लेडफल झुकाया नहीं जा सकता और इतना कड़ा होता है कि कवच के अतिरिक्त और किसी चीज से इसका वार रोका नहीं जा सकता। इसकी कुल लम्बाई २ फीट से २॥ फीट तक होती है, ब्लेड की लम्बाई कुल लम्बाई की प्रायः आधी होती है।" ब्लेड पर समकोण बनाते हुए दो आकारों के ऊपर एक सीधे आकार में इसकी मूठ होती है और पकड़ के अनुसार इससे केवल आगे की तरफ भोंकने का काम लिया जा सकता है। 'आईन' की सूची में इसका दसवाँ स्थान है और चित्र १२वीं प्लेट के ६वे नम्बर पर है। इस चित्र में ब्लेड जरा सा वक्राकार है। मुस्तफा का उपरोक्त वर्णन इसी प्लेट के चौथे चित्र से अधिक मेल रखता है जिसका नाम 'जमधार' लिखा है। इजर्टन ने कटार के २५ नमूने दिये हैं (पृ० १०२, १०६, ११६, १३१) जिनमें से ५ का चित्र प्लेट नं० ६, १० (दो नमूने) और १३ (दो नमूने) में दिया गया है। इनके ब्लेड विभिन्न रूप एवं आकार के हैं और लम्बाई ६ इंच से १७॥ इंच तक है। इस नमूनों में से एक नं० ३४०, दो सिर वाला है। मूल ने, 'ग्लासरी' के ट्राबनकोर से प्राप्त दो कटारों का वर्णन किया है जिनके ब्लेड २० इंच और २६ इंच के हैं। मिस्टर बालहागस ने 'इन्डियन एन्टिक्वेरी' में अधिक लम्बी कटारों का वर्णन किया है। इजर्टन ने नं०३५५ (पृ० १०२) वर्णन में 'बाँक' को कटारी कहा है, परन्तु ६वीं प्लेट के चित्र के अनुसार यह एक चाकू की तरह है और इसमें कटार क़ी तरह विशेष कब्जा (मूठ) नहीं होता। मूल ने 'ग्लासरी' में एक कटार नुमा शस्त्र का उल्लेख किया है जिसके नाम का अंग्रेजी अनुवाद उसने बेली पियर्सर (पेट चीरने वाला) किया है। उसका मतलब कटार से हो सकता है, क्योंकि कटार का अर्थ काटने वाला (पियर्सर) हो सकता है।

जमधर—'आईन' की सूची में बसका चौथा स्थान है और बारहवीं प्लेट के चौथे नम्बर पर इसका चित्र है। इसका कब्जा भी कटार की ही तरह है, परन्तु इसका ब्लेड बहुत चौड़ा और बिल्कुल सीधा है, जब कि कटार का ब्लेड जरा सा बक्राकार है। इसके विपरीत मिस्टर इजर्टन ने पृष्ठ १०२ पर तथा नवीं प्लेट के चित्र नं० ३४४ और ३४५ में 'जमधार कटारी' का वर्णन किया है जिसका ब्लेड बिल्कुल सीधा है और कब्जा कुछ इस प्रकार का है कि उसे तलवार की तरहट्टी पकड़ा ना सकता है। इस शब्द की उत्पत्ति के विषय में शेक्सपियर ने विच्छेद किया है, जमधार। जंम=

यम या मृत्यु; धार = काटने वाला छोर। इस सम्बन्ध में मूल की 'ग्लासरी' (पृ० ३५८) में 'जमदूद' (जमदाद) का वर्णन भी देखिये।

खंजर—यह एक प्रकार की छुरी का अरबी नाम है। इन्डियन म्यूजियम में इसके ८ नमूने रखे हुए हैं (इजर्टन नं० ५०२ से ५०६ तक पृ० ११६ पर; नं० ६२६ ६२७ ए, ६२७ पृ० १३१ पर)। इनमें से दो के चित्र १० वीं प्लेट पर दिए गये हैं। इनमें से अधिकांश दोहरी धार वाली और वक्राकार हैं और उनकी लम्बाई लगभग १२ इंच है। 'आईन' भाग १ (पृ० ११०) में दी हुई सूची में खंजर का पाँचवाँ स्थान है और १२ वीं प्लेट के पाँचवें नम्बर पर इसका चित्र बना हुआ है। इस चित्र में यह वक्राकार दिखाई गयी है, जिसकी दोनों धारें घूमी हुई है, और कब्जा तलवार के कब्जे की तरह है। इजर्टन की छठवीं प्लेट पर ५ और सात नम्बर के चित्र खंजर जैसे ही प्रतीत होते हैं। मुस्तफा 'सीर' भाग १, में कहता है कि 'खंजर एक छुरी है जिसका ब्लेड झुका होता है, तुर्क इसे विशेषतः रखते हैं जो इसे प्रायः दाहिना तरफ बांधते है। परन्तु हिन्दुस्तानी और परशियन खंजर को गले में भी पहनते हैं।"

जमरवाक :—('आईन' ७वा नम्बर, प्लेट १२ नं० 'आईन' के चित्र में यह एक छुरी की शक्ल का है। सम्भवतः यह शब्द 'चाक-चाक' (एक चाकू) से सम्बन्धित है।

जम्बवा :—('आईन नं० ६ बारहवीं प्लेट का नवाँ चित्र) इजर्टन ने उसके कई नमूनों का उल्लेख किया है—नं० १०६ (पृ० ८२) ४८६-६ (पृ० ११६) ७६८-६६ (पृ० १४५) और पहली प्लेट के २६ वें नम्बर पर तथा पृ० ७६ के १७ वें नम्बर पर इनका चित्र भी दिया है। उसने पृ० १२४ पर भी एक टिप्पणी में 'जम्बवा' का उल्लेख किया है। स्टीनगैस ने इसे 'जंम्बिया' (पृ० ३७३) लिखा है, जो कि 'एक तरह का हथियार' है। शेक्सपियर ने इसका अर्थ डैगर' (छुरी) दिया है। 'जम्बिया' के विषय में मूल की 'ग्लासरी' (पृ० ३५७) में भी बहुत रोचक वर्णन दिया गया है। उसके अनुसार इस शब्द की उत्पत्ति 'जाँब' (बगल) शब्द से हुई है, जो कि अरबी भाषा का है।

बाँक :—('आईन नं० ८, १२वीं प्लेट पर ८ वाँ चित्र) इजर्टन ने इसके तीन नमूनों का उल्लेख किया है—४८०,४८१ (पृ० ११५) और नं० ५८१ से सम्बन्धित टिप्पणी (पृ० १२४)—और पहली प्लेट के ३१ वें नम्बर पर इसका चित्र भी दिया है। स्पष्टतः इसका यह नाम वक्राकार होने के कारण पड़ा है (बाँक = टेंढा झुका हुआ, मोड़—शेक्सपियर)

नरसिंह मोंठ :—'आईन' की सूची में इसका ११ वाँ नम्बर है और १२वीं प्लेट के ११वें नम्बर पर इसका चित्र है, इजर्टन ने भी पहली प्लेट के ३०वें नम्बर पर इसका चित्र दिया है।

ऊपर दिए हुए चारों शस्त्र खंजर की श्रेणी के ही प्रतीत होते हैं, यद्यपि उनकी शक्लों में कुछ अन्तर है। 'विछुवा' और 'खपवा' को भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। 'विछुवा' (शाब्दिक अर्थ 'विच्छू') का ब्लेड लहरदार होता है। इसका उल्लेख इजर्टन (पृष्ट २७) ने भी किया है; इन्डिया म्यूजियम में इसके नमूनों के नम्बर हैं—४६० से ४६८ तक (पृष्ठ ११६) और ६२८ (पृष्ठ १३१) और दसवीं प्लेट पर पृष्ठ ११४)।

खपवा (आईन, नं० ६) भी एक तरह का खजंर ही है, परन्तु इसका चित्र नहीं दिया गया है। इजर्टन की पहली प्लेट के २८ वें चित्र के अनुसार यह 'जम्ववा' से मिलता जुलता है। सम्भव है कि यह हिन्दी की क्रिया 'खपना' (समाप्त होना) से बना हो। स्टीन गैस ने इसके लिए फारसी शब्द 'दसना' दिया है पृष्ठ ५२६)। 'अकबर नामा' की कुछ पान्डुलिपियों में (१० वें वर्ष के अन्त के लगभग के समय में), जैसा कि मिस्टर एच० वेवरिज ने मुझे बताया है, लिखा हैं कि, अकबर, शराब के नशे में, मालवा के शाहबाज़ खाँ की तरफ दौड़ा और उस पर 'दशना से' वार करने का प्रयास किया, क्योंकि शाहबाज़ खाँ ने गाने से इन्कार कर दिया था।

पेशकब्ज—यह शब्द फारसी में 'पेश' शब्द से बना है; 'कब्ज' का अर्थ मूठ होता है। यह एक तरह की नुकीली और एक धारी वाली छुरी थी जिसके ब्लेड का पिछला हिस्सा सीधा और मोटा होता था और इसकी मूठ (कब्ज) सीधी होती थी; यद्यपि कुछ का ब्लेड मुड़ा हुआ होता था। 'आईन' भाग १ में पेशकब्ज का उल्लेख नहीं हैं और मेरे विचार से किसी अन्य किस्म की छुरी के साथ इसे सम्मिलित कर लिया गया है; सम्भवतः 'कार्य' (एक तरह की छुरी) की किस्म में यह सम्मिलित हैं, जिसकी संख्या 'आईन' की सूची में ३४ वीं हैं (चित्र १२ वीं प्लेट का २८ वां नम्बर)। इजर्टन ने इसके २३ उदाहरण या नमूने दिए हैं जिनकी क्रम संख्या इस प्रकार है-३४६ (पृ०१०२), ३८१ (पृ० १०८), ३८२ (पृ० १०६), ४८४-५ पृ० ११६), ६१७-६२५ पृ० १३०) ६१६-६२४ (पृ० १३८) और ७६० (पृ० १४४)। इनमें से सात के ब्लेड सीधे, चार के ब्लेड मुड़े हुए और दो के ब्लेड दोहरी धार वाले हैं, अन्य नम्बरों की शक्ल का उल्लेख नहीं किया गया है। चौदहवीं प्लेट पर इजर्टन ने चार चित्र और पद्रहवी प्लेट पर एक नमूने का चित्र दिया है। इनमें से कुछ के कब्जे बन्द और सुरक्षात्मक हैं जब कि अन्य नमूनों के कब्जे सीधे हैं। नं० ६२४, उस खंजर के समान है जिसका चित्र 'आईन' की १२ वीं प्लेट में ६वें क्रम पर हैं; नम्बर ७२१ 'जम्बवा' की शक्ल का है जब कि नं० ७१२, ७२० और ७६० 'कार्य' या छुरे की शक्ल के हैं जिसका चित्र 'आईन' की १२ वीं प्लेट के २८ वी क्रम पर बना हुआ है।

कर्द—यह शक्ल में कसाई के चाकू की तरह था और एक म्यान में रखा जाता था। यह मुख्यतः अफगानों का अस्त्र था। इसके नमूने के लिए इजर्टन के

नं० ५० (चित्र १५ वीं प्लेट पर) की सहायता ली जा सकती हैं जिसके अनुसार इसकी कुल लम्बाई २ फीट ६ इंच है और केवल ब्लेड २ फीट लम्बा है । इसी प्रकार के शस्त्र से ८ अक्टूबर १७२० को मीर हैदर बेग, दुगलत ने फतेहपुर सीकरी और अम्बेर (जयपुर) के बीच पड़े हुए शाही पड़ाव में मीर बख्शी, सैयद हुसेन अलीखान का खून किया था। (मुहम्मद कासिम लाहौरी, इबारत नामा')। ''जौहरे-समसाम' के लेखक ने मीर हैदर बेग द्वारा प्रयोग किए गये शस्त्र का नाम 'चाक्र चकी-ए-विलायती' बताया है। यह शब्द 'चाकू से सम्बन्धित है (स्टीनगैस, ३८६)। 'आईन' भाग १, पृ०१११ में 'गुप्ती कार्द' (छड़ी में छुपी हुई छुरी) का उल्लेख मिलता है (नं० ३५, १३ वीं प्लेट पर २६ वाँ चित्र); इसी के साथ 'कमची-कार्द' (नं० ३६, १३ वीं प्लेट का ३० वाँ चित्र) और 'चाकू' (नं० ३७, १३ वीं प्लेट पर ३१ वाँ चित्र) का उल्लेखन भी आईन भाग १ में मिलता है।

काशगर में से आए हुए लोग जिस चाकू का प्रयोग करते थे, उसे 'सैलाब-ए कलमा की' कहा जाता था। यह तलवार के समान लम्बी होती थी; इसकी मूठ (कब्ज) मछली की हड्डी से बनी होती थी सिसे 'शेर माही' कहते थे और इसे एक पेटी के सहारे कन्धे में लटका कर पहना जाता था। (अशाब) १७२ ब १७८ ब)

———

नवाँ अध्याय

साज सज्जा (३) आक्रामक अस्त्र—क्षेप्यास्त्र

मैंने इस अध्याय में अस्त्रों के उस वर्ग का वर्णन नहीं किया है जो तोपखाना से सम्बन्धित हैं अर्थात् ऐसे आक्रामक अस्त्र जिन्हें एक सिपाही नहीं ले जा सकता था और न तो वह अकेले उन्हें चला हो सकता था। इस अध्याय में व्यक्तिगत रूप से प्रयोग किये जाने वाले अस्त्रों का ही वर्णन है जिनमें धनुष बाण, बन्दूक और पिस्तौल सम्मिलित हैं। इनमें से धनुष बाण निस्सन्देह सैनिकों का प्रिय अस्त्र था, लगभग सभी सवार धनुर्धर होते थे और मुगलों की घुड़सावर सेना धनुष के निशाने की कुशलता के लिए विख्यात थी। ऐसा माना जाता था कि धनुष बाण सीधे स्वर्ग से धरती पर लाए गये थे और देवदूत गैब्रील द्वारा आदम को दिये गये थे। अस्त्रों की श्रेठता का क्रम इस प्रकार था—कटार से अच्छी तलवार; तलावार से श्रेष्ठ भाला धनुष बाण भाला से भी श्रेष्ठ; ('रिसाला-ए-तीर-कमान')।

यद्यपि १८ वीं शताब्दी में आग्नेयास्त्रों (फायर आर्म्स) का पर्याप्त प्रचार हो गया था; फिर भी इस शताब्दी भर में धनुष बाण की ही प्रमुखता रही, इनके बनाने तथा चलाने के तरीके पर निरन्तर ध्यान दिया जाता रहा और सुधार किये जाते रहे। यही नहीं; डब्ल्यू एफ मिचेल की पुस्तक 'रिनमीसेन्सेज आव दि ग्रेट म्यूटिनी'' पृ० ७६ में लेखक ने कहा है कि उसने स्वयं नवम्बर १८५७ में विद्रोहियों द्वारा लखनऊ में धनुष बाण का प्रयोग होते देखा था। "शाह नजफ की रक्षा करने वाली सेना तथा निर्यमित सेना में धनुधरों की एक बड़ी टोली थी जो धनुष बाण के साथ दीवालों पर जमे हुए थे जिनसे वे पूरी शक्ति और कुशलता के साथ काम ले रहे थे; ज्योंही एक सार्जिन्ट ने अपना सिर दीवाल के ऊपर उठाया, उसकी टोपी एक तीर द्वारा छेद दी गई। एक व्यक्ति ने केवल एक क्षण के लिये सर उठाया और एक तीर सीधे उसके सर के आरपार छेद करके एक फीट की लम्बाई तक सर के पीछे निकल गया। एक अभागा आदमी अपनी आड़ से जरा सा बाहर निकला और उसके फिर से आड़ में पहुँचने के पहले एक तीर उसकी छाती में लगा और उसके शरीर को चीरते हुए उसके पीछे कुछ गज की दूरी पर जाकर गिरा। उस तीर की जोर से वह हवा में ६ फीट उछला और मृत होकर पत्थर की तरह गिरा।"

लोग ऐसा समझ सकते हैं कि किसी गम्भीर लड़ाई में धनुष बाण का सम्भवतः यह अन्तिम प्रयोग था। परन्तु मिसेज बिशप ने १८ अक्टूबर १८६४ में ('सेन्ट जेम्स गजट') लिखा है कि उसने अनगिनत गाड़ियाँ "नए धनुषों एवं बाणों से लदा हुआ देखा जो राजधानी (पेकिन) की सेना के प्रयोग के लिए ले जायी जा रही थीं"; और यह बात आधुनिकतम आग्नेयास्त्रों के काल की है।

बन्दूक, जो कि वजनी और कम महत्व का अस्त्र था, प्रायः पैदल सेना के पास रहता था। पिस्तौलों का प्रयोग यदाकदा ही होता था।

१—धनुष (बाण)

मुगल सेना के धनुर्धर धनुष बाण के प्रयोग में बहुत कुशल माने जाते थे। जैसा कि बर्नियर (पृ० ४८) ने लिखा है, "जब जितनी देर में बन्दूकची दो गोली चलाता, उतनी देर में एक घुड़सवार धनुर्धर ६ बार तीर चला सकता था।" हार्न (पृ० १०८) द्वारा 'अकबरनामा' से उद्धृत 'ओकची' शब्द बाद के (१८ वीं शदाब्दी) लेखकों द्वारा नही प्रयोग किया गया है; उन्होंने कुशल धनुर्धर के लिए 'ओकची' ❀ के बदले 'तीर अन्दाज' का प्रयोग किया है। परन्तु पहले शब्द का प्रयोग आनन्दराम ने ११६१ हिजरी में अहमद अब्दाली के पहले आक्रमण का वर्णन करते समय किया है यद्यपि हिज्जे के अनुसार इसे 'औंची' पढ़ा जा सकता है। शेक्सपियर (पृ० २१६) में 'ओपची' कों हिन्दी शब्द मानकर इसका अर्थ दिया है—'शस्त्र-सज्जित या कवच से सज्जित सैनिक"। सम्भवतः यह 'ओपची' शब्द 'ओकची का ही अपभ्रंश है। फर्रुखसियर के ऊपर लिखी गई कविता की पंक्ति संख्या ५६४ में श्रीधर मुरलीधर ने 'ओपची' का प्रयोग किया है ('जरनल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल (१६००), (भाग १): "पिले ओपची तोपची तोपों घनेरे" जिसका अर्थ हुआ "धनुर्धरों, तोपचियों एवं तोपों की असीमित भीड़।" सम्भव है कि "ओपची-तोपची' भी हिन्दुस्तानियों की निरर्थक अतिरिक्त शब्दावली की तरह प्रयोग किया गया हो; जिस तरह कि 'खाना-वाना, या 'पानी-वानी' आदि बोला जाता है। मुहम्मद कासिम, औरंगाबादी (अहवाल-उल-खवाकीने) और एक बाद के लेखक खैर-उद-दीन (१२०३ हिजरी इबारतनामा' पृ० १०५) ने धनुर्धर के लिए 'कमान-दार' का प्रयोग किया है)

चर्ख—मिरजा मेंहदी ने 'जहाँकुशा नादिरी' पृ० २३३ (११५१ हिजरी) में 'चर्खची बाशी' या चर्खची लोगी के सरदार का उल्लेख किया है। स्टीनगैस ने 'चर्खची-बाशी' या 'चर्खची' में से किसी का भी वर्णन नहीं किया है। 'चर्ख के कई अर्थ हैं। जिनमें से मुख्य हैं पहिया, गाड़ी, आकाश (धनुष बाण)! यहाँ मेरे विचार

❀ पेवेट डी कर्टील, डिक्शनरी, पृ० ६८। एक तीर

से इसका अर्थ धनुष होना चाहिये। 'चरखची' शब्द 'मुजमिल-उत-तारीख-बाद-नादिरिया' (पृ० ६५) में भी प्रयोग किया गया है।

कमान—मुगलों की कमान लगभग ४ फीट लम्बी होती थी और सामान्यतः इसमें दुहरा मोड़ होता था। कमान प्रायः सांग, बाँस, बेंत, लकड़ी और कभी-कभी इस्पात की भी बनती थी (इजर्टन पृ० ८१)। इनमें से दो इस्पात के धनुष, जो रूस के सम्राट के संग्रहालय में रखे गये थे, कहा जाता है कि वे दोनों बादशाह बहादुरशाह के धनुष थे। इन धनुषों पर बादशाह के सम्मान में कुछ शेर लिखे हुए हैं और उन पर सोने की फूलपत्ती का काम किया हुआ है (इजर्टन, पृ० ११४)। कमान को पकड़ने के लिये जो स्थान होता था उस पर प्रायः मखमल लपेटा रहता था। मि० इजर्टन ने पृ० १४४ पर फारस की कमान का विस्तृत वर्णन किया है और वही हिन्दुस्तान में प्रयोग कि जाने वाले धनुष पर भी बिना किसी विशेष अन्तर के लागू किया जा सकता है, क्योंकि मुगलों ने अधिकतर इस सम्बन्ध में फारस वालों की नकल की थी; यही नहीं, बहुत से प्रधान अफसर भी फारसी ही थे।

मिस्टर इजर्टन के अनुसार, धनुष का भीतरी भाग ताँत के कई धागों से लपेटा रहता था जिससे धनुष की लचक बनी रहे। इसका पेट वाला भाग भैंसे या जंगली बकरे की सींगों से बनता है जिसका रंग एकदम काला होता है और उस पर बढ़िया पालिश की जाती है। इसके मध्य भाग में कड़ी और मजबूत लकड़ी का एक पतला टुकड़ा लगा रहता है। धनुष के दोनों सिरे सर्पाकार बने होते हैं। सींग को सादा छोड़ दिया जाता है जब कि लकड़ी वाले पिछले भाग पर चिड़िया, फूलपत्ती, फल आदि के चित्रों द्वारा सजावट की जाती है।" कैप्टेन टामस विलियमसन ने 'ओरिएंटल फील्ड-स्पोर्टस' (पृ० ८७) में प्रदर्शन के लिए रक्खे हुए यात्रियों के कन्धे पर टंगे हुए हिन्दुस्तानी धनुषों के रूप और आकार का वर्णन इस प्रकार किया है; ये भैंसे के दो समान रूप से वक्राकार सींगों से बनते थे जिनके सिरों पर डोर को फँसाने के लिये लकड़ी के टुकड़े जुड़े रहते थे। सींगों के बीच वाले सिरे मध्य में एक मजबूत लकड़ी के दोनों ओर कसे होते थे; इसी लकड़ी को बाएँ हाथ से, पकड़ा जाता था। इन हिस्सों के सफाई से जुड़ जाने पर उन पर ताँत लपेट दिया जाता था, जिसके ऊपर बहुत चिकना कपड़ा लपेट दिया जाता था। इसके बाद उन पर पालिश और रंग चढ़ाया जाता था। खांचे खड्ढेदार सिरे, जिनमें डोर फंसायी जाती थी, गोशा (स्टीनगैस पृ० ११०४) कहे जाते थे, जिसका अर्थ होता है—'कोना ? इस अर्थ के लिए 'सुफार' शब्द का प्रयोग 'दस्तूर-उल-इन्शा' (पृ० २२८), स्टीन गैस (पृ० ७०६) और अहवाल-उल-खवाकीन' में किया गया है।

रोदा या डोर—इसे जिह या चिल्लह कहते थे। इसके लिए हिन्दी शब्द है रोदा (स्टीनगैस), पनाच (पिनाक ?)। और पचंक (प्रत्यंचा ?)। ये तीनों शब्द

शेक्सपियर की डिक्शनरी में दिये गये हैं। कमान की डोर के लिये स्टीनगैस ने 'रोदा' का प्रयोग किया है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि यह शब्द हिन्दी या फारसी या दोनों भाषाओं का है। कमानों की डोर सफेद सिल्क के मजबूत धागों को ऐंठकर बनाई जाती थी जिसकी मोटाई बत्तख के पंखे की डन्ठल के बराबर होती थी। इसके पश्चात इसी पदार्थ के सूत डोर के मध्य में तीन या चार इंच की दूरी तक डोर में लपेटे जाते थे और तब इस मध्य भाग में एक विचित्र गाँठ द्वारा लाल या किसी अन्य रंग की एक जाली सी बना दी जाती थी···(इजर्टन, पृ० १४४)। इसके विपरीत कैप्टेन विलियमसन (पृ० ८७) कहते हैं कि यह डोर जानवरों के ताँत के कई तारों से बनती थी; ये तारे ऐंठे नहीं जाते थे, फिर इसके मध्य में रेशमी तागों से जालनुमा गद्दी तैयार की जाती थी, और डोर के सिरों पर भी रेशमी धागे लपेटे जाते थे।

जिगीर—अंगूठे से डोर पर तीर पकड़ने का स्थान जिगीर (स्टीनगैस) या शस्त्र (स्टीनगैस) कहलाता। इसे शस्त्र-आवेज भी कहा जाता था (आनन्दराम—'मीरातुल-इस्तिला)। शब्द रचना के अनुसार इसका अर्थ अँगूठे की पकड़ का स्थान (शस्त्र-अँगूठा, आवेज-जुड़ा हुआ, कसा हुआ)। 'आईन' भाग १ में ब्लाकमैन ने शस्त्र-ओवज को 'गिरि-कुशा' (एक तरह का भाला-आईन' नं० ४३) से मिलता जुलता एक अस्त्र बताया है। इसका चित्र भी नही दिया है। ऐसा सम्भव हो सकता है कि ब्लाकमैन बहक गया हो और आनन्द राम की सीधी उक्ति सही हो।

धनुर्धर तीर को केवल अंगूठे से ही खीचते थे और अंगूठे के बगल वाली के बगल वाली पहली उंगली को नोड़कर नीचे की ओर इस प्रकार रखते थे कि तीर नीचे न गिरने पाएँ ; या जैसा कि डाक्टर वीसेनवर्ग ने कहा है, पहली उंगली को अंगूठे के नाखून पर दबाया जाता था जिससे ताकि बिना अतिरिक्त शक्ति लगाये, खिंचाव तगड़ा पड़े। उंगली के चमड़े का डोर से कट जाने से बचाने के लिये 'जिगीर का अविष्कार किया गया था (इजर्टन पृ० ११४)। यह एक चौड़ी अंगूठा नुमा होती थी, और किसी व्यक्ति के ओहदे और साधन के अनुसार यह कीमती पत्थर, मोती, हाथी-दांत, सींग, मछली की हड्डी, सोने, और लोहें की होती थी। १० नवम्बर १८६८ के 'डेली टेलीग्राफ' में एक कीमती जिगीर का वर्णन किया गया है जो लार्ड डल हौजी के अधिकार में रह चुकी थी। यह एक पन्ने (हरित मणि) के टुकड़े का बना हुआ था ; इसका सबसे चौड़ा भाग २।३।८ इंच लम्बा थां, और इसकी गहराई १।१४ इंच थी। इस पर निम्नलिखित शब्द खुदे हुए थे ; "शाहन्शाह नादिर के धनुष का छल्ला बनाने के लिये जवाहरात-खाने से चुना गया, ११७२ हि०" (१७३१ ई०) कुछ लोग 'जिगीर' का प्रयोग करने के बदले दाहिने हाथ की पहली दो उंगलियो में लोहे की टोर (जैसा कि दर्जी सिलते समय अंगुली पर लगाते हैं) पहन लेते थे। धनुष की डोर खिंच जाने पर इस जिगीर के निचले भाग पर ठहरती

है, बाहर की तरफ उस छल्ले का आकार चौड़ाई का आधा होता था, और तीर को छोड़ने के लिए अँगूठे को सीधा कर दिया जाता था और तीर मुक्त हो जाता था। (इजर्टन द्वारा पृ० १२४ पर 'बुक ऑव आर्चरी की उदाहरण)। इस छल्ले से तीर के मार की दूरी भी बढ़ जाती थी ; परन्तु इसके प्रयोग के लिए कुशलता और अभ्यास की आवश्यकता होती थी। हिन्दू, इसके स्थान पर चमड़े की गद्दी का प्रयोग करते थे (मीरान-उल-इस्तिला)। ये छल्ले एक अतिरिक्त डोर के साथ एक छोटे से बक्स में ले जाते थे (इजर्टन पृ० ११४) । डाक्टर वीसेनवर्ग ने इन छल्लों से सम्बन्धित एक लेख में लिखा है जिसमें इनके ८ चित्र भी दिये है। उसने 'जिगीर' की किस्मों को दो भागों में बाँटा है—१—बेलनाकार, जीभ की शक्ल का। जिन छल्लों का उसने वर्णन किया गया है, वे हड्डी या पत्थर से बने हुए थे और तेरह में से ६ उदाहरण किसी भूतपूर्व राजधानी के एक सराय के खँडहरों से प्राप्त हुहै थीं।

लक्ष्य-कमान—('आईन' भाग १, पृ० ११०, नं० १३) ब्लाकमैन के अनुसार यह एक छोटे आकार का धनुष है इसका चित्र १२वीं प्लेट के १२वें क्रम पर है। स्टीनगैस ने इसका अर्थ धनुष या तीर बताया है (पृ० २८८)।

कमान-ए-गुरोह— इसके द्वारा तीरों के स्थान पर धातु आदि की गोलियाँ फेंकी जाती थीं और मेरे विचार से यह गुलेल के समान होता था जिससे कि बच्चे फसलों पर से चिड़ियों को भगाने का काम लेते हैं। 'आईन' की सूची में इसका ३८वाँ नम्बर हैं और इसका चित्र तेरहवीं प्लेट के ३२वें क्रम पर है। स्टीनगैसे (पृ० १८०५) ने 'गुरोहा' का अर्थ 'गोला' या 'गोल आकार की चीज' दिया हैं।

'गोभन'—(पत्थर आदि फेंकने वाला शस्त्र) :—आईन की सूची में इसका ४५वा नम्बर है और इसका चित्र १३वीं प्लेट के ३८वें नम्बर पर है) शेक्सपियर (पृ० १७२७) में इसे 'गोफन' लिखा है। जब बन्दा बैरागी ने सिखो के साथ जलालाबाद पर हमला किया था (१७१० ई०) तो उनका सामना करने के लिये ग्रामीणजन इसी प्रकार का अस्त्र ले कर आये थे ; खाफी खाँ ने इस शस्त्र का नाम 'सॉंग-ए-फलाखन' लिखा है (भाग १, पृ० ६५६)। स्टीनगैस ने इसके लिये तीन उच्चारण दिये है :—फलाखन, फलाखान और फलासाँग।

कमठा, कमन्ठ—यह भीलों द्वारा प्रयोग किया जाने वाला लम्बा धनुष है। 'आईन' की सूची में 'कमठा का क्रम ३६वाँ है। 'कमन्ठ' शब्द का प्रयोग आनन्द राम, मुखलिस ने 'मीरातु-उल इस्तिला' में किया है। ब्लाकमैन ने अपने तेरहवीं प्लेट के ३३ वें चित्र का वर्णन करते समय 'कमठा' और 'कमान-ए-दरोहा' में घालमेल कर दिया है। मेरे विचार से यह चीज गलत है। स्टीनगैस (पृ० १०५१) ने

धनुर्धर ❀ के लिए 'कमनैत' शब्द का प्रयोग किया है; जो कि उसके विचार से फारसी के 'कमान' और संस्कृत के 'नेता' (धारण करने वाला) शब्द से मिलकर बना है। यह भी सम्भव है कि 'कमनैत' शब्द 'कमठा' से सम्बन्धित हो जिस तरह कि ढाल धारण करने वाले को ढलैत, या 'अगोरना' क्रिया से गोड़ैत (चौकीदार) सम्बन्धित है शेक्सपियर (२२५८) के अनुसार हिन्दी में कमठा बाँस के धनुष को कहा जाता था।

भील धुनुष को पैर से दबाए रखते थे और हाथ से डोर (चिल्ल) खींच कर इतनी शक्ति से बाण छोड़ते थे कि हाथी की मोटी खाल के भीतर भी उनका तीर पहुँच जाता था। इर्जटन ने (पृ० ७५) टाड के 'राजपूत ट्राइब्स' के आधार पर लिखा है कि भीलों का मुख्य अस्त्र 'कम्पटी' (वांस का धनुष) था जिसकी डोर भी बाँस के पतले रेशों से ही बनाई जाती थी। उनके तरकस में एक गज की लम्बाई के ६० तीर रखे जाते थे जिनकी नोक कांटेदार होती थी। इन तीरों की सहायता से मछली के शिकार में बड़ी सुविधा होती थी। इनकी बनावट इस प्रकार की होती थी कि मछली पर निशाना लग जाते ही तीर फल से अलग होकर विशेष प्रकार से बँधी हुई रस्सी के सहारे पानी पर तैरने लगता था। इस प्रकार मछली को गतिविधि का पूरा पता लग जाता था।

नावक—यह एक पाइप (नली) होता था जिसके सहारे तीर फेंका जाता था। मेरे विचार से तो यह किसी प्रकार का साधारण धनुष ही था। यह उस प्रकार का अस्त्र नहीं था जिसका मलाया निवासी जहरीले तीर फेंकने के लिए प्रयोग करते थे और जिनका उल्लेख इर्जटन ने २६३ से २६८ नं० (पृ० ६७-६८) के विवरण में किया है। पाइप के ये नमूने ६।१।२ से ७।१।२ फीट तक लम्बे हैं और उनमें प्रयोग किए जाने वाले तीरों की लम्बाई १२ इंच है। आईन की सूची में चौदहवाँ क्रम 'नावक' का है, पर इसका चित्र नहीं दिया गया है। यह शस्त्र १८ वीं शताब्दी में फर्रुखाबाद में लोगों को ज्ञात था (जर्नल-ए-सो आव बंगाल पृ० ३३१) स्टीनगैस में 'नख' का अर्थ पाइप और नखक का अर्थ छोटा तीर लिखा है (जिसका प्रयोग चिड़िया आदि मारने में होता था)।

तुफक-ए-दाहन —'आईन' में भी एक ब्लो पाइप का वर्णन है जिसका नाम 'तुफक-ए-दाहन' (मुंह से प्रयोग की जाने वाली नली) बताया गया है। सूची में

❀ मेरे विचार से 'कमनैत शब्द धनुर्धर के लिए सही प्रयोग किया गया है और कमठा या कमन्ठा से, लेखक के तर्कपूर्ण अध्ययन के बावजूद भी इसका कोई सम्बन्ध नही है—

इसका ४० वाँ क्रम है और १३वीं प्लेट के ३४वें नम्बर पर इसका चित्र है। स्टीनगैस (पृ० ३१४) की परिभाषा के अनुसार यह एक नली है जिसमें से साँस की शक्ति द्वारा मिट्टी की गोलियाँ चलाई जाती थीं।

तीर—'आईन' की सूची (पृ० १११) में तीर का क्रम १५वां है और १२वें प्लेट के १४ ए- नम्बर पर इसका चित्र दिया गया है। तीर के एक और नाम 'सिहाम' का उल्लेख 'मीरात-ए-अहमदी में मिलता है, यह 'साम' (तीर) का बहुवचन है (स्टीनगैस पृ० ७१०)। में मिलता है, यह कैप्टन विलियमसन ने 'ओरियन्टल फील्ड स्पोर्ट्स' (पृ० ८७) में लिखा है कि बंगाल में तीरों का पिछला हिस्सा दो तरह का होता था; साधारण तीरों का सिरा तो सरई आदि का बनता था और शिकार आदि के लिए लकड़ी का मजबूत सिरा बनाया जाता था। पहले प्रकार के तीर में नुकीला सिर रेजिन द्वारा जोड़ा जाता था दूसरे प्रकार के तीर में लोहे के नुकीले सिरे का पिछला भाग, लाल करके, लकड़ी में बने हुए छेद में लगा दिया जाता था। इन्डिया म्यूजियम में रखे हुए कुछ तीर २ फीट चार इंच लम्बे है (इजर्टन पृ० १३०, नं० ६०४)। १८५७ में लखनऊ में प्राप्त एक तीर की लम्बाई ६ फीट है जिसे चलाने के लिए अवश्य ही बड़े धनुष प्रयोग किए जाते होंगे। तीर के विभिन्न अंगों के नाम इस प्रकार हैं—मूठ के लिए 'किल्क' (फारसी) और 'सारि' (हिन्दी)❀ शब्द मिलते है। नुकीले सिर के लिए फारसी का शब्द 'पैकान' और हिन्दी का शब्द 'भाल' प्रयोग में मिलता है मूठ पर लगे हुये पंखों के लिए 'पर' शब्द का प्रयोग मिलता है। ये 'पर' प्रायः काले और सफेद रंग की धारियों वाले (अवलक) होते थे। साधारणतः तीर का सिर इस्पात का होता था, परन्तु भील हड्डी के नुकीले सिरे का प्रयोग करते थे।

तुका, तुक्का—बिना सिर वाले तीर को तुका या तुक्का कहा जाता था। कहा जाता है कि १८ जून १७०७ को आजमशाह ने क्रोध में अपने खास सिपहसालार जुल्फिकार खाँ पर इसी तरह का तीर चलाया था (यहिया खाँ)। स्टीनगैस (पृ० ८१६ की परिभाषा के अनुसार यह 'बिना नोक का तीर था, परन्तु सिरे पर एक गाँठ सी पड़ी रहती थी।'

१८वीं शताब्दी में फरुखाबाद के पठानों द्वारा निम्नलिखित किस्मों के तीर प्रयोग जिये जाते थे '(१) लैस'—अभ्यास करने वाला तीर (शेक्सपियर पृ० १८०१); (२) कलन्दर; (३) 'घेरा'—चौड़े सिरवाला; (४) 'कोहर-तराश'

❀ उर्दू के संसर्ग से हिन्दी में भी इस रूप के कितने ही शब्द चलते हैं यथा लठैत (अल्हैतर आल्हा गाने वाले) पटैत (पटा भाजने वाले इत्यादि)—अनुवादक

(५) 'नुक्ता' ❀ या सम्भवतः 'तक-कट्ठा' या बिना सिर वाला जो काट न सके (इजर्टन, पृ० १३७, द्वारा वर्णित सिन्ध में प्रयोग किए जाने वाले बिना सिर के तीर से इसकी तुलना की जा सकती है) ; (६) ठूँठ या ठोंठ (७) 'अंकरी दार'—इसका सर मोची के सूजे की तरह मुड़ा रहता था (अंकरी-हुक, मुड़ा कांटा)। कैप्टेन विलियमसन (पृ० २७) ने कुछ बहुत चौड़े सिरे वाले तीरों का उल्लेख किया है जो बंगाल के पश्चिम में बहार (विहार ?) की तरफ प्रयोग किये जाते थे। यद्यपि ये तीर आसानी से शरीर में नहीं धँसते थे, पर एक बार किसी अंग में धँस जाने पर काफी चौड़ाई में उस भाग को काट डालते थे। जब ऐसे तीर उलझी हुई टुकड़ियों की ओर चलाए जाते थे, तो काफी हानि पहुँचाते थे। 'दस्तूर-उल इन्शा' में तीरों की निम्नलिखित किस्मों का उल्लेख मिलता है ;—(१) 'घेरा चौड़े सिर वाला (२) दो मुहाँ दो नोक वाले (३) तरह-ए-माह—पूर्ण चन्द्र या गोल सिर वाले (४) तरह-ए-हलाल—अर्द्ध चन्द्राकार सिर वाले (५) तरह-ए-बादाम—बादाम की शक्ल के सिर वाले (६)तरह-ए-टोको (७) 'सिद्ध-भाला'–भाले की तरह तीन नोंको वाले (८) तरह-ए खोर्नी (६) तरह-ए-खार—काँटे की शक्ल वाले (१०) तरह-ए-खाकी। जेम्स फेजर ने 'नादिरशाह' (पृ० १४३) में मिट्टी के बने लक्ष्य केन्द्रों पर अभ्यास किए जाने वाले तीरों का वर्णन इस प्रकार किया है ; "इस अभ्यास के लिये प्रयोग किये जाने वाले तीरो का लोहे वाला भाग गोलाकार और लगभग चार अंगुल लम्बा होता है, इसकी मोटाई कुछ दूर तक तीर की लकड़ी के ही बराबर होती है ; नोक के कुछ दूर पहले ही यह लोहे का भाग अपेक्षाकृत मोटा रहता है, और वहीं से आगे की तरफ नुकीला होता जाता है। इस मोटे भाग से नोक तक की लम्बाई १।४ इंच से एक इंच तक होती है।"

तीरों के सांकेतिक अर्थ—पुर्तगाली लेखकों के अनुसार मलाबार और विजयनगर रियासत में हवा में तीर फेंकने का अर्थ युद्ध घोषित करना था। इसका एक विशेष उदाहरण १५३७ ई० में ड्यू में मिलता है जब कि गुजरात के बहादुर ने ड्यू के पुर्तगालियों के खिलाफ युद्ध की घोषणा करने के लिए हवा में तीर चलाये जाने का हुक्म दिया था (ह्वाइटवे—पोर्चगीज इन इन्डिया पृ० २४६) किसी हिन्दुस्तानी लेखक ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा है। सम्भवतः इस प्रथा की उत्पत्ति हिन्दुओं में ही हुई थी।

उसी स्थान पर मि० ह्वाइटवे ने यह भी लिखा है कि राजा के तरकस में से

❀ शायद 'नुक्ता' शब्द ही ठीक है, इसका अर्थ नुकीला होता है—उसको 'तक-कट्ठा' पढ़ने की जरूरत नहीं, क्योंकि 'नुक्ता' शब्द स्वयं ही स्पष्ट है—अनुवादक।

निकालकर दिया हुआ तीर सुरक्षा एवं शान्ति का प्रतीक था। यही नहीं राजा का तरकस स्वयं ही उसकी राज्य-सत्ता का चिन्ह माना जाता था। इस बात को प्रमाणित करने के लिए 'मीरात-ए-सिकन्दरी' से उदाहरण लिया गया है जब १५३७ में हुमायूँ ने बहादुरशाह के धारण को मुक्त किया था तो उसकी कमर में अपना तरकस बाँध दिया था। इस तरकस को धारण कर लेने पर उसने जिस भी बन्दी को अपना रिश्तेदार बताया, उसे छोड़ दिया गया (बेली, 'गुजरात' पृ० ३८६) इस विषय में एक उदाहरण और मिलता है। 'तारीख उस-सिन्ध के अनुसार ६२४ हिजरी (१५१८ ई०) में शाह-बेग अरगून ने काजी मुहम्मद मासूम को अपने तरकश का तीर दिया था (मेलेट पृ० ८०)

तरकश—यह फारसी शब्द है। इसी अर्थ में मैंने शेख मुहम्मद मुनीम जफराबादी के फर्रुखसियरनामा में 'जबह' शब्द का प्रयोग पाया है। साधारण यह त्रिपेट आकार का होता था जिसकी एक दीवाल सीधी होती थी और दूसरी ऊपर से नीचे पतली होती जाती थी; इसमें एक पट्टा लगा रहता था जिसके सहारे इसे कन्धे में पहना जाता था। इन्डिया-म्यूजियम मे तरकश के पाँच नमूने हैं जिनका वर्णन इजर्टन ने नम्बर ३६७, ३६६ (पृ० १०८) ४६० (पृ० ११४) ६०१ और ६०२ (पृ० १३०) के अन्तर्गत किया है। इनमें से एक तरकश कुछ विचित्र ढंग का है। इसका आकार बेलन की तरह है। साधारण तरकशों पर चमड़े की खोल लगी रहती थी, अधिक कीमती तरकशों पर लाल या नीले रंग की मखमली खोल चढ़ी रहती थी और प्रायः इन के बाहरी भाग पर चाँदी की और सुनहली कसीदाकारी की जाती थी। कभी-कभी ये कीमती खोल विचित्र कार्यों में प्रयोग किये जाते थे। जिस समय हुमाँयू अपनी निष्कासित अवस्था में फारस पहुँचा (१५४४), शाह तहमास्थ ने बिछा हुआ कालीन समेट लिया ताकि हुमाँयू उसके सामने नंगी जमीन पर बैठने के लिए मजबूर हो जाय परन्तु तुरन्त ही हुमाँयू के साथ के आदमियों में से एक ने अपने तरकश का सुनहला खोल उतार कर उसे फाड़ कर खोल डाला और अपने मालिक के बैठने के लिए जमीन पर बिछा दिया (अर्सकिन 'बाबर ऐण्ड हुमायूँ' भाग २ पृ० २६४)। 'आईन' की सूची मे तरकश का १६वाँ नम्बर है (पृ० ११०) और १३वीं प्लेट के १५वें क्रम पर इसका चित्र दिया हुआ है। इजर्टन ने लैंगिल्स के 'मानूमेन्ट्स' के आधार पर पहली प्लेट पर तरकश का जो चित्र दिया है वह साधारण तरकश से कुछ भिन्न है। इस तरकश की चौड़ाई नीचे तक एक समान ही है, इसकी एक दीवाल सीधी तथा दूसरी दीवाल अर्धचन्द्राकार दोहरे मोड़ वाली है।

गीधू (हाथ की रक्षा करने वाला पट्टा)—इजर्टन ने पृष्ठ ११४ पर इसका उल्लेख किया है, यह बाएँ हाथ पर बाँधा जाता था। यदि धनुर्धर जिरह बख्तर

नहीं धारण किए रहता था तो कम से कम उसके पास एक काँटेदार दस्ताना और इस्पात का बना हुआ भुजा रक्षक तो रहता ही था। 'बुक आफ आर्चरी' के अनुसार यह मखमल या अन्य सुन्दर वस्त्रों द्वारा तैयार की हुई आधी आस्तीन को ढकने वाला कवच है जिससे झटके ले लौटती हुई प्रत्यचां (डोर) की चोट से हाथ सुरक्षित रहता था। 'गोधू' शब्द की उत्पत्ति या सही अर्थ का मुझे पता नहीं है। मध्य एशिया से प्राप्त दो भुजारक्षक कवचों में से एक हड्डी का और दूसरा लोहे का बना हुआ है। वीसेनवर्ग में पृष्ठ ५४ पर इसका चित्र भी दिया है, वर्तमान समय में ये नमूने सेन्ट सीटर्सबर्ग के म्यूजियम में सुरक्षित रखे हुए हैं।

पैकान कश— (पैकान = वाण का सिर, कश = कसने वाला) यह सँड़सी की तरह का एक औजार था जो तीर के डन्डे में से वाण का लोहे वाला सिर निकालने या उसमें कसने के काम आता था। 'आईन' भाग १ की सूची में १६वाँ स्थान है और १२वीं प्लेट के १४६वें नम्बर पर इसका चित्र बना है। तीरबरदार, नं० १८ भी इसी कार्य के लिये एक औजार था।

लक्ष्यकेन्द्र (टारजेट)— इसके लिये तरदः शब्द का प्रयोग होता था जिसका शाब्दिक अर्थ है टेर (स्टीनगैस), टेडा या टूडा (शेक्सपियर पृ० ७००)। तीर कमान का पक्का अभ्यास करने के लिये प्रायः अफसर की छावनी के पास मिट्टी का एक टीला बना दिया जाता था जिस पर अफसर व उसके सिपाही नित्य निशाने बाजी करते थे। इजर्टन के अनुसार ऐसा अभ्यास राजपूतों द्वारा ही होता था, परन्तु यह केवल राजपूतों तक ही सीमित नहीं था। उदाहरण के लिए नादिरशाह ऐसे ही एक मिट्टी के टीले पर नित्य तीसरे नियम से पाँच तीर मारा करता था। जेम्स फ्रेजर ने 'हिस्ट्री आँव नादिरशाह' में एक टिप्पणी में लिखा है, "खाक टोडा एक मिट्टी का ढेर है जो दो पत्थर की दीवालों के बीच में सफाई और मजबूती से पीटकर सुडौल बनाया जाता है। इसकी ऊँचाई ५ फीट, मोटाई तीन फीट तथा चौड़ाई ३-४ फीट तक होती है। इसका सामने का भाग पीट-पीट कर चिकना एवं समतल बनाया जाता है। एक कुशल धनुर्धर का पूरा तीर इसमें धँस सकता है जब कि एक अकुशल और कमजोर व्यक्ति के तीर का तिहाई भाग भी इसमें नहीं धँस सकता।" सामान्यतः किसी विशेष लक्ष्य को जिस पर सतर्कता से निशाना लगाया जाता था—हदफ कहते थे (स्टीनगैस)।

तीर चलाने के तरीके—रिसाला-ए-तीर व कमान' में बताया गया गया है कि धनुर्विद्या के अभ्यास में १२ सिद्धान्तों का पालन करना पड़ता था। इनमें से तीन नियम दृढ़ता से सम्बन्धित थे (१) कमान को मजबूत पकड़ रक्खो (२) पहली ऊँगली को दृढ़ रक्खो (३) तीर छोड़ते समय आगे बढ़े हुए पैर को दृढ़ रक्खो। तीन नियम शरीर के विभिन्न अंगों को ढीला रखने के सम्बन्ध में थे —(१) शरीर

का बाँया भाग ढीला रहना चाहिए; (२) बांये पैर को भी ढीला रखना चाहिए और (३) अन्य ऊँगलियों को ढीला रखना चाहिए । तीन नियम शरीर को सीधा रखने से सम्बन्धित थे—(१) शरीर सीधा रहना चाहिए (२) माथे को सीधा उठाए रखना चाहिए (३) हाथ की कुहनी को सीधा रखना चाहिए । अन्य तीन नियम एकाकी थे—(१) शरीर के एक तरफ का भाग प्रयोग करो (२) एक आँख का प्रयोग करो और (३) दोनों हाथों को एक ही दिशा में रक्खो । एक तीर में निम्नलिखित प्रकार के सात दोष हो सकते थे (१) तीर पर चौड़ा कटाव (२) तीर के डन्डे का टेढ़ा होना (३) अग्र भाग की अपूर्णता (४) अग्रभाग का अधिक वजनी होना (५) तीर के पिछले सिरे का खोखला होना (६) तीर के डन्डे का सीधा न होना (७) कमान में लोच की कमी होना । २०० गज की दूरी पर स्थिति सवार को निशाना बनाने के लिए उसकी टोपी पर निशाना लगाना चाहिये, यदि वह १०० कदम की दूरी पर है तो उसके मुँह को और यदि वह ५० कदम दूर हो तो उसके घोड़े के आसन पर निशाना बाँधों । ऐसा करने से निशाना उसकी छाती में लगेगा । एक अच्छे धनुर्धन को डोर वाली धनुष के बदले 'लेजम' (लोहे की जंजीर लगी हुई छोटी कमान से अभ्यास करना चाहिए) कमान पकड़ने के तीन ढंग हैं :—चंगल-ए-'बाज' (बाज पत्ती के पंजे की तरह); मुशर्रफ (तिरछे) या मरब्बा (आयताकार) और ये ढंग धनुर्धर की उगलियों की लम्बाई पर निर्भर करते हैं । तीर को बिना हिलाए, पकड़े रखना चाहिए और आगे बढ़े पाँव को जमीन पर जमा कर रखना चाहिए। निशाने पर तीर छोड़ते समय ईश्वर का नाम लेना चाहिए । शेख अल्लहयार सानी ने 'हदीकत-उल-अकालीम' में अन्द उस-समद नामक एक धनुर्विद्या में पारंगत उस्ताद का वर्णन किया है जिसने लेखक को तीन ढंग से तीर चलाने की शिक्षा दी—(१) उस्ताद ताहिरी के ढंग से, (२) कब्जहगर (३) मुश्त । इसके पहले अल्लाहयार केवल बहगम की शैलीं के अनुसार तीर चलाता था ।

'ओरियन्टल फील्ड स्पोर्ट्स' में कैप्टेन विलियमसन ने लिखा है कि धनुष पर प्रत्यंचां चढ़ाने के लिए धनुष का एक सिरा जाँघ में दबा लिया जाता था और दोनों हाथों से दूसरे सिरे को झुकाया जाता था जब तक कि डोर धनुष के दूसरे सिरे पर बने कटाव में फिसल कर कस न जाय । सामान्यतः प्रत्यंचां (डोर) की लम्बाई ३० इंच होती थी, पर यह लम्बाई अधिक भी हो सकती थी । एक नए धनुष पर तीर को प्रत्यंचां पर रखकर सिर तक तान लेना बहुत ही शक्तिशाली हाथों का कार्य था ।

बाँया हाथ दाहिनी छाती के सामने पर्याप्त दूरी पर रहता था जिससे प्रत्यंचां को खींचने के लिए पूरा स्थान मिल सके । तीर का पिछला सिरा प्रत्यचां पर रक्खा

जाता था और दाहिने हाथ की पहली व बिचली उगली से प्रत्यंचा और तीर को दबा कर धीरे-धीरे छाती की तरफ तब तक खींचा जाता था जब तक कि तीर का सिर कमान की बाहरी लकड़ी के पास बाएँ हाथ की पहली उंगली तक नहीं आ जाता था। कमान को हमेशा लम्बवत् पकड़ा जाता था। हिन्दुस्तानी धनुर्धर ६०-७० गज की दूरी पर रखे हुए चाय के कप के आकार की वस्तु पर निशाना लगाने में शायद ही कभी चूकते थे, कैप्टेन विलियमसन ने लखनऊ में एक व्यक्ति को इतनी ही दूरी पर रक्खी गई एक पतली घूमने वाली छड़ी पर दो बार निशाना लगाते देखा। बंगाल में पहाड़ियों पर रहने वाली जातियाँ भी धनुर्विद्या में बहुत कुशल थी। वे पीठ के सहारे लेट जाते थे और अपने पैरों से धनुष को जमीन के समानान्तर, कुछ ऊँचाई पर दृढ़ रखते हुए, तीर द्वारा २००-३०० गज की दूरी पर रखे हुए, पानी के साधारण घड़े को (जिसकी परिधि मुश्किल से एक फुट होती थी) वेध देते थे। वे उड़ती हुई चीलों को तीर द्वारा नीचे गिरा सकते थे और उनका निशाना शायद ही कभी खाली जाता था।

२—बन्दूक (मैचलॉक)

बन्दूक के लिए 'तुफंग' (स्टीनगैस, ३१४) शब्द का भी प्रयोग होता था ❀। 'आईन' भाग १, पृ०११३ में, बन्दूक की बनावट में पर्याप्त सुधार करने का श्रेय अकबर को दिया गया है, परन्तु फिर भी १८वीं शताब्दी के मध्य तक धनुष बाण ही सवारों का मुख्य अस्त्र माना जाता रहा और बन्दूक को नीची नजर से ही देखा जाता रहा। बन्दूक को नीची सामन्यतः पैदल सेना का अस्त्र माना जाता था, जिनकी स्थिति उस काल में सवारों के सामने बहुत नीची थी। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में जब अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने पैदल सेना की साजसज्जा एवं उपयोगिता का उदाहरण प्रस्तुत किया तो पैदल सैनिकों को सज्जित करने एवं सुसंगठित तथा अनुशासित रखने के प्रयास प्रारम्भ किए गए।

अकबर के समय में बन्दूक की नली या (नाल) की लम्बाई ६६ इंच या ४१ इंच होती थी। नाल और कुन्दा, दोनों पर बड़ी अच्छी सजावट की रहती थी

❀ मद्रास मैनुअल भाग ३ में 'तूपक' (छोटी तोप) का उल्लेख मिलता है। इस शब्द को मैंने केवल एक ही स्थान पर पाया है तिलोक शाह द्वारा नादिरशाह पर लिखी गई एक हिन्दी कविता में (जनरल आफ ए० सो० आफ बंगाल)। ऊपर दिए हुए रूप में इसका प्रयोग तोप के छोटे आकार के लिए हो सकता है, लेकिन इसे हम 'तुफक' भी पढ़ सकते है (स्टीनगैस ३१४) जो 'तुफंग' का दूसरा रूप हो सकता है।

जिसके लिए भारत, अन्य पूर्वीय देशों की तरह ही प्रसिद्ध है। ६६ इंच की लम्बाई वाली नाल की बन्दूक मुख्यतः पैदल सेना द्वारा दृष्टि प्रयोग की जा सकती थी। एक बन्दूकची की सज्जा का सबसे आवश्यक भाग एक तिपाई होती या जिसे 'शाख-ए-तुफग' कहा जाता था। बन्दूक को, गोली चलाते समय, इसी ढाँचे पर स्थित कर दिया जाता था (मीरात-उल-इस्तिला)। अशाब ने इस ढाचे का नाम 'मेह पाया' (तीन पैर वाला) बनाया है। सीटन (भाग १, पृ० २०७) के अनुसार कभी-कभी यह ढाँचा बन्दूक से जुड़ा रहता था। वर्नियर (पृ० २१७) के अनुतार यह ढाँचा लकड़ी का होता था।

इजर्टन की किताब मे (पृ० ८३, ११०, १११, ११८, १२४, १३२, १३३, १३६, १४५) बन्दूकों या छोटी बन्दूकों के साठ नमूने दिए गए है। इजर्टन ने बन्दूक (मैचलाक) के लिए 'तोड़ेदार' शब्द दिया है। इन में १३ बन्दूकों के चित्र चौथी प्लेट (पृ० ५१) और दसवीं प्लेट (पृ० ११४) पर तथा पृष्ठ ७६ की चित्रावली में दिए गए हैं। इनमें से एक बन्दूक छोटे आकार की है, एक रिवाल्वर (तमंचा) चार गोलियों वाला है, एक नाल राइफल की तरह है, पाँच नमूनों में विस्फोट के लिए चकमक पत्थर लगाया गया है, और चार में धक्के द्वारा विस्फोट की व्यवस्था है जो कि आधुनिक यूरोपियन नमूनों की नकल है। अन्य ४८ नमूने साधारण बन्दूकों के हैं। इनमें सबसे छोटी बन्दूक ४ फीट ७ इंच लम्बी है और सबसे लम्बी बन्दूक की लम्बाई ७ फीट है। ६ फीट ५ इंच लम्बी एक बन्दूक (नं० ६७१) को दीवाल में लगाये जाने वाली बताया गया है। इस दृष्टि से नं० ५५१, ५८४ और ५८५ भी, जो कि काफी लम्बी हैं, इसी कोटि के होगी। इन नमूनों में से दो बन्दूकों की नाल अष्ट भुजाकार है, एक अन्य बन्दूक की नाल, केवल बाहर से ही नहीं, बल्कि भीतर से भी आयताकार है।

यूरोपीयन नमूने की बन्दूकों (तुफंग-ए-फरंग) की अधिक कदर की जाती थी और ऐसी बन्दूकें बड़े सरदारों एवं उमरा के पास ही दिखाई पड़ती थीं। जैसा कि मुहम्मद कासिम ने 'इबारतनामा' (पृ० ३५२) में लिखा है, इसी प्रकार की एक बन्दूक से हैदर कुली खाँ, अमीर आतश के पीछे बैठे हुए उसके गुलाम ने ८ अक्टूबर १७२० को सैयदगैरत खान को गोली मार दी थी, जबकि सैय्यद के चाचा हुसेन अली खान बारहः कत्ल के बाद सीधे मुहम्मदशाह की छावनी पर धावा बोल दिया गया था।

मुगल काल के अन्त तक बन्दूक ही सामान्यतः प्रयोग किया जाने वाला एक-मात्र आग्नेयास्त्र था। चकमक पत्थर की मदद से विस्फोट का ढंग उन्हें ज्ञात नहीं था और धक्के से विस्फोट होने वाली बन्दूकें तो उन्होंने देखी ही नहीं थीं; ऐसी बन्दूकें

१६ वीं शताब्दी के पहले यूरोप में भी सामान्यतः प्रचलित नहीं थीं (एच० विल्किसंन 'इंजिन्स आफ वार'। चकमक पत्थर से विस्फोट वाली व्यस्वथा भी यूरोप में १७ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रचलित हुई थी। वायल और स्टीवेन्सन (मिलिटरी डिक्शनरी' पृ० १४२) के मतानुसार इस तरह की बन्दूक १ का आविष्कार १६३५ में ही हो गया था परन्तु इंग्लैण्ड में इसका प्रयोग १६७७ से पहले नहीं होता था। इस हिसाब से इस प्रकार की बन्दूक का प्रचार पूरब में १०० वर्ष बाद हुआ। जब नवाब वजीर और मराठों ने यूरोपियन ढंग पर सेना का संगठन किया तथा परेड आदि की व्यवस्था प्रारम्भ की तभी हिन्दुस्तानी फौजों के हाथ" चकमक वाली बन्दूकें कुछ संख्या में दिखाई पड़ने लगी। उदाहरण के लिए इजर्टन द्वारा दी गई ६० बन्दूकों की सूची में पचास साधारण बन्दूकें थी और केवल ५ बन्दूकें चकमक से लैस थीं। एम० विल्क्स ने 'साउथ इन्डिया' भाग १ (पृ० २७८) में एक टिप्पणी में लिखा है कि १७५१ में दक्षिणी भारत की फौजों के लिये चकमक से लैस बन्दूक एक बिलकुल ही नई चीज थी। १८१८ में फिट्जक्लरेंस ने भी इस मत की पुष्टि की है। उसने लिखा है—"चकमक वाली बन्दूक यूरोपियनों द्वारा प्रचलित की गई है, परन्तु सामान्यतः इसका प्रचार देश में कम है; मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि इन बन्दूकों का प्रयोग हिन्दुस्तानी करते ही नहीं; यद्यपि हमारे (इंगलिश) ढंग पर संगठित होल्कर और सिन्धिया की सेवाएं इस बन्दूक का प्रयोग करती हैं। इस किस्म की बन्दूकें बहुत कम संख्या में लाहौर में बनाई जाती है।" यह सत्य है कि खैर-उद-दीन ने 'इबारत-नामा भाग १, (पृ० १०५) में लिखा है कि ११७३ हि० (१७५६) में जब पटना के नायब सूबेदार राम नरायण को शाह आलम ने पराजित किया तो उसे रामनरायन के फौज की अन्य चीजों के साथ ६००० चकमक वाली बन्दूकें (बन्दूक-ए-चकमकी) प्राप्त हुई थी। यह आंशिक रूप से ही सत्य हो सकता है, फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस समय तक हुगली के बन्दरगाहों पर बाहरी देशों से शस्त्र आने लगे थे। परन्तु बंगाल या बिहार में जो हो रहा था, समुद्र से दूर के क्षेत्रों में वही चीज घटित होना आवश्यक नहीं था। फिर भी अंग्रेजों और फ्रांसीसियों से निरन्तर बढ़ते हुए सम्बन्ध के फलस्वरूप दक्षिण में भी चकमक वाली बन्दूकों का प्रचार कुछ पहले ही हो जाना सम्भव है। जो भी हो; यह कहा जाता है कि 'गार्दी' के १२ बटैलियन सिपाही फ्रांसीसी ढंग से शिक्षित किये गये थे और जनवरी १७६१ में, पानीपत की लड़ाई में यह सेना, जो कि इब्राहीम खाँ, गार्दी के नेतृत्व में थी—'बन्दूक-ए-चकमक से सुसज्जित थी (हुसेन-शाही) और यदि हम वास्तविक घटना घटने के ५८ वर्ष बाद बयान करने वाले अशाब की स्मृति पर भरोसा करें तो यह मानना पड़ेगा कि ११४१ हि० (१७२६ ई०) में दिल्ली की जामामस्जिद में हुए उपद्रव में भाग लेने वाले तोपखाने के सैनिकों के पास चकमकी बन्दूक थी।

बन्दूक की नाल पर प्रायः कोफ्तगारी का काम किया रहता था। कुन्दे पर भी विभिन्न प्रकार की धातुओं एवं रंगदार चीजों से सजावट की जाती थी। कभी-कभी कुन्दों पर सोने का काम किया रहता था, या उन पर हाथीदांत या आबनूस की ऊपरी पर्त चढ़ाई रहती थी। नाल साधारणतः किसी धातु की चौड़ी पत्तियों या इस्पात, पीतल चाँदी अथवा सोने के तारों द्वारा कुन्दे से जुड़ी रहती थी। इन चौड़ी धातु की पत्तियों में प्रायः जालियाँ कटी रहती थीं। कुन्दों की शक्ल दो प्रकार की होती थी—(१) पतली, हल्के ढाल वाली, तथा ऊपर से नीचे तक समान चौड़ाई वाली (२) बहुत मोड़दार और पकड़ के स्थान पर बहुत पतली; नीचे की तरफ इसकी चौड़ाई बढ़ने लगती थी। प्रयोग में न लाई जाने की स्थिति में ये बन्दूकें लाल या हरे रंग के मोटे कपड़े की खाल में रखी जाती थीं।

पारह—रुस्तम अली बिजनौरी ने 'हिस्ट्री आफ दि रुहेलाज' (उर्दू में) नामक पुस्तक में अजमतुल्ला खाँ के पौत्र कुतुबुद्दीन खाँ और दोंदे खाँ के बीच रुहेल खण्ड में किरातपुर के निकट हुए युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है, "बन्दूक के पारह चढ़ते थे।" यद्यपि शब्दकोषों में यह अर्थ नहीं दिया गया है, फिर भी मेरे विचार से पारह का अर्थ बन्दूक का खटका होना चाहिये। स्टीनगैस ने इस शब्द के दो अर्थ दिये हैं—किसी ताले या दरवाजे का बोल्ट या लोहे का हथौड़ा। इन दोनों अर्थों से भी वही मतलब निकलता है।

फलीता—यह फारफी शब्द है; इसी का एक और समानार्थी फारसी शब्द 'जामगी' है। हिन्दी में इसके लिए 'तोड़ा' (शेक्सपियर पृ० ७०२) का प्रयोग होता है। अशाब के अनुसार तोड़ा को तैयार करने और जलाने के लिये 'फलीता शहसुवार नमूदन' का प्रयोग होता था।

कमर—बारूद आदि बन्दूक के विस्फोट कराने वाले सामानों में बारूद का बर्तन, गोली की थैलियाँ, सींग की सलाख (सींगड़ा) फलीते की डोर, चकमक और इस्पात; ये सारी चीजें एक पट्टे में लगी रहती थीं। यह पट्टा प्राय; मखमल का होता था जिस पर सोने का काम किया रहता था। अशाब ने सलाख (सींगड़ा) के लिये 'शाख' शब्द का प्रयोग किया है। स्टीन गैस में 'पाउडर हार्न' के लिये कई अर्थ दिया है परन्तु उसने 'शाख' शब्द नहीं दिया है। प्लैट्स ने 'हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' (पृ० ७१६) में बारूद रखने के छोटे बर्तन को 'शाखदहन' लिखा है। फिट्ज-क्लेरेन्स (पृ० ६६) ने १८१७ में कम्पनी की सेवा में नियुक्त सवारों के विषय में जिनमें से अधिकांश के पास बन्दूकें थीं—लिखा है—"जिस पात्र में वे अपना गोला बारूद रखते हैं, वह बहुत बड़ा है, चूंकि वे कारतूस का प्रयोग नहीं करते इसलिये बन्दूक भरने में उन्हें देर लगती है। उनमें से कुछ लोग अपने पास कम से कम २० गज

फलीता रखते हैं जिसका आकार एक बड़े गोले के समान हो जाता है।" यूरोपियन आधार पर थैले के लिये 'तोजदाँ और कारट्रिज के लिये कारतूस शब्द का प्रयोग आधुनिक काल में किया जाता है। ११९१ हि० (१७७७) में मुल्ला रहम दाद खाँ द्वारा रेमे मेडेक की पराजय का वर्णन करते समय खैरुद्दीन ने 'इबारतनामा' में इन शब्दों का प्रयोग किया है। वह किताब १२०३ हि० (१७८८) के बाद लिखी गई थी।

खाली कारतूस (ब्लैंक कार्ट्रिज)—रुस्तम अली बिजनौरी ने 'हिस्ट्री आफ द रुहेलाज' (उर्दू) में इसके लिये 'खाली गोली का प्रयोग, किया है—"बतौर जंग-ए-जरगारी खाली गोली से आपस में चलीं" अर्थात सोनारो की तरह झगड़े में उन्होंने एक दूसरे पर खाली कारतूस चलाये।

कैलेटोक—इस विचित्र शब्द का प्रयोग अन्क्वेटिल ड्यूपरों ने मुर्शिदावाद में सिराजुद्दौला की रक्षक सेना (१७५७) का वर्णन करते समय किया है (जेन्द अवेस्ता)। उसने इस शब्द की परिभाषा इस प्रकार दिया है—"

इस शब्द की इस व्याख्या से मैं काफी देर तक उलझा रहा पर डुपरन की दी हुई स्पेलिंग से मैं एक शब्द के मूल शुद्ध रूप का कोई संकेत न पा सका। यह शब्द फ्रांसीसी भाषा का नहीं है क्योंकि इसकी स्पेलिंग विभिन्न लेखकों ने अलग-अलग लिखा है। उदाहरण के लिए डि-ला-फोट ने कारोमंडल तट का वर्णन करते समय एक बहुत लम्बी बन्दूक का उल्लेख किया जिसका नाम उसने 'कैटोक' लिखा है (डुपराँ के शब्द 'कैलेटोक' में 'लें' का उच्चारण न करने पर हम इसे भी 'कैटोक' ही पढ़ सकते हैं)। जेन्टिल ने भी, ११ जून १७५३ को सलावत जंग की फौज के औरंगाबाद में प्रवेश करने की घटना का वर्णन करते हुए, 'कैटोक' शब्द का उल्लेख किया हैं। रेने मेडेक ने इसकी स्पेलिग कैटोक दिया है। कुछ समय तक मैं यही समझता रहा कि शायद कन्दूक (बन्दूक का कन्दा) को ही इस रूप में पूरी बन्दूक का बोध, कराने के लिए प्रयोग किया गया है, परन्तु किसी भी हिन्दुस्तानी लेखक ने इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया है। यह भी सम्भव हो सकता है कि सम्बन्धित शब्द 'बन्दूक' का ही बिगड़ा हुआ रूप हो। मिस्टर बीवरिज ने मुझे यह सूचना दी कि इस शब्द की उत्पत्ति 'मिलटेक' (बन्दूक) शब्द से भी हो सकती है। पी० डी० कर्टील ने 'डिक्शनरी' में स्वयं 'मिलटेक' को भी 'बन्दूक' का अपभ्रंश बताया है। इस शब्द की कोई सन्तोषजनक व्याख्या और व्युत्पति उपलब्ध होने के अभाव में हम 'कैलेटोक' या 'कैटीक' की व्युत्पति 'कुल्तुक' (कांख) से मान सकते हैं (शां=पृ० १५७, पी० डी—कर्टील-पृ० ४३५) और वह भी इस आधार पर, कि बन्दूक को प्रायः बांह के नीचे दबाकर ले जाया जाता है।

परन्तु इस शब्द पर खोज करने से ध्यान हट जाने के काफी समय बाद मुझे

बन्दूक शब्द के लिये अचानक एक ऐसा शब्द मिल गया, जिससे मैंने निश्चितमत बना लिया है कि उपरोक्त यूरोपीय लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्द का मूल शुद्ध रूप यही शब्द है। यह शब्द —कैदूक—'मुझे अब्दुल लतीफ द्वारा रचित' अहमद-नामा में प्राप्त हुआ। यह ग्रंथ लखनऊ में ११८४ हि (१७७०) में अहमद-शाह के शासन के वर्णन से सम्बन्धिक एक काव्यात्मक वृतान्त है। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि में दो स्थानों पर मुझे कैदूक शब्द मिला है। इनमें से एक अंश गद्य में और दूसरा अंश पद्य के रूप में हैं। ये दोनों अंश निम्नलिखित हैं—

गद्य

"दास्तान दर बयान कि रोज सवारी-ए-वजीर दर राह-मी-रफ्त व यके अज मुआन्द दर कमीनगाह निशिस्तः, कैदूक बर ऊ राग्दह, अज ईं मनी वजीर खियाल-ए-फासिद बदिल अज शाह रसान्दह, ओ देरह-ए-खुद अज दिहली वेरून हन बुर्दह, बियान-ए-फसाद रा तामीर दाद।

पद्य

बियान-ए राह कसे काजू गिरिफ्तः, जदह कैदूक बारू ऊ निहुफ्तः
बा कस्द-अश गरचह ऊ दाईह-जद वले ईजद खियाल अश साख्त हद।
गिरिफ्तन्द-अश कसान अज जोर मन्दी कशाँ बरदन्द ऊरा हम चू बन्दी।

मैंने बहुत से शब्द कोष ढूँढ़ डाले परन्तु मुझे 'कैलेटोक' या कैटोक शब्द कहीं नहीं मिला।

जजैल या जजैर—यह दीवाल में लगाई जाने वाली बन्दूक थी और यह ध्यान देने योग्य बात है कि इसका वर्णन सैनिकों द्वारा युद्ध में ले जाए जाने वाले अस्त्र शस्त्रों के साथ किया जाय या तोपखाने के साथ। कुछ दृष्टियों से, यह दोनों श्रेणियों में सम्मिलित थी। स्टीनगैस ने पृ० ३६२ में जजैल को एक बड़ी बन्दूक बताया है जो दीवाल में लगाई जाती थी या किसी आधार पर रखकर चलाई जाती थी। इजर्टन ने पृ० १२४ में कार्डिंगटन के संग्रह में रखी हुई ७-८ फीट लम्बी 'जजैलों' का उल्लेख किया है। अशब ने करनाल के बाहर मुहम्मद शाह के घेरे (११५१ हि० फरवरी १७३६) का बर्णन करते समय दोबार 'पुस्तह' शब्द का उल्लेख किया है जो 'जजैल' धारण करने वाले आदमियों के पास रहता था। यह शब्द आधार या अस्त्र रखने के ढाँचे से सम्बन्धित नहीं है क्योंकि इस तीन पैर वाले आधार का बर्णन अलग से किया गया है, सम्भवतः युद्ध-क्षेत्र में आड़ या सुरक्षित स्थान बनाने से सम्बन्धित है।

इसी के साथ हम 'गिंगल' शब्द का भी उल्लेख पाते हैं, जो कि यूरोपियन लेखकों द्वारा प्रयोग किया गया है। शेक्सपियर (पृ० ७६६) के अनुसार यह या तो

'जजैल' का अपभ्रंश है या 'जन्जाल' (कष्ट कठिनाई) से बना हुआ है। स्टीनगैस ने (पृ० ७३) 'जन्जाल' को 'भीड़' के अर्थ में प्रयोग किया है। मूल और बर्नेल के मतानुसार (पृ० २८५) 'जन्जाल' शब्द की उत्पत्ति का स्रोत 'अनिश्चित' है। फिट्ज-क्लेरेंस ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। (पृ० १८१८)। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बुन्देलखण्ड में लिखी हुई एक हिन्दी कविता में भी 'जन्जाल' का प्रयोग मिलता है (जरनल-ए० सो० आव बंगाल, अंक ५७)। मेरे विचार से 'जिन्जल' (गिंगल) शब्द की उत्पत्ति 'जजैल' से हुई है। यदि, 'ज' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग किया जाय (जैसा कि अशिक्षित भारतीय प्रायः करते हैं। तो 'जजैल' शब्द बनता है, यदि आप उसमें आधा 'न' भी जोड़ दें, (जैसा होना मुश्किल नहीं है) तो आप तुरन्त 'जन्जैल' शब्द प्राप्त करेंगे जिसे झटके में 'जन्जाल' भी पढ़ा जा सकता है। अब चाहे 'गिंगल' शब्द 'जजैल' से निकला हो या न निकला हो, परन्तु ये दोनों शब्द मेरे विचार से एक ही किस्म के अस्त्र के लिए प्रयोग किए गए हैं जैसा कि सर होप ग्रान्ट के 'चीनी गिंगल' ('लाइफ' भाग २, पृ० ६२) के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। "यह अस्त्र एक प्रकार की वजनी बन्दूक है जिसके साथ लगभग २ पौण्ड के वजन का एक गोला रहता है, उसके मार के क्षेत्र की सीमा कम से कम १००० गज है। यह एक तीन पैर वाले आधार पर रक्खा जाता है जिससे काफी सन्तोषजनक निशाना लगाया जा सकता है।" लेक (सीजेज पृ० ७०) के अनुसार 'गिन्जल', 'जजैर' या 'जजैल' का ही दूसरा रूप है, विभिन्न शक्तियों की लम्बी बन्दूकें जो कि प्रायः किसी आधार पर कसी रहती हैं, भारतीयों द्वारा प्रयोग में लाई जाती है, इनसे कम से कम १ पौण्ड वजन के लोहे के गोले चलाए जाते हैं। युद्ध क्षेत्र में ये शस्त्र कभी-कभी ऊँटों की पीठ पर ले जाए जाते हैं।" फिट्जक्लेरेन्स के अनुसार भारतीय 'जन्जैल' दो औंस या इससे अधिक वजन के गोले चलाए जाते थे। जैसा कि कैप्टेन टामस विलियमसन ने ('ओरियंटल-फील्ड स्पोर्टस) ने लिखा है कि 'जिन्जल' वा भारी बन्दूकें किलों की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण स्थानों पर कसी रहती थीं। उनसे चलाए जाने वाले गोलों का वजन २-३ औंस तक होता था, ये इतनी वजनी होती थीं कि बिना किसी आधार के इन्हें नहीं चलाया जा सकता था। कुछ ऐसे शस्त्रों के लिए लोहे का लगभग एक फुट लम्बा आधार बनाया जाता था और नाल से कुछ ही दूर पीछे की तरफ के भाग पर आधार पर कसी रहती थी। इन्हें किसी दीवाल, झाड़ी या जमीन पर ही स्थित किया जाता था। मिट्टी से बने किलों की रक्षा के लिये, विशेषकर बुन्देल खंड में, घिरे हुये सैनिक व शस्त्र बड़ी कुशलता का परिचय देते थे; अधिक दूरी पर स्थित शत्रु के सिर या छाती पर निशाना लगा लेना उनके लिये कोई मुश्किल कार्य नहीं था। यद्यपि भारतीय द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले सभी अस्त्र बेलनाकार होते थे और उनके नाल की भीतरी चौड़ाई (बोर) भी अधिक नहीं होती थी, परन्तु गोले की शक्ति-

व तीव्रता प्रदान की जाती थी। १८४२ में अफगानों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले 'जुजैल' का वर्णन कर्नल टामस सीटननों ने 'फ्राम कैडेट टु कर्नल' भाग १ पृ० २०७ में किया है।

'घोड़-दहन'—भी एक तरह का जजैल था; ११६१ से ११६७ हि० (१७४८-१७५४) तक मुइन उल-मुल्क के लिए लाहौर में १००० ऐसे शस्त्र बनाये गये थे (मिसकीन-'तहमस-नामा' रचना काल-११९६ हिजरी)। आग्नेयस्त्र के नाल की चौड़ाई अधिक थी।

'किद्र'—११४३ हि० में अहमदाबाद के बाहर अभयसिंह राठौर और सर-बुलन्द खाँ के बीच हुई लड़ाई का वर्णन करते समय 'मीरात-ए अहमदी' में किद्र, और बन्दूकों के साथ लड़ाई के लिये घुड़सवारों के आगे बढ़ने का वर्णन किया गया है। मैं यह नहीं समझ पाया कि यह किस तरह का अस्त्र था। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ, 'कड़ाही' 'बर्तन' आदि होना चाहिये ऐसा स्टीन गैस का मत है परन्तु उसने इस शब्द की व्याख्या नहीं किया है। अर्सकीन की 'हिष्ट्री' के अनुसार जिस प्रकार अन्य सैनिक दल अपने झन्डों को लेकर चलते थे उसी प्रकार उसमानी दल वाले अपना समूचा गोदाम किद्र के समीप रखते थे।

३–पिस्तौल (तमन्चा)

इस अस्त्र को 'तमन्चा' या 'तमान्चा' (स्टीन गैस—पिस्तौल) कहा जाता था। इसका उल्लेख 'आईन' में नहीं मिलता; यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है क्योंकि आईन की रचना १५९६-९७ में हुई थी जब कि १५४४ से पहले यूरोप में भी पिस्तौल का नामोनिशान नहीं था (एच० विल्किन्सन-इजिन्स आफ वार' पृ० ५८)। कुछ सीमित मात्रा में भारत में पिस्तौल का प्रयोग १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही देखने में आया। उदाहरण के लिये, पिस्तौल द्वारा ही अक्टूबर १७२० में हुसेन अली खाँ के एक रिश्तेदार सैय्यद ने हुसेन अली खाँ के कातिल का खून किया था। मुहम्मद कासिम लाहौरी—'इबारतनामा)। सम्भव है कि डाउसन ने तमन्चा को ही 'नीम चा' पढ़ लिया हो जिसका अर्थ उसने 'छोटी तलवार' बताया है परन्तु सभी पुस्तकों में मुझे 'तमन्चा' शब्द ही मिला है। सम्भवतः बड़े अमीर-उमरा के पास ही पिस्तौल रहती थी। इन्डिया म्यूजियम में इसके बहुत ही कम नमूने रक्खे हुए हैं जिससे पता चलता है कि उस समय पिस्तौलों की संख्या बहुत ही कम थी। इजर्टन की 'हैन्डबुक' में केवल तीन नमूनों का उल्लेख है जिनमें से एक आधुनिक अंग्रेजी ढंग के पिस्तौल के ढंग का है। परन्तु अशाब ने दिल्ली की बड़ी मस्जिद में मोचियों द्वारा ११४१ हि० (११ मार्च १७२९) में किये गये उपद्रव का वर्णन करते हुए लिखा है कि

इस विद्रोह में भाग लेने वाले सैनिकों के पास यूरोपियन पिस्तौलें और 'तमन्चे' थे।

शेरबच्चा—यह छोटी बन्दूक सम्भवतः पिस्तौल के वाद प्रयोग में लाई गई थी, ऐसा प्रतीत होता है। इजर्टन ने इसके केवल तीन नमूने प्रस्तुत किया है—नं० ४१० (पृ० ११०), ७६१, ७६२ (पृ० १४४)। इनमें से एक की लम्बाई २० इंच है। सम्भवतः यह शस्त्र नादिरशाह की सेना (१७३८) या अहमद शाह अब्दाली (१७४८-६१) के साथ भारत में पाया था। १८ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लखनऊ में एक फारसी घुड़सवार टुकड़ी थी जिसे 'शेरबच्चा' नाम से पुकारा जाता था। सम्भवतः उनका यह नाम इसी अस्त्र के आधार पर पड़ा होगा और यह अस्त्र उनके पास रहा होगा। यह भी सम्भव है कि यह नाम उन सवारों की भयानकता और शत्रु के खून के लिये उनकी प्यासके विशेषण के रूप में प्रयोग किया गया हो। डाउसन ने 'इलियट' भाग ७, पृ० ३६८ में, 'अकबरूल-मुहब्बत' से उद्धृत करते हुए लिखा है कि अहमद-शाह अब्दाली के १०,००० पैदल सैनिकों के पास १७६० में 'काबुल के शेर बच्चे (पिस्तौलें) थीं'।

———

दसवां अध्याय

तोपखाना—भारी तोपें

इस विभाग के लिए सामान्यतः तोपखाना 'शब्द प्रयोग में लाया जाता' था। तोपखाने से सम्बन्धित सभी उपविभागों को इसी नाम से जाना जाता था। ये उपविभाग इस प्रकार थे—(१) निर्माण कर्ता विभाग (२) रख रखाव विभाग, ये दोनों विभाग या मीर आतश दरोगा अधीन रहते थे जिन पर शाही खान सामान (लार्ड स्टेवार्ड) का नियन्त्रण रहता था, (३) वास्तविक प्रयोग में लाई जाने वाली लड़ाई की तोपें और (४) किलों की रक्षा में प्रयोग की जाने वाली तोपें। अन्तिम दो विभागों का प्रबन्ध देखने में सम्भवतः मीर आतश, खानसामा के अधीन नहीं रहता था।

फारसी शब्दकोषों के अनुसार 'तोप' तुर्की की उत्पत्ति टर्की भाषा से हुई, परन्तु बाबर इसके लिए 'जर्ब-जन' शब्द का प्रयोग करता था। इस सम्बम्ध में देखिए हार्न, पृ० २७, पैवेट डी कर्टील 'मेम्वायर्स' भाग २, पृ० १६८—अरावः उस्तिदाकी जर्बजनलार, व जरब जन लिक अरावः लार और बदायूनी भाग २, पृ० १६४—"ता जर्बजनहा ओ जम्बरखा कि बाला-ए-अरोबहा-ए-बूद" अर्थात् तोप व अन्य सम्बन्धित वस्तुएँ जो गाड़ियों पर थी। १११६ हि० में लिखने वाले कामराज ने भी 'आजम-उल-हर्ब' में जर्बजन का प्रयोग किया है। मैंने इस विषय में विशेष खोज नहीं कि भारतीय ग्रंथों में 'तोप' शब्द का प्रयोग कब से आरम्भ हुआ, परन्तु सम्भवत: यह शब्द सर्व प्रथम दक्षिण में उन तुर्कों द्वारा प्रचलित किया गया जो दक्षिणी रियासतों के तोपखानों में नियुक्त थे। कुछ लोग मानते हैं कि तोपें केवल घेरा डालने वाले बड़े अग्न्यास्त्रों के लिये ही प्रयोग की जाती थी, परन्तु हम प्रायः इन सभी प्रकार की तोपों का वर्णन एक ही श्रेणी में पाते हैं चाहे वे छोटी हों या बड़ी, अकाार के अनुसार तोपों के अलग नाम आवश्यक हैं—तोप-ए-कलाँ और तोप-ए-खुर्द-बड़ी तोप और छोटी तोप।

ऐसा प्रमाण मिलता है कि बाबर काफी बड़े आकार की तोपें प्रयोग करता था (हार्न, पृ० २६)। बाबर ने अपने संस्मरणों में (पी० डी कर्टील भाग २, पृ० २५३) तोपखाने के मुख्य अधिकारी उस्ताद कुली खान के नियन्त्रण में आगरा में तोप सम्बन्धी कारखाना स्थापित करने के विषय में लिखा है "तोप का आकार ढालने

वाले यन्त्र के चारों तरफ लोहा पिघलाने के लिये आठ बड़ी-बड़ी भट्ठियाँ बनाई गई थी, भट्ठी के निचले भाग से एक नाली निकाली गई थी जो ढालने वाले स्थान तक पहुँचती थी। मेरे पहुँचने के तुरन्त बाद ही पिघली धातु को बहाने वाली नालियों के छेद खोल दिए गये। पिघला हुआ लोहा उबलते पानी की तरह नालियों में वह चला और ढालने वाले स्थान पर तेजी से पहुँचा। कुछ समय बाद जब कि ढालने वाला ढांचा पूरा नहीं भर पाया था तभी भट्ठियों की नालियों में पिघले हुए लोहे का प्रवाह बहुत धीमा पड़ गया। इसका कारण हो सकता था-ढाँचे के आकार अथवा धातु की मात्रा की गलत गणना। उस्ताद कुली खाँ की दशा यह देखकर बहुत ही शोचनीय हो गई और ऐसा लगा जैसे वह पिघली हुई धातु में ही कूद पड़ेगा। मैंने उसे बहुत समझाया, उसको खिलअत (सम्मान जवकः) दिलाने का हुक्म दिया और इस तरह उसे चिन्तामुक्त एवं संतुष्ट करने में सफल हुआ। इसके एक दो दिन बाद जब ढाँचे का पिघला हुआ लोहा ठन्डा हो गया, तो इसे खोला गया, उस्ताद कुली खाँ, निर्मित वस्तु को देखकर उछल पड़ा और उसने मुझे कहला भेजा कि यंत्र के छेद में कोई दोष नहीं था और उसमें बाहरी छिद्र (चेम्बर) बताया जा सकता था। तब तोप के पूरे आकार को खोल दिया गया और इसके शेष कार्य को पूरा करने के लिए कारीगर लगा दिए उये जब कि वह स्वयं चेम्बर तैयार करने के कार्य में लग गया। भाग २, पृ० २६६ से ज्ञात होता है कि चेम्बर अलग से ढाला जाता था और इसके बाद तोप की परीक्षा ली जाती थी और एक गोला लगभग १६०० कदमों की दूरी तक फेंका जाता था। एक ऐसी ही परीक्षण के अवसर पर (भाग २, पृ० ३२४) एक बड़ी तोप से गोला छोड़ा गया, गोला तो काफी दूर गया परन्तु तोप फट गई और आठ व्यक्ति मर गए।❀

इसके काफी समय बाद तक भी लोहे को पिघला कर ढालने की कला अधिक विकास नहीं कर सकी। यह बात डिलाफ्लोट (भाग १, पृ० २५८) द्वारा १८ वीं शताब्दी में दक्षिण के विषय में किए गए वर्णन से और स्पष्ट हो जाती है। इस वर्णन के अनुसार हिन्दुस्तानी तोपें ढालकर नहीं बनाई जाती थीं बल्कि वे लोहे की छड़ों को एक साथ बाँधकर बनाई जाती थीं और स्थान-स्थान पर लोहे के छड़ों को मोड़ कर उन्हीं से बांधी भी रहती थी। अन्क्वेटिल डपराँ ने भी 'जेन्द अवेस्ता' में १७५७ ई० में नवाब सिराजुद्दौला के एक सेनानायक राजा दुर्लभ राम द्वारा नियंत्रित सेना का

❀ भाग १ पृ० ३२४ का यह अंश मुख्यत: बड़ी तोपों के सम्बन्ध में ही नहीं है। कहा जाता है कि तोपखाने का एक दूसरा अधिकारी मुस्तफा युद्ध-क्षेत्र की छोटी तोपों का ही प्रयोग करता था।

वर्णन करते हुए लिखा है, "तोपखाने में पूरा सामान था।" उसके काफी समय बाद, फिट्जक्लेरेंस ने १८१८ में (पृ० २५४) लिखा, "इस देशवासियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली तोप लोहे के बेलन के आकार की होती थी जिस पर पिघला हुआ पीतल ढाला रहता था।" पृ० २५१ पर वह फिर कहता है कि तोप बनाने के प्रारम्भिक प्रयत्नों में हिन्दुस्तानियों ने एक दूसरे में उलझी हुई लोहे की छड़ों का प्रयोग किया। एक स्थान पर लेखक ने तोप की रूपरेखा व बनावट में एक परिवर्तन भी देखा। दिल्ली में उसने एक ऐसी तोप देखी जो कि लोहे की एक तरफ पतली और दूसरी तरफ मोटी होती हुई छड़ों से बनी हुई थी और इन छड़ों को एक दूसरे से उलझा दिया गया था।

हार्न (पृ० २८) ने मिर्जा हैदर ('इलियट' भाग ५, पृ० १३१-२) के आधार पर लिखा है कि १५४० में कन्नौज की लड़ाई में हुमायूँ के पास ७०० तोपें (जर्बजन) थीं। प्रत्येक तोप चार जोड़ी बैलों द्वारा खींची जाती थी। इन तोपों से फेंके जाने वाले प्रत्येक गोले का वजन चार पौन्ड ३२० ग्रेन था। इनके साथ-साथ उसके पास २१ बड़ी तोपें भी थीं जिनमें से प्रत्येक को खींचने के लिये आठ जोड़ी बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। इन भारी तोपों से अन्य गोलों के दसगुने वजन के सीसे के गोले फेंके जाते थे। "हिस्ट्री भाग २, पृ० १८६ में, मिर्जा हैदर के उपरोक्त अंश के आधार पर ही लिखा गया है कि उसके पास ६१ बड़ी तोपें थीं जिनमें से प्रत्येक को खींचने के लिये ६० जोड़ी बैलों की आवश्यकता पड़ती थी। रॉस के 'तारीखे-रशीदी', पृ० ४७४ के अनुसार तोपों की २१ गाड़ियाँ थीं, जिनमें से प्रत्येक को खींचने के लिये आठ जोड़ी बैलों की जरूरत पड़ती थी। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुये हम अर्सकिन की दी हुई संख्याँ (६१ तोपें) की अपेक्षा २१ तोपों की संख्या को ही अधिक सही मान सकते हैं। परन्तु जहाँ तक खींचने के लिये आवश्यक बैलों की संख्या का प्रश्न है, मेरे विचार से ८ जोड़ी बैलों की अपेक्षा ६० जोड़ी बैलों की संख्या ही अधिक उचित प्रतीत होती है। क्योंकि जब फेंके जाने वाले गोलों का वजन साधारण गोलों से दसगुना अधिक होता था, तो उसी हिसाब से बड़ी तोपें भी उसी अनुपात में बड़ी होती होंगी और उनको खींचने के लिये साधारण तोपों के दो गुने से अधिक बैलों की जोड़ी लगतीं रही होगी।

डाक्टर हार्न (पृ० २६) का मत है कि पूरे मुगल वंश के शासन काल भर में तोपखाने ने अकबर के शासन काल में अधिकतम उन्नति की थी। परन्तु 'आईने-ए-अकबरी' में तोपखाने के सक्षिप्त वर्णन से यही ज्ञात होता है कि यदि तोपखाने की उन्नति हुई भीं थी, तो बहुत साधारण ही। इसके विपरीत बन्दूक सम्बन्धित विवरण बहुत अधिक हैं। मेरे विचार से यह मानना अधिक उचित होगा कि अकबर के

शासन-काल की अपेक्षा आलमगीर के समय में तोपखाने का कहीं अधिक विकास हुआ था। आलमगीर ने दक्षिण पर असंख्य आक्रमण किये थे और बीजापुर तथा जिन्जी आदि पर हुए कुछ महत्वपूर्ण आक्रमणों के लिये एक सशक्त तोपखाना अत्यन्त आवश्यक था। इसके अतिरिक्त अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी और अंग्रेजी सेनाओं के उदाहरण से यदि अधिक नहीं तो थोड़ी मात्रा में ही मुगलों ने भी अस्त्र-शस्त्रों के सम्बन्ध में काफी कुछ ग्रहण किया होगा; साथ ही कुछ यूरोपवासी भ्रमणार्थियों ने भी देशी रियासतों की सेना में प्रवेश किया और उन्होंने आधुनिक शस्त्रास्त्रों का प्रचार किया। कभी-कभी कुछ लेखक बड़े अतार्किक ढंग से किसी आधारहीन निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं, उदाहरण के लिये मिस्टर डी० मैक रिशी ने "जिप्सीज आफ इन्डिया" (पृ० २०७) में लिखा है कि यूरोप में तोपखाने का प्रचार हिन्दुस्तानी जिप्सियों (जिप्सी से डी० मैक का अर्थ जाटों से है) द्वारा किया गया था। परन्तु भारत में आग्नेयास्त्रों के विकास का इतिहास इस बात के विपरीत साक्षी देता है, भारत में आग्नेयात्रों के विकास क्रम के अनुसार भारत में तोपखाने का विकास यूरोपीय प्रभाव के फलस्वरूप हुआ था।

जो भी हो, १८ वीं शताब्दी के यूरोपीय पर्यवेक्षकों ने मुगलों के तोपखाने की क्षमता के विषय में उनकी अधिक प्रशंसा नहीं की है। उदाहरण के लिये, कर्नाटक के नवाब की सेना का, (१७४६ में) वर्णन करते हुये ओर्म ने 'हिस्ट्री आँव मिलिटरी ट्रांजेक्शन्स इन हिन्दोस्तान' भाग १, पृ० ७४ में लिखा है:—"युद्ध में प्रयोग की जाने वाली तोपों की पूरी क्षमता का अनुभव न करते हुए, उन्होंने कभी सोचा ही नहीं कि एक तोप से एक ही मिनट में ५-६ गोले तक फेंके जा सकते हैं, वे इसी को बहुत समझते हैं कि एक तोप से १५ मिनट में एक गोला फेका जा सकता है।" यही नहीं, इसके सत्तर वर्ष बाद भी १८१५ में निजाम का तोपखाना १५ मिनट में एक गोला फेंकने की क्षमता को ही बहुत सन्तोष जनक समझता था। कैम्ब्रिज ने १७६० में लिखे गये 'वार' में उनके तोपखाने के विषय में निम्नलिखित उद्गार प्रकट किया है, "तोपखाने के सम्बन्ध में सिपाहियों, विशेषकर उनके नायकों द्वारा संचित झूठे संतोष से अधिक भयानक चीज उनके सैनिक संगठन की दृष्टि से कोई दूसरी चीज या कमजोरी नहीं है। वे दुश्मन के तोपखाने से त्रस्त रहते हैं फिर भी मूर्खतापूर्वक अपने तोपखाने की क्षमता पर बहुत अधिक विश्वास रखते हैं और उनकी सबसे घातक भूल यह है कि ये बड़ी से बड़ी तोपों पर ही अधिक निर्भर करते हैं जब कि ऐसे तोपों पर नियंत्रण रखना भी वे पूर्ण रूप से नहीं जानते। वे अपनी तोपों के शानदार नाम रखते हैं जिस तरह कि इटली निवासी अपनी तोपों की बहुत अधिक कद्र करते थे—और कुछ ऐसी तोपें भी रखते हैं जिनसे ७० पौंड तक का गोला फेंका

जा सकता है। जब हम अपनी हल्की लड़ाकू तोपों से उनको घेरते हैं और उन्हें अपनी बड़ी तोपो को हटाना पड़ता है तो उनके बैल जल्दी नियंत्रण में नहीं आते और उनकी प्रतिरक्षात्मक सज्जा इतनी असुविधाजनक होती है कि किसी बैल के नियन्त्रण से बाहर हो जाने पर या मर जाने पर उन्हें तोप की गाड़ी से मुक्त करने में कम समय नही लगता। इस सम्बन्ध में मुस्तफा ने ('सीर' भाग १, पृ० ४४३) लिखा है। अच्छे और सक्षम तोपखाने के अस्तित्व से सम्बन्धित अभिव्यक्तियाँ गलतफहमी पैदा करने वाली हैं क्योंकि यह निश्चित है कि तत्कालीन तोपें उतनी ही अक्षम और वजनी थी जितनीं कि ३ सौ वर्ष पहले यूरोप की तोपें थां। ऐसा केवल १७६० के बाद ही सम्भव हुआ कि कुछ हिन्दुस्तानी तोपचियों ने लगभग यूरोपीय ढंग पर तोप को संचालित करना सीख लिया।

सन् १७६१ में मराठों द्वारा तोपखाने के संचालन से सम्बन्धित निम्नलिखित वर्णन तत्कालीन मुगल तोपखाने पर भी लागू किया जा सकता है—"एक बार तोप भरी जाने के बाद तोप से सम्बन्धित सभी व्यक्ति बैठ कर आधे घन्टे तक गप्प लड़ाते हैं और धूम्र पान करते हैं और जब गोला छूटता है और दूरी पर गिर कर धूल के बादल पैदा कर देता है तो इसे पर्याप्त समझा जाता है। तोप फिर से भरी जाती है और लोग फिर गप्पें लड़ाने में मशगूल हो जाते हैं। दोपहर के दो घन्टे बाद अर्थात १ बजे से ३ बजे तक प्रायः किसी भी दल से गोले नहीं छोड़े जाते, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है—परस्पर स्वीकृति द्वारा यह दो घन्टे का समय भोजन के लिये निकाल दिया जाता है। रात में तोपों के चलने की गति कम हो जाती है परन्तु दोनों तरफ से अन्धाधुन्ध बन्दूकबाजी प्रारम्भ हो जाती है (ई० मूर 'नैरेटिव' पृ० ३०)। बक्सर के युद्ध के विजेता कर्नल हेक्टर मुनरो ने १७६३-१७७२ के बीच के समय के विषय में कहा था कि उस समय के भारतीय शासक अपने तोपखानों को इंगलैंड, फ्रांस और हालैंड के यन्त्रों में सज्जित करते थे—"मुश्किल से ही भारतीय तटों पर कोई ऐसा जहाज आता है जो भारतीयों के हाथ तोपें और छोटे आग्नेयास्त्र न बेचता हो। बारूद की अधिकांश मात्रा वे स्वयं बना लेते हैं। ये हिन्दुस्तानी शासक पर्याप्त संख्या में गोलेबाजी करते हैं, परन्तु ट्रावनकोर के शासक के अतिरिक्त अन्य कोई भी शासक तोपें अपने नियन्त्रण में नहीं ढलवाता। इस देश में तोपों और अन्य युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं की चोरबाजारी भी चलती है, (कैरेकि ओली—"लाइफ आफ क्लाइव" भाग ३, पृ० २७६ और मिनट्स आफ सेलेक्ट कमिटी, एच० सी०" १४ मई १७७२ की बैठक)।

वजनी तोपें

मुगल अधिक वजन की भारी तोपों के बहुत शौकीन थे, यद्यपि ऐसी तोपों का

महत्व प्रदर्शन की दृष्टि से ही अधिक होता था, युद्ध क्षेत्र में इनके उपयोग की दृष्टि से ऐसी तोपें बहुत महत्वपूर्ण नहीं थी और जैसा कि फिट्जक्लरेन्स का मत है, मुगल अपनी तोपों के वजन और बड़े आकार से ही अपने तोपखाने को पश्चिम वालों के मुकाबले में श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली सिद्ध करना चाहते थे। इस दिशा में वे प्रायः सीमा से भी आगे बढ़ जाते थे। ये बड़ी तोपें जितना शोर मचाती थीं, उतनी उपयोगी नहीं होती थीं। वे दिन भर में कुछ ही बार दागी जा सकती थी और प्रायः इनके फट जाने का भी डर रहता था जिससे इनसे सम्बन्धित अधिकारी व सिपाही मर जाते थे या बुरी तरह घायल हो जाते थे।

नामकरण—बड़ी तोपों के नाम भी, हाथियों के नाम की ही तरह बहुत भड़कीले व शान्दार होते थे। उदाहरण के लिये कुछ तोपों के नाम प्रस्तुत हैं—'शाजी खान' (सर्वजेता), शेर दाहन (शेर के मुँह के समान), धूम धाम, (शोर मचाने वाला), किशवर-कुशा, गढ़ भंजन, फतह-ए-लश्कर (इलियट, भाग ७, पृ० १००), औरंगाबाद (सिंहासन की शक्ति या आधार), बुर्ज-शिकन (कैट्रो पृ० २५६), जहान-कुशा (दुनिया को जीतने वाला) इत्यादि। ११३३ हि० (नवम्बर १७२०) में लड़ी गई हुसेनपुर की लड़ाई में शेर दाहन, गाजी खान, आलम सितान (दुनियाँ को ध्वस्त करने वाला) और आतश-दाहन (अग्नि मुख) आदि तोपें उपस्थित थीं, (खुशहाल चन्द्र बर्लिन मनूसक्रिप्ट नं० ४६५)। इन तोपों पर इनके नाम के साथ-साथ प्रायः गद्य में और कभी-कभी कविता के रूप में उस तोप के बनाने वाले का नाम, उसका स्थान और तोप के बनाये जाने की तारीख और वर्ष भी लिखे रहते थे।

बर्नियर की पृष्ठ संख्या २१७, २१८ और ३५२ से हमें पता लगता है कि आलमगीर के शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में बादशाह के पास ७० वजनी तोपें थीं जिनमें से अधिकांश पीतल की थी। जब बादशाह शिकार पर जाता था या नदी आदि को पार करना पड़ता था, या नदी के किनारे-किनारे ही चलना पड़ता था तो ऐसी तोतें बादशाह के साथ नहीं चलती थी। वजनी तोपें पतले दर्रों में से या नदी पर बने हुए नावों के पुल पर से नहीं ले जाई जा सकती थीं। इन ७० तोपों में से कुछ तो इतनी भारी थीं कि उनमें से प्रत्येक को खींचने के लिये कम से कम २० जोड़ी बैलों की आवश्यकता होती थी और यदि सड़क ऊबड़ खाबड़ या चढ़ाई पर होती थी तो बैल उन्हें नहीं खींच पाते थे और तब हाथी अपने सिर और सूँड़ों से गाड़ी को ढकेलते थे।

इन भारी तोपों को प्रायः पीछे ही छोड़ देना पड़ता था, क्योंकि उन्हें कूच करती हुई सेना के साथ-साथ नहीं ले जाया जा सकता था। जब आजमशाह १७०७ में अहमदनउर से धौलपुर की तरफ बढ़ा तो राह में स्थान-स्थान पर तोपों को छोड़ता गया और जब वह जाजऊ के युद्धक्षेत्र में पहुँचा तो उसके पास एक भी तोप नहीं

बची थी (कामराज, 'अजब-उल-हर्ब)। इसी प्रकार सफर ११२५ हि० (मार्च१७१३) में, बहादुरशाह के लड़कों के बीच सिंहासन पाने के लिये हुए संघर्ष में लाहोर से अधिकतम वजन की ३ तोपें हटाई गईं थीं जिनमें से प्रत्येक को २५० बैल खींचते थे और सहायता के लिये ५-६ हाथी भी साथ चलते थे और यद्यपि लाहौर से आगे वाला पड़ाव तीन चार मील से अधिक दूर नहीं था पर तोपें १० दिन से पहले वह नहीं पहुँच सकीं (त्रि० म्यू० नं०१६६०)।

११२८ हि० (१७१५-१६) जब राजा जयसिंह मून के किले में चूड़ामणि जाट को घेरे हुआ था, इसी प्रकार की एक तोप दिल्ली से राजा जयसिंह के पास भेजी गई थी। यह तोप पलवल से होदल तक एक रक्षक सेना के साथ भेजी गई और वहाँ से आगे भेजने के लिये आगरा के नायब सूबेदार के सुपुर्द कर दी गई। उसके द्वारा फेंके जाने वाले प्रत्येक गोले का वजन एक मन (शाहजहानी) था (शिवदास)। ११३१ हि० (जुलाई, अगस्त १७१९) में आगरा के घेरे में इस तरह की कई तोपों का प्रयोग हुआ था जिनमें शेर दाहन, धूम धाम और गाजी खान आदि भी सम्मिलित थीं। इन तोपों से ६० से १०० पौंड (३० सेर से १।१।२ मन शाहजहाही) वजन तक के गोले फेंके जाते थे। इस प्रकार की प्रत्येक तोप को खींचने के लिये १ से ४ की संख्या तक हाथी और ६०० से १७०० की संख्या तक बैलों की आवश्यकता पड़ती थी (शिवदास)। मुहम्मद मुस्लिम ने भी मुहम्मद शाह द्वारा करनाल में ११५१ हि० (फरवरी १७३९) में ऐसी तोपों के प्रयोग का वर्णन किया है जिनके लिये ५०० से १००० की संख्या तक बैल आवश्यक थे, यही नहीं बैलों की मदद के लिये दस पाँच हाथी भी साथ रहते थे (हार्न पृ० ३४) द्वारा इलियट भाग ८ से उद्धृत)।

जब भरतपुर के जाट राजा ने बेर में अपने एक सम्बन्धी पर घेरा डाला (बेर भरतपुर से ३०-६० मील की दूरी पर है) तो उसकी राजधानी से उसकी सबसे बड़ी तोप भेजी गई जो ४८ पौण्ड वजन के गोले फेंकती थी। यह उन तोपों में से एक थी जिसे सूरज मल ने मराठों से ले लिया था। इस तोप को खींचने व ढकेलने के लिये ५०० जोड़ी बैल और चार हाथी लगाये गये थे। इस तोप को आधी दूरी (लगभग २० मील) तक ले जाने में ही एक महीना लग गया और तोप उसी स्थान पर फँस गई। परन्तु यह बात भी साथ ही याद रखनी चाहिये कि उस समय बरसात का मौसम था जिससे परेशानी और अधिक बढ़ गई थी। जिस पुस्तक से मैंने इन तथ्यों को लिया है, उसका लेखक आगे कहता है, "आप इन तोपों का वजन और उनको ढोने वाली गाड़ी के विषय में नहीं जानते, इसलिये यह बात आश्चर्यजनक और विचित्र प्रतीत होती है। जिस समय मैं यह लिख रहा हूँ (१७६७), उसके दस दिन पहले आगरा के किले से २४ पौन्ड वजन के गोले फेंकने वाली दो तोपें निकाली गईं।

जिनमें से प्रत्येक को खींचने के लिये ५० जोड़ी बैल लगे हुये थे और सहायता के लिये एक-एक हाथी भी दोनों तोपों के साथ थे। परन्तु आज दस दिन हो गये, ये तोपें आगरा नगर के क्षेत्र से बाहर नहीं ले जाई जा सकीं जबकि वे प्रभातबेला से अँधेरा होने तक चलती ही रहती हैं" (ओर्मेमनुसक्रिप्ट्स, पृ० ४२४१)। १८२६ में इहसे भी बड़ी तोपें थीं जिनके मुख का व्यास बहुत अधिक था (लगभग ३ फीट), और इनसे सम्भवतः ४० पौण्ड वजन के गोले फेंके जाते थे। मेरे विचार से बारूद की बहुत अधिक मात्रा से भी ये तोपें फट नहीं सकती थीं।

बड़ी तोपों को गाड़ी पर चढ़ाने के ढंग—तोपों को ले जाने की धीमी गति सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तोपों को ले जाने वाली गाड़ियाँ बहुत असुविधाजनक और बेढंगी होती थीं। ऊपर दिये हुये उदाहरण से तो इस बात पर भी विश्वास किया जा सकता है कि शायद तोपें गाड़ी द्वारा नह लें जाई जाती थीं बल्कि बैल तोपों को जमीन पर ही घसीटते थे, यदि ऐसा न रहा हो तो दिन भर में तोप का १ मील आगे भी न बढ़ना अविश्वसनीय सा लगता है फिट्जक्लरेन्स (पृ० २१६) के अनुसार किलों की अधिकांश तोपें इतनी बुरी तरह से और वेढंगेपन से गाड़ी पर चढ़ाई जाती थी कि प्रायः एक ही गोला फेंकने के बाद, बारूद के धक्के से गाड़ी से नीचे आ जाती थीं।

युद्धक्षेत्र में किस तरह तोपें चढ़ाकर तैयार की जाती थीं इसका सबसे स्पष्ट वर्णन ओर्मे ने "मिलिटरी ट्रांजेक्शन्स" भाग २ पृ० १७३ में किया है। १७५७ में पलासी के युद्ध में सिराजउदद्दौला की तोपों का वर्णन करते हुये ओर्मे ने लिखा है, कि तोपें अधिकांशतः अधिकतम व्यास वाले मुख की थीं जिनसे २४ से ३२ पौण्ड वजन तक के गोलें फेंके जा सकते थे। प्रत्येक तोप एक बहुत लम्बे चौड़े लोहे की मोटी चद्दरों से बने स्टेजनुमा ढाँचे पर लादी जाती थी जिसकी ऊँचाई जमीन से ६ फी होती थी। स्टेज पर लदी हुई तोप के अगल बगल आवश्यक मात्रा में गोला बारूद रक्खा रहता था और सभी तोपची भी इस स्टेज पर ही बैठते थे। इनमें से प्रत्येक तोप पूर्निया में पले हुए ऊँचे कद के सफेद रंग वाले ४०-५० जोड़ी बैलों द्वारा खींची जाती थी। प्रत्येक तोप के पीछे एक हाथी भी रहता था जो तोप-गाड़ी के अड़ जाने पर अपने सिर से गाड़ी के पिछले भाग पर धक्का देकर आगे बढ़ाने के लिये प्रशिक्षित रहते थे। सर आयर कूट ने ३० अप्रैल १७७२ को मिनट्स आव सेलेक्ट कमिटी" में लिखा है कि नवाब की तोपें "बाँसों को बाँधकर बनाये गये बेड़े पर रखी जाती थी जिनमें से प्रत्येक तोप को २०-३० जोड़ी बैल खींचते थे।" इसके विपरीत मेजर मुनरो ने १४ मई १७७२ की 'मिनट्स' में लिखा है कि २२ अक्टूबर को बक्सर में शुजा-उद-दौला से जो बिभिन्न आकार की १३३ तोपे छीनी गई वे सभी गाड़ियों पर चढ़ी हुई थीं, और अधिकांश गाड़ियाँ अंग्रेजी ढग की थीं।

दक्षिण मराहटों की तोपें, १७९१ तक मुगलों की तरह की गाड़ियों पर ले जाई जाती रही। "उसकी (परशुराम भाऊ की) सबसे बड़ी तोपें पीतल की थीं और ३२ से ४२ पौण्ड तक के गोले फेंकती थीं; लम्बाई में वे हमारी (अँग्रेजी) तोपों से कहीं अधिक थी। तोप गाड़ियाँ तथा उनके पहिये बहुत बढ़ंगी शक्ल के थे, विशेषकर अगले हिस्से वाला पहिया, जो कि १०० गज की दूरी में सम्भवतः एक चक्कर भी पूरा नही घूम पाता। इस गाड़ी पर विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ इस बेकाय दगी से लदी रहती हैं कि आवश्यकता एवं अवसर आ पड़ने पर आधे घन्टे के पहले तोप गोला दागने योग्य नहीं हो सकती। यदि इनको खींचने के लिए इतनी अधिक सख्या में बैल न लगे रहें तो सफरी हालत में इनकी शक्ल को देखकर कोई इन्हें तोप मानने के लिये तैयार नहीं हो सकता। प्रत्येक तोप को खीचने के लिये ५०,६० या कभी-कभी १०० जोड़े बैल लगाये जाते हैं, और ऊँची सड़कों पर, जब बैल थक जाते हैं, और अधिक श्रम की भी आवश्यकता होती है तो एक हाथी भी पीछे लगा दिया जाता है जो फंसने लायक स्थानों पर गाड़ी को पीछे से अपना सिर लगा कर ढकेलता है। यद्यपि बाद में मराठों ने कुछ सुधार किया और एक सीध में चार बैल रखने लगे, फिर भी एक तोप को खींचने के लिये इतने अधिक जानवरों को एक ही सीध में जोड़ देने से कोई बहुत अधिक उपयोगिता नहीं प्राप्त होती (ई० मूर, 'नैरेटिव' पृ०७८)। दक्षिण में २४ पौंड के गोले वाली लोहे की तोप के लिये ६० कर्नाटकी बैल, १८ पौंड वजन के गोले वाली तोप के लिये ५२ बैल और १२ पौंड का गोला फेंकने वाली लोहे की तोप के लिये ४० बैल लगाना आवश्यक था (क्लेकर 'वार' २८३)।

डी० ला० फ्लोट नामक एक पर्यवेक्षक ने (जो दक्षिणी भारत में अप्रैल १७५८ से मई १७६० तक रहा था) लिखा है कि किले की रक्षा में प्रयोग की जाने वाली हिन्दुस्तानी तोपें गाड़ियों पर नहीं चढ़ाई जाती थी—"प्रायः वे दीवाल के सिरे पर रक्खी जाती हैं या दो बड़े-बड़े लकड़ी के कुन्दों के सहारे रखी जाती हैं, जिनको आवश्यकता पड़ने पर हटाया जा सकता है। गोले पत्थर के होते हैं, ये गोले धरती पर गिरने के बाद कई बार उछलते हैं और काफी दूरी तक लुढ़क जाते हैं।" डि० ला० फ्लोट ने इस तरह की एक तोप मद्रास से ८० मील दक्षिण-पश्चिम स्थित जिन्जी के किले में देखा, इस तोप की लम्बाई २० फीट थी। कहा जाता है कि १७४६ में अरकाट में क्लाइव ने एक टीले पर एक देशी तोप को स्थित करके बिना गाड़ी के ही उससे गोले दागे थे (ओर्म, भाग १, पृ० १९१, हार्न द्वारा उल्लेख पृ० ३४)। कर्नल एम० विल्क्स ने भी १७६८ में एक अवसर पर अनगिनत हिन्दुस्तानी तोपों का उल्लेख किया है जो बिना गाड़ी के थी। उत्तरी भारत में किले के भीतर से चलाई जाने वाली तोपें भी गाड़ियों पर चढ़ाई जाती थीं, ऐसे प्रमाण मिलते हैं।

विभिन्न तोपों के वर्णन—डाक्टर हार्न ने कैप्टेन शावर्स (ज० ए० सो० आफ बंगाल ११, पृ० ५८६) के आधार पर शाहजहाँ की एक तोप के विभिन्न अंगों के आकार का यथार्थ वर्णन किया है। यह तोप उस समय (१६३७) में मुर्शिदाबाद में थी।

अधिकतम लम्बाई—१७ फीट
नाल के छेद की गहराई—१५ फीट
तोप के मुख का व्यास = १ फीट
तोप की नाल के छेद के पिछले सिरे का व्यास = ६ इंच।

इस तोप का नाम 'जहान कुशा' या (विश्व विजयी) था। इस तोप पर ८ शेर लिखे हुए थे जिनके अनुसार यह तोप शाहजहाँ के शासन काल के ११वें वर्ष (१६३७ ई०) में ढाका में बनाई गई थी और यह भी लिखा था कि यह एक बार में २८ सेर बारूद फेंकती थी। यह तोप लोहे को तपा कर जोड़ने की क्रिया द्वारा बनाई गई थी।

जब शाहजहाँ के शासन काल में दाराशीकोह को कन्धार भेजा गया तो उसने लाहौर में दो बड़ी तोपें ढलवाई जो कि १ मन ५ सेर (लगभग ९० पौण्ड) के गोले फेंकती थी। इन तोपों का नाम 'फतह मुबारक' और 'किशवर कुशा' रखा गया। दारा के पास दो अन्य बड़ी तोपें थी—किला-कुशा और 'मरियम (रैवर्टी 'नोट्स आन अफगानिस्तान' पृ० २२)।

इसी प्रकार की एक बड़ी तोप दक्षिण में अहमदनगर में थी। फिटजक्लरेन्स (पृ० २४३) के अनुसार इसकी लम्बाई २५ फीट थी! "यद्यपि सर आर्थर वेलोजली का खेमा सभी तरह के शस्त्रों की सम्भावित मार के क्षेत्र से बाहर गाड़ा गया था," फिर भी, कहा जाता है कि इस तोप का गोला १८०३ में वेलेजली के खेमें तक पहुँचा था। यह सम्भवतः वही तोप थी जिसका उल्लेख हार्न (पृ० १३२) ने मीडोज हेलर और जेफर्गसट की पुस्तक 'आर्टिक्चर आव बीजापुर' के आधार पर मालिक-ए-मैदान' के नाम से किया है। इस पुस्तक के अनुसार यह तोप विश्व की सबसे बड़ी तोप थी। इसकी धातु में ८०-४२७ भाग तांबा और शेष १६-५७३ भाग टिन का मिश्रण है। इस तोप के विभिन्न अंगों की मांप इस प्रकार है।

नाल के पिछले भाग (बीच) का व्यास	= ४ फीट १० इंच
नाल के मुख्य (मंजिल) का व्यास	= ५ फीट ५ इंच
नाल के छेद (बीर) का व्यस	= २ फीट ४॥ इंच
पूरी लम्बाई	= १४ फीट २ इंच

"लाइफ ऐण्ड करेसपान्डेन्स आव दि राइट आनरेबुल सर बर्टिल फ्रेर" पृ० ५६ में लेखक ने दो तोपों के चित्र दिये हैं जिन्हें उसने १८४८ में बीजापुर में देखा था। इनमें से एक कुश्ठी बुर्ज पर रक्खी हुई थी। दूसरी का नाम उसने मुलुक जुफ्त' लिखा है। इनमें दोनों बिना गाड़ी की थीं।

मालिक-ए मैदान नाम की तोप बुरहान निजाम शाह के शासन काल में अहमद नगर में सन् १५४८ ई० में बनाई गई थी। इसका बनाने वाला मुहम्मद नाम का एक तुर्क था। सर्व प्रथम इसका उल्लेख ई० मूर ने 'नैरेटिव' पृ० ३३२ में किया था। उसका विश्वास था कि यह तोप १०६७ हि० (१६८५) में आलमगीर द्वारा ढलवाई गई थी, परन्तु तोप पर लिखे शेरों की जो नकल उसने दी है उससे उसका मत पुष्ट नहीं होता, क्योंकि उसमें दिया हुआ वर्ष बीजापुर की पराजय से सम्बन्धित है और तोप के ढालने के वर्ष से सम्बन्धित नहीं है। मूर को पता लगा था कि बीजापुर में १२ बड़ी तोपें हैं, परन्तु इनमें से उसने तीन तोपों को ही देखा जिनमें से दो तोपें ढाल कर नहीं, बल्कि लोहे के छड़ों और छल्लों में घेर और बांध कर बनाई गई थीं। इनमें से एक का नाम लमछड़ी ('दूर तक उड़ने वाला') था)

नागपुर में भी २५ फीट लम्बी दो तोपें थीं (फिट्जक्लारेन्स पृ० १०८, २४४) जो अहमदनगर वाली तोप से अधिक अच्छी किस्म की और अधिक उपयोगी अनुपात में बनी थीं। फिट्जक्लारेन्स ने दौलताबाद की एक मीनार पर रक्खी हुई एक और तोप का उल्लेख किया है जिसे उसने स्वयं देखा था (पृ० २१६)। यह बड़ी तोप पीतल की थी। यद्यपि उसने इसे नापा नहीं, पर उनके अनुमान के अनुसार यह तोप ६० पौण्ड तक का गोला फेंक सकती थी। दौलताबाद के किले की ऊपरी गुम्बद पर भी २४ पौण्ड का गोला फेंकने वाली एक तोप थी (फिट्जक्लारेन्स, (पृ० २१८) जिसे आलमगीर के शासन काल में एक यूरोपीय द्वारा इतनी ऊँचाई पर चढ़ाया गया था। दिल्ली में, लाहौरी गेट के सामने भी उसने १८१७ में बहुत चौड़े नाल वाली एक तोप देखी थी।

फिट्जक्लारेन्स ने भी उस बड़ी तोप का वर्णन किया है जिसका उल्लेख मेजर थार्न वार पृ० १८८ में 'दि ग्रेट गन आव आगरा' (आगरा की महान तोप) के नाम से किया है—"आगरा में मैंने एक भारी बमगोला फेंकने वाली भयानक तोप देखा जिसकी लम्बाई १४ फीट थी, नाल का छिद्र २२।१।२ इंच था जिसमें कि मनुष्य भी घुस सकते हैं।"

पुराने पीतल की दृष्टि से तोप का मूल्य सौनौत (सनवात) रुपयों में—५३, ४०० रुपया। यदि तोप काम में लाई जाने वाली हो तो अनुमानतः मूल्य इसका मूल्य १,६०,००० रुपये तक होगा।

"कभी ऐसा भी माना जाता था कि उस तोप में काफी सोना भी लगा है, पुराने पीतल के भाव के अनुसार भी इसका मूल्य ७००० पौण्ड है, परन्तु यदि यह प्रयोग किये जाने के योग्य हो तो अनुमानतः इसका मूल्य १८००० पौंड तक हो सकता है। इस समय (१८१८) किले के बाहर जमुना के तट पर पड़ी हुई है। उस तोप को कलकत्ता ले जाने का एक प्रयत्न किया गया था।" फिट्ज क्लरेन्स और थार्न, दोनों ने इस तोप का चित्र दिया है। थार्न पृ० १८६ पर लिखता है:—"जरनल लेक की यह हार्दिक इच्छा थी कि इस उल्लेखनीय तोप को आगरा से किसी तरह कलकत्ता ले जाकर वहाँ से इंग्लैण्ड भेज दिया जाय। यद्यपि इसे जमुना नदी द्वारा ले जाने के लिये एक मजबूत बेड़ा बनाया गया परन्तु यह तोप इतने अधिक वजन की थी कि बेड़े के साथ यह जमुना में डूब गई। यह तोप नदी की तह में ही पड़ी हुई थी जब मैंने इसे देखा।"

सन् १८०३ में लार्ड लेक ने आगरा में ७२ पौण्ड का गोला फेंकने वाली एक सुन्दर तोप देखी जो बनावट में आगरा की बड़ी तोप के समान ही थी। इसके साथ-साथ विभिन्न प्रकार की ७६ पीतल की और ८६ लोहे की तोपें देखीं जिनमें मार्टर हाविट्जर, कैरोनेड और गैलपर आदि किस्मों की तोपें सम्मिलित थीं। लार्ड लेक की इन तोपों के साथ ३३ गाड़ियाँ भी देखीं। पीतल की तोपें बनावट में दिल्ली ने तोपों के समान ही थीं और अधिकांश लोहे की तोपें छड़ों और छल्लों के आधार पर बनी हुई थीं (थार्न-१६०)।

मुगलों के जमाने की कुछ विशालकाय तोपें लाहौर में रक्खी हुई हैं। एक का नाम है जमजमहः जो अहमद शाह अब्दाली के वजीर शाह बली खान के आदेशानुसार शाह नजीर द्वारा बनाई हुई दो तोपों में से एक है। यह पीतल की है और मुहम्मद लतीफ के अनुसार यह तोप १७६१ में पानीपत के युद्ध में प्रयोग में लाई गई थी, यद्यपि यह बात तोप पर दी हुई तारीख (११७६ हि० या १७६५-६६ ई०) से मेल नहीं खाती। इसके साथ की दूसरी तोप चिनाब नदी में गुम हो गई थी। इस तोप को सिख नेता हरसिंह ने लाहौर से दो मील के फासले पर स्थित गाँव, ख्वाजा सईद से (जहाँ अब्दाली ने अपना शस्त्रागार बनाया था।) हटा दिया था। इस पर २२ पंक्तियों की एक नज्म (कविता) लिखी है जिसकी अन्तिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार है—

'बाद तसलीम बा गुफ्ता "तोप

पैकर-ए-अजदहे आतश बाज" (११७६ हि० या १७६५-६६ ई०)

"अर्थात सलाम करने के बाद उसने आश्चर्य से कहा—"आग उगलने वाले

सर्प की तरह आग उगलती हुई तोप।" इसकी लम्बाई १४ फीट ४॥ इंच और नाल के छिद्र (बोर) का व्यास ६॥ इंच हैं। लाहौर में एक विशाल=काय तोप और है जो मुल्तान के सूबेदार शुजात खान सफदर जंग द्वारा ११८२ हिजरी (१७६८-६६) में बनवाई गई थी। इस पर इसका नाम 'कोह-शिकन' (पर्वतों को नष्ट करने वाला) लिखा हुआ है और इसका भार ११० मन है (सैय्यद मुहम्मद लतीफ, "लाहौर," पृ० ३८६)।

मूर ने 'नैरेटिव' में डाउ के 'हिस्ट्री आव हिन्दुस्तान' और रेनेल के 'मेम्वायर्स' में इस प्रकार की बड़ी तोपों के वर्णन किये जाने का उल्लेख किया है। डाउ द्वारा वर्णित दो तोपें अरकाट और ढाका की थीं। रेनेल ने ढाका वाली तोप का माप-तौल भी किया था, परन्तु १८वीं शताब्दी के समाप्त होने के पहले ही, नदी के जिस कगार पर यह रक्खी हुई थी, वह ध्वस्त होकर तोप सहित नदी में चला गया। इससे फेंके जाने वाले लोहे के गोले का वजन ४६५ पौंड होता था। मूर के अनुसार 'मालिके मैदान नामक तोप का वजन २६४६ ७।१० पौंड था।

दिल्ली के बाहर १६ सितम्बर १८०३ को लार्ड लेक ने ६८ तोपें मराठों से छीन ली थीं (थार्न, ११७)। तोपें विभिन्न किस्मों की थी। तोपें बड़े कायदे से गाड़ियों पर रक्खी हुई थीं। लोहे की तोपें यूरोपीय बनावट की थी परन्तु पीतल की तोपें, मार्ट्स, और होविट जर्स आदि हिन्दुस्तान में हा ढाली गई थीं; इनमें से केवल एक तोप पुर्तगालियों द्वारा बनाई गई थी जो तीन पौण्ड के गोले फेंकती थी। कुछ तोपें मथुरा और अन्य तोपें उज्जैन की बनी हुई थीं, परन्तु इनकी बनावट और डिजाइन पर किसी यूरोपीय कलाकर की कला ही दिखाई पड़ती थी। इनकी माप तौल इनके आकार फ्रांसीसियों के अनुरूप थे और कारीगरी बहुत अच्छी थी। ये तोपें सिन्धिया के अनुशासित तोप=खाने की थीं और उपरोक्त वर्णन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इन पर मुगलों की छाप नही थी, बल्कि ये तोपें देशी रियासतों की सेवा में नियुक्त यूरोपीय कारीगरों की देखरेख में बनाई गई थी।

ब्राउटन ने १८०६ में सिन्धिया के तोपखाने की स्थिति का विवरण दिया है। उस समय (१८०६ में) सिन्धिया के पास ६६ तोपें थीं, इनमें से २७ तोपें वह अपने पास ही रखता था। इनमें से १० तोपें चौड़े छिद्र की नालवाली थी, अन्य तोपें विभिन्न किस्मों एवं आकार की थी। ३१ तोपें उसकी नियमित सेना से सम्बन्धित थी; इनमें सभी विभिन्न आकार की थी परन्तु कुछ तोपे अँग्रेजी ढंग की ६ पौण्ड के गोले वाली तोप के समान बड़े आकार की थीं। उसके पास आठ छोटी तोपें थी जिनमें से प्रत्येक को एक जोड़ी बैल खींचते थे; इन्हें 'अर्दली' तोपे कहा जाता था क्योंकि वे महाराजा के पीछे पीछे चलती थी।

लकड़ी की तोपें—गम्भीर संकट पड़ने पर सिक्खों द्वारा साधारण तोपों के स्थान पर लकड़ी की तोपों का प्रयोग दो बार किया गया था। उदाहरण के लिए जब दिसम्बर १७१० में सिक्ख लौहगढ़ छोड़कर पहाड़ियों की ओर भागे तो उन्होंने एक ऐसी तोप को उड़ा दिया "जिसे उन्होंने एक पेड़ के तने से बनाया था" (कामनर खान ११२२ हिजरी)। एक अन्य लेखक गुलाम मुहीउद्दीन खान के अनुसार जब सिक्ख १७१५ में गुरुदास पुर में घिर गये तो, यद्यपि उनके पास हल्की तोपे थीं जो उन्होंने सरहिन्द के फौजदार वजीर खाँ, बयजीद खाँ और शम्स खाँ से छीन लिया था, परन्तु भारी तोपे उनके पास नहीं थी। इन भारी तोपों के स्थान पर मोटे पेड़ों के तनों को खोखला करके और उन्हें बाहर से लोहे के छड़ों और पत्तियों से मजबूती से बाँधकर सिक्खों ने इन्ही लकड़ी की तोपों से वे लोहे और पत्थर के गोले फेंकते रहे। मुसलमानों के अनुमान के अनुसार इन लकड़ी की तोपों में लोहे की तोपों की अपेक्षा आधी क्षमता थी। ए० डेमिन ('डाई-क्रीगस्वेफेन,' पृ० २०८) के अनुसार मध्य-काल में यूरोप में भी लकड़ी की तोपे प्रयोग की जाती थी। ये तोपे पेड़ों से तनों को खोखला करके और उन्हें चारों तरफ से लोहे की पट्टियों से बाँध कर बनाई जाती थी, इनकी नाल के छिद्र के पिछले भाग में कोई धातु मढ़ दी जाती थी १५२५ में विद्रोही किसानों ने जब स्टेसबर्ग में अपने आर्क-विशप को घेर लिया था, तो उनके पास भी लकड़ी की तोपें ही थी। उनके पास उसी प्रकार की चमड़े की तोपे भी थी जैसी कि कुछ समय बाद तक स्वीडन वाले प्रयोग करते थे। डेमीन ने पृ० ६२६ पर कोचीन में बनी हुई एक लड़की की तोप का चित्र दिया है। उसके अनुसार वहाँ ऐसी तोपे आधुनिक समय तक बनाई जाती थी। चित्र के अनुसार यह एक पेड़ का तना है जो अपनी पूरी लम्बाई में लोहे की १३ पट्टियों से बाँधा गया है।

गबार :—स्टीनगैस (पृ० ८८०) के अनुसार यह एक बम है या बम फेंकने वाली तोप है। मैंने केवल एक बार, रुस्तम अली बिजनौरी द्वारा १७८० में लिखे गए 'हिस्ट्री आंव रुहेलाज' में यह शब्द पढ़ा है—"तोप, रहकल, गुबार, धमाका, गजनाल, शुतरनाल, जजैर, शेरबच्चे, कैंची बानों के, लेकर।"

देग (मार्टर)—'अहशाम' के कर्मचारियों की सूची में हमें एक पद मिलता है देग अन्दाज' (शाब्दिक अर्थ बर्तन फेंकने वाले)। वर्तमान प्रयोग के अनुसार देग का इस्तेमाल तोप (मार्टर) के लिए होता है; सम्भव है कि १७वीं शताब्दी के अन्त तथा १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी यह शब्द यही अर्थ रखता हो जब कि कर्मचारियों की उपरोक्त सूची बनाई गई थी। परन्तु मेरे विचार से यह सम्भावना अधिक उचित प्रतीत होती है कि ये मनुष्य अपने पास आग से भरे हुए बर्तन या हथगोले रखते थे और जब शत्रु सेना बहुत नजदीक आ जाती थी तो उन पर आग या हथगोले फेंक दिये जाते थे।

तीर—वैसे इसका शाब्दिक अर्थ बाण है परन्तु गोली या गोले के लिए भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग मिलता है। इसी से तोप की नाल के छिद्र का भी बोध होता है। उदाहरण के लिए छबीला राम नागर ने अजायब-उल-आफाक में लिखा है—"हमराह-ए-फिदवीहत-इर्तिशाम सेह तोपे-कमतीर" अर्थात् 'इस शाही खिदमतगार के साथ पतले छिद्र वाले तीन तोपे भेजी जा रही है।' इसी के कुछ आगे फिर लिखा है, "व यक जर्ब-ए-तोप-ए-कमान-तीर" अर्थात् 'और बड़े छिद्र की नाल वाली एक तोप'। गोले के लिए 'तीर' का प्रयोग हम रुस्तम अली बिजनौरी की 'हिस्ट्री आफ दि रुहेलाज' में पाते हैं जहाँ उसने भरी हुई तोंप के लिए 'तीरबन्द' का प्रयोग किया है।

अन्य अस्त्र—अब हम छोटे-मोटे अन्य अस्त्रों का वर्णन करेंगे जिनका उल्लेख इतिहासकारों ने छिट पुट रूप से यहाँ वहाँ कर दिया है इनमें मुख्य हैं बादलीज, मजंर्नाक, संगराद, सरकोप, तोप-ए-हवांई, मुकाबिल-कोल चादर, हुक्का-ए-आतश। इनमें से अधिकांश का उल्लेख हार्न ने पृ० संख्या २८, २६ और ३५ पर किया है।

बादलीज—स्टीनगैस ने पृ० १४० पर इसे एक प्रकार की तोप बताया है। 'ब जर्ब-ए-बदलीज अज पाई दर आमद'। गुलाम अली खाँ ने मुमदमा-ए-शाहआलम नामा में इस शब्द का प्रयोग किया। मुझे यह शब्द किसी भी अन्य पुस्तक में नहीं मिला और न तो मुझे मालूम हीं कि यह किस प्रकार की चीज थीं।

मंजनीक—स्टीनगैस ने पृ० १३२४ पर उसके निम्नलिखित अर्थ दिए हैं—एक लड़ाकू अस्त्र, बलिस्टर (एक प्रकार का अस्त्र जिससे पत्थर फेंके जाते थे) भार उठाने का यन्त्र, क्रेन। हार्न (पृ० ३५) ने एलियट (भाग ६, पृ० १३६) के आधार पर लिखा है कि असीरगढ़ के घेरे में मंजनीक का प्रयोग किया गया था। तारीख-ए-अल्फी में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है (हार्न २६, इलियट भाग ५, पृ० १७०)।

संग-राद—स्टीनगैस के अनुसार (पृ० ७०२) यह एक पत्थर का गोला या छत आदि को समतल बनाने में प्रयोग किया जाने वाला पत्थर का भारी पहिया (रोलर) है। सम्भवतः यह भी भारी पत्थर के टुकड़ों को फेंकने वाला कोई अस्त्र रहा होगा।

सरकोब—हार्न (पृ० १३२) ने अकबर नामा भाग ३, पृ० ६२२ के आधार पर इसे दीवाल तोड़ने वाला यत्र या बारूद की शक्ति से तोड़-फोड़ करने वाला यंत्र बताया है। स्टीन गैस (पृ० ६७६) के अनुसार यह "दीवाल पर चढ़ने वाला यत्र, तोप, कोई शक्ति जो किसी किले या घर पर अधिकार रक्खे, छोटा किला" है। इन

परिभाषाओं एवं अर्थों में से कुछ के अनुसार यह सीबा जैसी ही कोई चीज है जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। जौहरी आफताबची ने ९४२ हि० (१५३५) में चुनार के घेरे का वर्णन करते समय बारूद की शक्ति से तोड़ने वाले यंत्र के लिये सरकोब का प्रयोग किया है। निजाम-उद-दीन ने तब्कात-ए-अकबरशाही में इसी घटना का वर्णन करते समय इस अस्त्र का नाम मुकाबिल-कोब लिखा है)

तोप-ए-हवाई—हार्न (पृ० २८) ने खाफी खान (भाग२—पृ० २२६) के एक अंश का उल्लेख किया है जिनमें इस शब्द का प्रयोग किया गया है) खाफी खान ने आलमगीर के शासन काल में दक्षिण के सीढ़ी याकूत का वर्णन करते हुए (१०७६ हि०—१६६८-६६) लिखा है, "ओ तोपे-हवाई ब-हम रसाद, बरदरख्त-हए-बस्त, वक्त-ए-शब तरफ-ए दन्दा राजपुरी आतश मीदाद,"अर्थात् 'कुछ हवाई तोपों को प्राप्त कर और उन्हें पेड़ों पर स्थित कर रात के समय दन्दा राजपुरी की ओर दागा।" इस विचित्र अस्त्र के विषय में हम इससे अधिक नहीं जानते।

चादर—यह शब्द मआसिर-आलमगीरी' पृ० २९५ के उस अश में मिलता है जहाँ १०९८ हि० (१६८६) में सेना गोलकुण्डा के पास पहुँच जाने का वर्णन है। यह अंश इस प्रकार है :—ओ यक तस्सूज पेश कदम न शुदन-ए मरदुम अज वारिश ए-तुफंग ओ बान व चादर ओ हुक्का-गैर अज कुश्त शुदन ओ जख्मी गरदीदन मकसद सूरत न गिरफ्त। अर्थात "बन्दूकों, तोपों, चादर व हुक्का की वारिश से लोग एक इंच भी आगे नहीं बढ़ सके और घायल होने या मारे जाने के अतिरिक्त वे कुछ भी न कर सके।" प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि यह तोप बन्दूक आदि की कोटि का कोई अस्त्र था, पर मैं इसके विषय में कुछ नहीं जानता। एक अन्य प्रसंग में इसका अर्थ एक प्रकार के तम्बू से लगाया जा सकता है। अशाब ने एक स्थान पर लिखा है—'ब पाल व चादर व तम्बू," और यहाँ इसका अर्थ किसी प्रकार के तम्बू के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। मैंने किसी पुस्तक मे 'चादर' का प्रयोग, युद्ध में बन्दूकचियों या तोपचियों द्वारा प्रतिरक्षा के लिए पहने जाने वाले लबादे के लिए, पाया है।

हुक्का-ए-आतश—हार्न के अनुसार इस शस्त्र का उल्लेख बदायूनी की पुस्तक के भाग १, पृ० ३७६ में है, परन्तु मेरे ख्याल से यह प्रसंग भाग १ पृ० ३७१-७२ पर ही है (रैंकिंग, पृ० ४८२)। यह वर्णन बुन्देलखण्ड में कलिंजर के घेरे (९५२ हि० १५४५-४६) के सम्बन्ध में है। शेरशाह दीवाल के पास खड़ा था, उसने किले में 'हुक्का' फेंकने की आज्ञा दी। संयोग से इनमें से एक हुक्का दीवाल से टकराकर वापस लौट आया और कई टुकड़ों में फटकर अन्य हुक्कों पर गिरा जिससे उनमें आग लग गई और विस्फोट के फलस्वरूप शेरशाह टुकड़े-टुकड़े होकर उड़ गया। इस वर्णन से यह

बात नहीं होती कि हुक्का कोई हथगोला (बम) था या मार्टर आदि से फेंका जाने वाला गोला था। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जो चीज फेंकी जाती थी, उसे ही हुक्का कहते थे। सम्भव है कि इसकी शकल धूम्रपान में प्रयोग किये जाने वाले साधारण हुक्के के सम्मान ही रही हो और इसलिये इसका यह नाम पड़ गया हो। स्टीन गैस ने पृ० ४२६ पर 'हुक्का-ए-आतश' शब्द का उल्लेख किया है और इसका अर्थ युद्ध में प्रयोग किया जाने वाला राकेट (अग्निबाण ?) बताया है। बुन्देल खण्ड में स्थित धामोनी की रक्षा करने वालों ने (१०४४ हि०–१६३४-३५) भी हुक्के का प्रयोग किया था (बहादुरशाह नामा)। नजफ खाँ द्वारा ११६१ हि० (१७७७) में दीन पर किये गये आक्रमण के वर्णन में भी हुक्के के प्रयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है (खैर-उद-दीन मुहम्मद 'इबारतनामा' भाग १, पृ० ४२५)। रुहेलों ने दीवाल में छुरियाँ धँसा कर उन्हीं के सहारे दीवाल पर एक के बाद एक चढ़ना प्रारम्भ किया तो 'हिसारियान, हैरान-ए-नौरंगी-ए-रोजगार, सबूचहा हुक्का-हे बारूत बर सर-ए-शान भी अन्दारखनन्द, अर्थात "भीतर की रक्षक सेना ने, तकदीर का उलटफेर देखकर उनके सिरों पर छोटे बर्तन (सबूचा) और हुक्के फेंके जो बारूद से भरे हुए थे।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन हुक्कों का प्रयोग हथगोलों के अर्थ में हुआ। हुक्का का उल्लेख इस पुस्तक में आगे भी किया जायगा।

———

ग्यारहवाँ अध्याय

हल्का तोपखाना

बर्नियर ने पृ० २१७ पर लिखा है १६५८ में तोपखाने के दो भाग थे—बड़ी तोपें और हल्का या रिकाब का तोपखाना। हल्के तोपखाने के लिये एक अन्य सामान्य नाम है तोपखाना-ए-रेजा या छोटा तोपखाना (अहवाल-उल-खवाकीन) खुशहाल चन्द (बर्लिन मनुसक्रिप्ट्स नं० ४६५) तथा कुछ अन्य लेखकों ने इसे तोपखाना-ए-जुम्बिशी (गतिमान तोपखाना) नाम भी दिया है। पर इससे भी अधिक प्रचलित नाम है तोपखाना-ए जिन्सी, इसका प्रयोग हम खाफी खाँ (भाग २, पृ० ६५३) में पाते हैं, जहाँ प्रसंगानुसार इसका अर्थ निकलता है विविध (मिश्रित) प्रकार की तोपें। तारीख-ए-अहमदशाह में इस शब्द का प्रयोग जिस अंश में किया गया है वह इस प्रकार है—"जिन्सी तोपखाने, (बड़े और छोटे) को झरोखे के नीचे एकत्रित करने का हुक्म दिया गया।" यहाँ इसमें सभी आकार की तोपें सम्मिलित कर ली गई हैं और सम्भवतः इसका प्रयोग 'बादशाह से सम्बन्धित व्यक्तिगत तोपखाना' के लिए हुआ है। कर्नल कोलम्बारी (पृ० ३६) के अनुसार 'जहान कुशा नादिरी' में मिरजा महदी ने हल्के तोपखाने के लिये 'तोपखाना-ए-जिलऊ' का प्रयोग किया है।

भारी और हल्के तोपखाने का अन्तर मुगल काल के अन्त तक बना रहा, परन्तु मेरे विचार से रिकाब (स्टिरप) का तोपखाना हल्के तोपखाने का एक उपविभाग भर था, न कि उसका समानार्थी था जैसा कि बर्नियर ने लिखा है। उदाहरण के लिये बर्नियर ने तोपखाना-ए-रिकाब के अतिरिक्त यह अलग से वर्णन किया है कि औरंगजेब के पास २०० से ३०० तक हल्के ऊँट थे जिनमें से प्रत्येक की पीठ पर दो बन्दूकों के वजन की एक छोटी तोप रखी जाती थी।

रिकाब (स्टिरप) का तोपखाना—रिकाब सदैव बादशाह के पास और साथ रहने के लिये एक सांकेतिक शब्द था, दरबार में किसी के उपस्थित रहने को 'हाजिर-ए-रिकाब' कहा जाता था) बर्नियर के समय में (ट्रैवेल्स पृ० २१८, २६३) इस नाम से पुकारे जाने वाले तोपखाने में "पीतल की बनी हुई ५०-६० हल्की तोपें रहती थीं, प्रत्येक तोप बड़े ढंग से बनी और रंगी हुई एक सुन्दर गाड़ी पर रक्खी जाती थी, इस गाड़ी में आगे और पीछे की तरफ दो खानों में गोला बारूद आदि भरा रहता

था। गाड़ी = वान के साथ इस गाड़ी को दो सुन्दर घोड़े खींचते थे, जबकि एक तीसरा घोड़ा भी साथ ही रहता था जिस पर गाड़ीवान की सहायता के लिये एक सहायक चलता था। हल्के तोपखाने को सदैव बादशाह के साथ ही रहना चाहिये, इसीलिये इसका नाम रिकाब (स्टिरप) का तोपखाना पड़ा है। जब वह सुबह अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है, या शिकार आदि के लिये निकल जाता है तो यह तोपखाना अपनी पूरी सम्भावित गति से अगले पड़ाव तक पहुँचने का प्रयास करता है जहाँ कि एक दिन पहले से ही बादशाह और खास अमीर उमरा के खेमे गड़े रहते हैं। वहाँ ये तोपें बादशाह के खेमे के आगे सजा दी जाती है और फौजों को सूचना देने के लिये बादशाह के पहुँचते ही गोलों की एक व ढ़ दागते हैं।" सिन्धिया ने भी बाद में इस प्रथा को ग्रहण किया था। वह इसे 'अर्दली तोपखाना' कहता था (ब्राउटन पृ० १०६)। आलमगीर के शासन काल के बाद और यूरोपियन तरीकों का प्रचार होने के पहले (१८वीं सदी के अन्त तक) मुझे कहीं भी तोपों को घोड़ों द्वारा खींचे जाने का वर्णन नहीं मिलता, हर स्थान पर बैलों एवं हाथियों के प्रयोग का ही उल्लेख है।

हल्की तोपों के नाम—हल्की तोपों के लिये हमें अनेक नाम मिलते हैं और कभी-कभी तो एक ही किस्म के लिये कई-कई नाम मिलते हैं। जो नाम मैंने प्राप्त किये हैं वे इस प्रकार हैं (१) 'गजनाल,' (२) 'हथनाल,' (३) 'शुतर नाल,' (४) 'जम्बूरक,' (५) 'शाहिन,' (६) 'धमाका,' (७) 'रामजानकी' और (८) 'हकला'। तारीख-ए-आलमगीर सानी में एक नाम और मिलता है राहरू (गतिमान, यात्री)। अहमदशाह अब्दाली द्वारा दिल्ली के किले की तोपों के उतरवाये जाने (११७० हि० जनवरी १७५७) का वर्णन करते हुए इस पुस्तक में लिखा है—"सभी तरह की छोटी बड़ी तोपे जो मीनारों और बुर्जों पर चढ़ी हुई थीं और फाटकों के पास रखी हुई थीं, उन्हें उतरवा लिया गया, साथ ही जिन्सी तोपखाने की राहरू भी उतार ली गई। वास्तव में हल्के तोपखा ो की केवल दो श्रेणियाँ तर्कसंगत प्रतीत होती है—(१) दीवाल में लगाई जाने वाली या जड़ी हुई युद्ध के मैदान में प्रयोग की जाने वाली। दोनों श्रेणियों में मुख्य अन्तर इस बात का था कि पहली श्रेणी की छोटी तोपें जानवरों (मुख्यतः ऊँटों) की पीठ पर लाद कर ले जाई जाती थी जब कि दूसरी श्रेणी की तोपें किसी तरह की गाड़ी पर लाद कर ले जाई जाती थी। हकला (ऊपर की सूची में नं० ८) दूसरी श्रेणी की तोपों का प्रतिनिधित्व करती है, शेष सात प्रथम श्रेणी की हैं।

(१) गजनाल और (२) हथनाल—इन दोनों शब्दों का शाब्दिक अर्थ है— 'हाथी नाल'। आईन भाग १ की सूची में इसका ११३ वाँ क्रम है और इसका यह नाम सम्भवतः इसलिये पड़ा था कि इस प्रकार की तोपें हाथी की पीठ पर ले जाई

जाती थीं। जौहर-ए-समसाम (फुलर द्वारा अनूदित) से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि एक हाथी की पीठ पर दो गजनाल और दो सिपाही रहते थे। हम इस वर्णन से यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि ये तोपें हाथी की पीठ पर से ही चलाई जाती थीं, परन्तु सम्भावना इसी बात की अधिक है कि हाथियों से केवल तोपों को ढोकर ले जाने का काम लिया जाता था और आवश्यकता के समय हाथी से नीचे उतार कर तब इससे गोलाबारी की जाती थी। जो भी हो, परन्तु हाथी पर तोप लादने का तरीका धीरे-धीरे प्रचलन के बाहर हो गया क्योंकि बाद के मुगल शासन काल में इस तरीके के बहुत कम उल्लेख मिलते हैं। आईन भाग १, पृ० ११३ के आधार पर हार्न (पृ० २८) ने एक शब्द नरनाल दिया है, बाद के लेखकों में से किसी ने भी इस शब्द का उल्लेख नहीं किया। यह सम्भवतः अकबर के समय की बन्दूक थी जिसे एक आदमी ले जा सकता था।

(३) शुतरनाल (४) जम्बूरक, (५) शाहीन—सम्भवतः ये तीनों ही शब्द एक ही अस्त्र के लिये प्रयोग किये गये। यह अस्त्र उपरोक्त वर्गीकरण के अनुसार पहली श्रेणी का है। 'शुतर' का शाब्दिक अर्थ है ऊँट। इस नाम से यह प्रकट होता है कि यह तोप सम्भवतः ऊँट द्वारा ले जाई जाती थी और प्राय ऊंट की पीठ पर से ही चलाई जाती थी। 'जम्बूर से बना है जिसका अर्थ 'बरें' या भौंरा होता है। सम्भवतः यह नाम बर्रे या भौंरे की आवाज या उसके जोर से काटने या डंक मारने पर आधारित है अर्थात् यह तोप चलते समय भौंरे की तरह गूँजती रही होगी और भौंरे के डंक के समान ही पीड़ित करती रही होगी। शाहीन का शाब्दिक अर्थ है बाज पक्षी, यह नाम भी उपरोक्त दोनों नाम वाले शस्त्र से सम्बन्धि प्रतीत होता है। यह नाम हिन्दुस्तान में सम्भवतः नादिरशाह (१७३८-३९) या अहमद शाह अब्दाली (१७६०) द्वारा प्रचलित किया गया था। हार्न ने पृ० २८ पर, 'इलियट' भाग ७ पृ० ३९८ में सैय्यद गुलाम अली के 'निगारनामा-ए हिन्द' से उद्धृति किये हुए अंश के आधार पर, इस अस्त्र का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में डब्ल्यू इजर्टन, पृ० २९ भी देखिए। एक अज्ञात नाम हिन्दुस्तानी लेखक ने 'वाकिया' ए-दियार-ए मगरिब में दुर्शनी के, साम्राज्य (१२१२ हि० १७९७-९८) का वर्णन करते 'शाहीन-खानह' का उल्लेख किया है जिसे उस लेखक के अनुसार जम्बूरक भी कहते हैं। सम्भव है कि शाहीन शब्द यूरोपियन शब्द 'फाल्कनेट' का ही अनुवाद हो। कर्नल एक कोलम्बारी ने 'लेस जेम्बूरेक्स' में लिखा है कि सर्वप्रथम कन्धार के अफगानों ने घोड़े की पीठ पर एक चूल या कील पर जम्बूरक को स्थित करना प्रारम्भ किया। जब उन्होंने फारस पर १७२२ में हमला किया तो उन्होंने 'जम्बूरक ले जाने का यही तरीका अख्तियार किया था। उसके पहले इस काम के लिये ऊँटों का ही

प्रयोग होता था और जब इन्हें चलाने की आवश्यकता पड़ती तो एक बेढंगी लकड़ी की गाड़ी पर उतार लिया जाता था।

बर्नियर (पृ० २१७) के अनुसार जम्बूरक या शुतरनाल एक 'दुहरी बन्दूक के आकार वाली सरलता से ले जायी जा सकने योग्य थी। हार्न (पृ० २८) बर्नियर के आधार पर, इतना और जोड़ता है कि—"ऊँट पर इसके पीछे बैठा हुआ मनुष्य बिना नीचे उतारे, ऊपर ऊपर ही इसे भर कर चला सकता है।" कुछ समय बाद के एक पर्यवेक्षक ने इसके प्रयोग का कुछ दूसरा वर्णन ही दिया है (सीर, भाग १, पृ० २५०) "जम्बूरकें, चूल या कील पर जड़ी हुई लम्बी तोपें है जो १ या दो पौण्ड के गोले फेंकती हैं। एक ऊँट पर दो जम्बूरकें दोनों ओर कसी जाती हैं और जब उन्हें चलाने की जरूरत पड़ती है तो ऊँट को घुटने के बल बैठा दिया जाता है और ऊँट को बीच में उठने से रोकने के लिये उसके प्रत्येक पैर को मोटी डोरियों से बाँध दिया जाता है और ऊँट हिलने डोलने में असमर्थ हो जाता है। जोंक्स हनके (रिवोल्यूशन्स आव परशिया) के अनुसार यही तरीका फारस में हर्कबसेज के लिये भी इस्तेमाल किया जाता था—"इनमें से प्रत्येक अस्त्र अपने गोला बारूद के साथ, एक ऊँट की पीठ पर लाद दिया जाता था, जो कि हुक्म होते ही बैठ जाता था; इन जानवरों की पीठ पर से प्रशिक्षित आदमी इस अस्त्र को चलाते थे।" मन्डी ने पृ० २१५ पर ऊँटों की पीठ पर से चलाई जाने नाली तोपों के चलाने के तरीके का वर्णन कुछ दूसरी प्रकार से किया है—"काठी के बगल में एक चूल पर जड़ी रहती है जो चारों तरफ घूमती है और इसकी एक बगल में बैठा हुआ गोलन्दाज असाधारण तेजी से गोलाबारी करता है।" यह वर्णन १८२८ में सिन्धिया की सेना के विषय में है।

(६) धमाका—'जौहर-ए-समसाम' तथा कामवर खाँ (पृ० २२७) में 'धमाका का उल्लेख रहकला के साथ ही किया गया है। आईन पृ० ११५ की सूची के ३६ वें क्रम पर यह शब्द एक प्रकार की बन्दूक के लिये प्रयोग किया गया है। परन्तु सम्भवः बाद में यह शब्द 'रहक्ला' के किस्म की एक छोटी तोप के लिये प्रयोग किया जाने लगा यद्यपि मैं यह नहीं बता सकता कि इसमें और रहकला में क्या अन्तर है। जो भी हो, 'धमाका' हिन्दी शब्द है जिसका अर्थ है किसी भारी चीज के जमीन पर जोर से गिरने के कारण पैदा होने वाला शब्द। शेक्सपियर ने अपने कोष में इस शब्द का प्रचलित शाब्दिक अर्थ नहीं दिया है, बल्कि उसके अनुसार यह एक तोप है जो हाथी की पीठ पर ले जाई जाती है।

(७) रामजानकी—जौहर-ए-समसाम में छोटी तोपों का एक और विचित्र नाम मिलता है रामजकी या रामजानकी ११३४-११४७ हि० के बीच अहवाल-ए-खावाकीन में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है, परन्तु इसका उच्चारण रामचंगी है। ११२८

हि० में हिदायतुल्ला द्वारा लिखी गई 'हिदायद-उल-कुवैद' में इसे रामजंगी लिखा गया है। मेरी समझ में इस शब्द का सर पैर कुछ भी नहीं आता !

आर्गन (अर्गून)—'यह एक तोप है जिसमें लगभग ३६ नालें (वैरेल्स) इस प्रकार जुड़ी रहती हैं कि उनसे एक साथ गोली चलाई जा सकती है" (एच० काम्पटन 'मिलिटरी एडवेन्चर्स')।

चलनी—इस शब्द का प्रयोग रुस्तम अली बिजनौरी ने 'हिस्ट्री आफ दि रुहेलाज' में इस प्रकार किया है—"हुक्म तैयारी साज अराक, दहकला, चलनी, गजनाल, शुतरनाल का।" इस वाक्य खण्ड के शब्दों के क्रम से 'चलनी' किसी का तोप का नाम प्रतीत होता है। परन्तु यह किस प्रकार की थी, शब्दकोष इस विषय में खामोश हैं। किसी अन्य पुस्तक में मुझे इसका उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ।

लड़ाकू छोटी तोपें—अब हम हल्के या जिसी तोपखाने की दूसरी श्रेणी का अध्ययन करेंगे जो कि पहियेदार गाड़ियों पर लाद कर युद्ध क्षेत्र में ले जाई जाती थीं। मुगल शासन काल में लिखे गये ग्रंथों में ऐसी तोपों का विशेष वर्णन मुझे नहीं मिला है, परन्तु फिट्ज क्लैरेन्स (पृ० ८८) ने मराठों के हाथ से १८१७ में जबलपुर में छींनी गई तोपों का वर्णन करते हुए लिखा है—"ये तोपें ढाले हुए पीतल की बनी थीं जिनमें लोहे के बेलन (सिलिन्डर) लगे हुए थे; इनमें से दो तोपें ३ पौण्ड और दो तोपें ६ पौण्ड वजन का गोला फेंकती थीं परन्तु नाल की मोटाई इतनी अधिक है कि पहली नजर में मुझे वे ६ पौण्ड और ९ पौण्ड के गोले फेंकने वाली प्रतीत हुईं। गोला बारूद से भरी हुई गाड़ियाँ (टम्ब्रिल्स) और उन्हें खींचने वाले बैल भी हमारे हाथ लगे, जिनमें काफी गोला बारूद कसा हुआ था। तोपों के आस पास ढेर सी बारूद बेकार गिरीं हुई थी, जिससे पता लगता है कि वे बड़ी लापरवाही से बारूद का प्रयोग करते थे। तोपों एवं गोला बारूद की गाड़ियों पर लाल रंग से हाथ के पंजे की शक्ल बनी हुई थी। इस प्रतीक या चिन्ह से, मेरे विचार से, 'पूजा' का बोध होता है।" सितम्बर १८०३ से दिल्ली के बाहर मरहाठों से जो तोपें छीनी गई थीं, उनमें से १३ तोपें भी इसी प्रकार की थीं—अर्थात उनमें लोहे के बेलन लगे हुए थे जिसके ऊपर, तोप को ढालते सजय धातु की एक तह जोड़ी गई थी, "यह ढलाई इतनी उम्दा थी कि दोनों तहों में, रंग के अतिरिक्त जोड़ का कोई चिन्ह दिखाई नहीं पड़ता था। लोहे का बेलन या नाल (बेर) चार लम्बाकार पीटे हुये लोहे की पहियों से बना था, जो बहुत सफाई से जोड़ी गई थी। (थार्न, बार पृ० ११७)। यहां भी, हमें यह याद रखना चाहिये कि ऐसी तोपें सम्भवतः फ्रांसीसियों की देखरेख में व उन्हीं द्वारा संचालित कारखानों में बनाई जाती थी।

हकला—मुगल-काल के अन्तिम चरण से सम्बन्धित सभी इतिहास की पुस्तकों

में हमें तोपखाने से सम्बन्धित एक शब्द मिलता है, 'रहकला'। इसका शाब्दिक अर्थ शेक्सपियर (पृ० १२०३) के अनुसार बैलगाड़ी है। आज भी ऊपरी दोआबे में सबसे छोटे आकार की बैलगाड़ी को रहकला कहा जाता है; इसमें पहिये और उसके ऊपर पटरे तो रहते हैं, परन्तु अगल बगल का घेरा नहीं रहता। इसे 'लढ़ी भी कहा जाता है; इसी गाड़ी द्वारा किसान खेत से फसल को खलिहान में लाता है, और इसी प्रकार के अन्य हलके कार्य के लिये प्रयोग करता है। यह शब्द बम्बई में भी सामान्यतः बैलगाड़ी के लिये प्रयोग किया जाता है।※ परन्तु इतिहास की पुस्तकों में यह शब्द एक प्रकार की छोटी तोप के लिये प्रयोग किया गया है, जिसे ले जाने के लिये किसी प्रकार की गाड़ी प्रयोग की जाती थी। ये तोपें बैलों द्वारा खींची जाती थीं। जैसा कि 'अकबर-ए-मुहब्बत' (पृ० २७७) के एक अंश से ज्ञात होता है कि उस समय 'रहकला' शब्द केवल छोटी तोप-गाड़ियों के लिए प्रयोग किया जाता था। 'हर दो दस्त दर जेर-ए-रहकला बर्दह तोप राब रहकला वा सिना बरदाश्त,' अर्थात "रहकला के नीचे अपना दोनों हाथ लगाते हुये, उसने तोप और रहकला, दोनों को अपने सीने तक उठा लिया।" श्रीधर मुरलीधर ने फर्रुखसियर एवं जहाँदरशाह के बीच हुये युद्ध का वर्णन करते हुये अपनी एक हिन्दी कविता (रचना काल १७१२) में इस प्रकार की तोप के लिए 'अराब' शब्द का प्रयोग किया है। वह पंक्ति (पंक्तिसंख्या १३१७) इस प्रकार है :—

"कड़ कड़ कड़ा कड़ सों अराबे छुटे तट पकनि टाय की।"

परन्तु अन्य स्थानों पर इस कवि ने 'रहकला' शब्द ही लिखा है। १८ वीं शताब्दी के एक अन्य हिन्दी कवि लाल ने भी 'छात्र-प्रकाश' (पृ० २६७, दूसरी पंक्ति) ने भी एक तोप के लिये 'अरावे' लिखा है; "गोली गोला छुट्त अरावे।" तोप सहित गाड़ी को 'रहकला' या अरावे कहना उतना ही उचित और सही है जितना कि बैलगाड़ी को चक्र कहना (जैसा कि हिन्दुस्तानी प्रायः कहते हैं)। इसलिए 'रहकला' शब्द केवल गाड़ी का ही नहीं, बल्कि उस पर लदी हुई तोप का भी बोध कराता है।

अरादह तोप—खुरासान ने रहकला के बदले में, उसी तोप के लिए 'अरादह

※पार्लामेन्टरी पेपर नं० ५३८, मार्च १८६४, पृ० ३०, पैरा २६—ऐक्टिंग कमेटी आव पुलिस की रिपोर्ट। "काठियावाड़ के निवासियों का एक मुख्य पेशा 'रहकला' (छोटी बैलगाड़ी) हाँकना हैं।" स्पष्टतः ये रेकला या रहकला एक बढ़िया ढंग से रंगी हुई बैलगाड़ी है, जो बम्बई में परिवहन का एक साधन है। इसका एक रंगीन चित्र एच० वान रुइल्ट ने बनवाया है (लोन कलेक्शन, इम्पायर आफ इन्डिया एग्जी बिशन, १८६५, नं० ३६८)

तोप' लिखा है। मुहम्मद उल मुन्शी ने 'तारीख-ए अहमदशाही' में इस शब्द का प्रयोग किया है।

कसार—यह भी एक प्रकार की सदैव प्रयोग की जाने वाली तोप थी। इसका उल्लेख 'हुसैन शाही' के लेखक ने किया है, उसके अनुसार इस प्रकार की तोपें दुर्रानी के फौजों की सज्जा का प्रमुख अंग है।

'अराव' और 'हकला' शब्दों के प्रयोग पर कुछ विचार—मैंने यह पता लगाने का प्रयत्न नहीं किया कि मूल रूप में गाड़ी के लिये प्रयोग किये जाने वाले इन शब्दों का प्रयोग तोपों के लिए कब से होने लगा। यह शब्द या तो हिन्दुस्तानी है, और बाबर के हिन्दुस्तान में आने से ही प्रचलित था, या सम्भव है कि वह चगताई फौज में पहले से ही प्रचलित किसी अरबी या तुर्की शब्द का अनुवाद हो। मेरे विचार से पहला मत ही अधिक उचित जँचता है। बाबर ने अपने संस्करणों (मैम्वायर्स) में अरबी जुबान के शब्द 'अरब' का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ बैलगाड़ी भी होता है। अब यदि तुर्की में तोप लादने वाली गाड़ी को अराव ही कहा जाता था तो बाबर के चचेरे भाई ने इसके लिये फारसी शब्द 'गर्दून' (शाब्दिक अर्थ 'पहिया' क्यों लिखा है (देखिये-एतियास और रास द्वारा सम्पादित 'तारीख-ए-रशीदी' पृ० ४७४)।

प्रश्न यह है कि बाबर ने 'अराव' सिर्फ गाड़ी के लिये लिखा है, या उसका मतलब तोप से भी था? अप्रैल १५२६ में पानीपत की लड़ाई के लिये की गई तैयारियों का निरीक्षण करते समय बाबर (पी० डी० कर्टील 'मेंम्वायर्स, भाग २ पृ० १६१) ने अपने आदमियों को अधिक से अधिक संख्या में 'अराव' एकत्रित करने का वक्त दिया और उसके आदमियों ने ७०० अरावे एकत्रित किया। बाबर ने इस सभी को चमड़े के फीतों से एक ही में बँधवा दिया और बीच-बीच में एक विशेष प्रकार के खूँटे (तूर) गड़वा दिया और इस प्रकार उसने युद्धक्षेत्र में एक आड़ बना लिया। अब उपरोक्त वर्णन के आधार पर 'अराब' का क्या अनुवाद किया जा सकता है? इसका शाब्दिक अर्थ से बैलगाड़ी ही निस्सन्देह है; पैवेट डी कर्टील (भाग २, पृ० २७३) और हार्न (पृ० २८) ने भी इसका अर्थ बैलगाड़ी ही माना है। इसके विपरीत लोडेन और अर्सकिन ('मेम्वायर्स आव बावर; पृ० ३०४) के अनुसार 'तोप गाड़ी' या 'तोप' ही 'अराब' का निकटतम समानार्थी है। सर एच इलियट ने भी 'मोहम्डन हिस्ट्री' भाग ६, पृ० ४६८ में इसी विचार का अनुमोदन किया है, पर उसने एक विचित्र बात भी साथ ही जोड़ दिया है—उसके अनुसार "पानीपत की लड़ाई में बाबर के पास हल्की तोपें थीं ही नहीं।" पैवेट डी कर्टील यह स्वीकार करता है कि तोप ढोने में प्रयोग की जाने वाली बैलगाड़ी (अराब) को तौप-गाड़ी भी कहा जा सकता है। परन्तु उसके और हार्न की दृष्टि से यह अर्थ इसलिये भ्रामक है कि पानीपत की लड़ाई में

बाबर के पास ७०० तोपें रहना एक असम्भव सी बात है। फारसियों के विषय में बाबर द्वारा दिये गये २००० अराब की संख्या ❀ भी इस अर्थ को गलत साबित कर देती है क्योंकि फारसियों के पास कभी इतनी तोपें हो ही नहीं सकती थीं। सम्भवतः केवल २ या ३ पौंएड का गोला फेंकने वाले छोटे आकार के इन रहकलों के आकार को देखते हुये, अधिक संख्या में इन्हें एकत्रित कर लेना कोई बड़ी बात न रही होगी; भले ही यह संख्या ७०० या २००० तक ही क्यों न रही हो। इस तरह इन सम्भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए विचार करने पर पी-डी कर्टील और हार्न का मत ही गलत प्रतीत होता है और लीडेन, असंकिन तथा इलियट का मत ही उचित ज्ञात होता है। हम विना किसी शंका के विश्वास कर सकते हैं कि बाबर ने 'अराब' केवल बैलगाड़ी के लिये ही नहीं, बल्कि उन पर लादी जाने वाली हल्की तोपों के लिये भी, सम्मिलित रूप से प्रयोग किया हो या इस मत को मान लेने में एक बाधा है—कुछ अन्य अंशों में बाबर ने अराब के साथ जर्बजन (तोप) का भी प्रयोग किया है, अर्थात तोप के लिये जर्बजन और गाड़ी के लिये अराब (पी-डी कर्टील, भाग २, पृ० १६८, ३३६); और इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'अराब' शब्द से जबर का मतलब केवल बैलगाड़ी से था। परन्तु वे ही अंश जिनमें जर्ब-जन लिखा हुआ है, अराब अर्थ तोप होने के पक्ष को भी पुष्ट करते हैं। क्योंकि इन अंशों से यह प्रगट होता है कि बाबर के पास हल्की तोपें भी थीं; और यदि ऐसी तोपें उसकी फौज के पास थीं, जो पानीपत की निर्णयात्मक लड़ाई में ये कहाँ थीं? इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते हैं; या तो हम एच० एम० इलियट के इस असम्भाव्य विचार को मान लें कि बाबर के पास पानीपत की लड़ाई में ऐसी हल्की तोपें थी ही नहीं, या, जैसा कि मुझे प्रतीत होता है, हम यह मानें कि वे तोपें बाबर ने प्रतिरक्षात्मक सज्जा की पहली पंक्ति में अराबों पर रखवा कर सामने खड़ा कर लिया था। इस तरह से तोपों द्वारा मोर्चेबन्दी करना और तोपों को जोड़कर एक पंक्ति में खड़ा कर देना बाद की लड़ाइयों में एक सामान्य तरीका माना जाने लगा था। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जो तरीका बाबर के उत्तराधिकारियों ने बाद में अपनाया, वह उसने पानीपत की लड़ाई में ही आजमा लिया था। अर्थात् उसने अपनी फौज के आगे एक लम्बी कतार में अपना तोपखाना सजा दिया था और सभी तोपगाड़ियों को एक दूसरे से बाँधकर एक आड़ भी बना लिया था।

तूर या तोबड़ा ;—इब्राहीम लोदी और बाबर की पानीपत की लड़ाई में बाबर द्वारा तोपों के प्रयोग के ढंग का वर्णन करते समय ऊपर एक शब्द आया है–तूर—जिसका अर्थ अस्पष्ट है। सर्वप्रथम, यह प्रश्न आता है कि यह शब्द तूर है या तोबड़ा

❀ पी-डी कर्टील, मेम्बायर्स भाग २, पृ० १६१, ३७६

और इन दोनों में से कौन सही है। 'तोबड़ा' शब्द निजाम–उद–दीन ने 'तबकात-ए-अकबर शाही; में तथा अब्दुल कादिर बदायूनी ने 'मुन्तखाब-उत-तवारीख में प्रयोग किया है। हम इसे लिखावट या छापे की गलती नहीं मान सकते क्योंकि यदि ऐसा होता तो, बदायून, जो कि तत्कालीन लेखक था, गलत शब्द को कभी भी ग्रहण न करता। निजाम उद–दीन बख्शी एक सिपाही था और अकबर के दरबार में उसका उच्च स्थान था; बाबर के समय से ही उसके बाप दादा मुगलों के दरबारी थे, ऐसी हालत में यह भी विचित्र सी बात मालूम पड़ती है कि उसने बाबर के सस्मरणों (मेम्वायर्स) को गलत पढ़ा हो, जिसके आधार पर उसने पानीपत की लड़ाई का वर्णन किया है। फिर भी मेरे द्वारा देखी गई सभी अन्य सम्बन्धित पुस्तकों में मुझे 'तूर' शब्द ही मिला है। सैय्यद अली बिलग्रामी के पास सुरक्षित 'बाबर नामा' (तुर्की) एक ही पंक्ति में दो बार 'तूर' का प्रयोग हुआ है। इलानिंसकी की तुर्की प्रति में पृ० ३४१ पर नीचे से चौथी पंक्ति में 'तूर' शब्द दो बार आया है। 'अकबरनामा' (लखनऊ एडीशन, भाग १, पृ० ७४, पंक्ति २) में अबुल फजल ये भी 'तूर' का प्रयोग किया है, और उसने भी यह अंश बाबर के सस्मरणों (मेम्वायर्स) के आधार पर ही लिखा है। अर्सकिन और लीडेन ने भी, 'बाबरनामा' का अनुवाद करते समय जिन पाण्डुलिपियों की सहायता ली है, उनमें 'तूर' शब्द ही मिलता है। अर्सकिन ने बाद में लिखे गए 'हिस्ट्री आव इन्डियाँ' में भी इसी शब्द का प्रयोग किया है। अन्त में, विना किसी विशेष सन्देह के कह सकते हैं कि बाबर ने जिस शब्द का प्रयोग किया था, वह 'तूर' ही है, 'तोबड़ा' नहीं।

यह बताना बहुत कठिन है कि किस प्रकार निजाम–उद–दीन से ऐसी गलती हो गई है। सम्भव है कि उसे 'तूर' शब्द ही मिला हो और उसका अर्थ न समझ पाने के कारण उसने एक अन्य स्पष्ट शब्द 'तोबड़ा' (चमड़े का थैला) लिख दिया। यद्यपि उसने इस प्रकार एक आसान और समझ में आने योग्य शब्द लिख दिया, परन्तु प्रश्न आया कि यह थैला किस प्रकार प्रतिरक्षा के लिये प्रयोग किया जा सकता है। इस विषय में अब्दुल कादिर बदायूनी ने उसकी मदद की। अपनी 'मुन्तखाब-ए-तवारीख में—जो कि निजामुद्दीन (और इसीलिये 'बाबर नामा' की भी) की अक्षरशः नकल है—वह लिखता है—"प्रत्येक दो बैलगाड़ियों (अराब) के बीच में छः या सात थैलों (तोबड़ा में मिट्टी भरवा कर पुर-ए-खाक) व्यवस्थित करा दिया।" ज्यों ही उसने निजामुद्दीन द्वारा अविष्कृति शब्द को देखा, तो उसने भी तुरन्त ही नई खोज की जिसके फलस्वरूप इन तोबड़ों में मिट्टी भर दी गई, जिससे कि इस तरह के निरर्थक एवं असम्बद्ध शब्द को सार्थक सिद्ध किया जा सके। ऐसी सेना में जिसके अधिकांश भाग में घुड़सवार ही थे, ऐसे चमड़े के थैलों की कमी नहीं रही होगी। अब ऐसी तोप गाड़ियों (अराबों) की

संख्या सात सौ थी और यदि दो गाड़ियों के बीच में ७ चमड़े के थैले (तोबड़े) रखे गये होंगे तो उनकी संख्या ७००गुणे ७ = ४६०० होनी चाहिये। परन्तु इन थैलों या तोवड़ों की इतनी अधिक संख्या भी फौज की प्रतिरक्षा के लिये अति साधारण आड़ रही होगी। साथ ही यदि ये मिट्टी से भरे होते, तो इन्हें 'हवा में उठा कर' नहीं ले जाया जा सकता था जिस प्रकार कि 'तूरों' के ले जाये जाने का वर्णन मिलता है। सर एच० एम० एलियट ने 'मोहमडन हिस्टोरियन्स' में बदायूनी की व्याख्या को सही माना है (भाग ६, पृ० ६४६) और तोबड़ा के प्रयोग से सम्बन्धित बदायूनी के बयान को भी सन्तोषजनक माना है। कर्नल रैकिंग (भाग १, पृ० ४३६) का मत मेरे मत से मिलता जुलता है—कि 'तोबड़ा' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसे 'तूर' ही होना चाहिये। डी० प्राइस ('रिट्रासपेक्ट' भाग ४ पृ० ६७८) और एच० बेवरिज ('अकबर नामा' भाग १, पृ० २४२) ने इसका अर्थ दिया है--'गेबियन' (किसी धातु की पट्टियों का जालीदार बेलनाकार ढाँचा जिसमें मिट्टी भर कर मोर्चेबन्दी की जाती है), इसमें केवल एक कठिनाई है कि इसे 'हवा में उठा कर' नहीं ले जाया जा सकता था, अन्यथा और सभी दृष्टियों से यह अनुवाद बाबर द्वारा पानीपत की लड़ाई में वर्णित 'तूर' के प्रयोग से एकदम मिलता जुलता है।

समय-समय पर चमड़े के थैलों (तोबड़ों) को भी अजीब-अजीब ढंग से इस्तेमाल किया जाता था, जैसा कि 'तारीख-एहुसैन-शाही' में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिये पानीपत की निर्णयात्मक लड़ाई के पहले १७६० के अन्त में एक साधारण युद्ध के पश्चात अहमद शाह दुर्रानी की संयुक्त फौज का सिपहसालार शाह पसन्द खाँ एक कुएँ की जगत पर बैठा, अपनी तलवार पर लगा हुआ खून साफ कर रहा था, उसी समय शुजाउद्दौला अपने खिदमतगारों और रक्षकों के साथ उधर से गुजरा। नवाब ने पसन्द खाँ को उसकी विजय के लिये बधाई दिया, इस पर सिपहसालार ने गर्वपूर्वक पूछा, "क्या आप बता सकते हैं कि आज हमने कितने काफिरों का कत्ल किया है" 'कम से कम ५ हजार', नवाब ने उत्तर दिया। इस उत्तर को सुन कर अफगान सिपहसालार ने हँसते हुए कहा—"यदि आप मुझे प्रत्येक सिर के लिये एक रुपया दें तो मैं २० हजार काफिरों के सिर आपके हुजूर में पेश करूँ।" यह कह कर उसने अपने सिपाहियों को इशारा किया और उसके घोड़े पर चढ़ते-चढ़ते प्रत्येक सिपाही से सिरों से भरे तोबड़ों को खाली कर दिया, प्रत्येक थैले में दो चार कटे हुए सर रखे हुए थे।

'तूर का अर्थ—डब्ल्यू अर्सकिन ने 'मेम्वायर्स आब बाबर' पृ० ३०४ में, तूर से सम्बन्धित अंश से इसका अर्थ 'ब्रेस्टकर्क (सैनिकों को आड देने वाली वस्तु) दिया है, साथ ही टिप्पणी के रूप में यह भी जोड़ दिया है कि "तूर का जो अर्थ मैंने दिया है, वह केवल अनुमान पर आधारित है।" फौजी इस्तेमाल के अतिरिक्त यह शब्द

साधारण व्यवहार में भी कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। जिनमें से कुछ बहुत ही प्रचलित है। स्टीनगैस ने 'तोर' को तुर्की का शब्द मानकर इसके निम्नलिखित अर्थ दिये हैं :—"कानून, नियम, चुंगी, धार्मिक रीति, चंगेज खाँ द्वारा प्रचलित किया हुआ एक कानून" (पृ० ३३४)। उसी पृष्ठ पर उसने 'तूर' शब्द को 'तूरा' मान कर इसका अर्थ 'शाही घराने का होने वाला मालिक, या सिंहासन का दावेदार इस अर्थ में हिन्दुस्तानी लेखकों ने इस शब्द का जहाँ तहाँ प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये मुहम्मद कासिम औरंगाबादी ने 'अहवाल-ए-खवाकीन' में शहजादा नेकूसियर के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है। अरबी में इस शब्द का अर्थ कजमिस्कीं (भाग २, पृ० १५१६) ने 'कोई भी चीज जिसके पीछे शरण ली जा सके। यही शब्द १०५१ हि० (१६४१-४२) में लिखे गये 'बादशाह नामा भाग ?, पृ० २०८ में बिल्कुल भिन्न अर्थ में प्रयोग किया गया है, इसमें इसका प्रयोग यमीनुद्दौला की विधवाओं को दिये गये दान के अर्थ में हुआ है, और इसकी व्याख्या 'बिना सिले वस्त्रों के ९ टुकड़े' दी गई है। प्लेट्स ('डिक्शनरी पृ० ३४२) के अनुसार यह 'तोर' या 'तोरा' हिन्दुस्तान में तश्तरी आदि के लिये प्रयोग किया जाता है। इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'तारीख-ए-आलमगीर सानी' में कई स्थानों पर मिलता है।

अब प्रश्न यह है कि फौजी अर्थ में 'तूर' या 'तूरा' वजन चीज थी ? पानीपत की लड़ाई का बर्णन करने वाले अंश में पैवेट डी कर्टीब ('मेम्वायर्स' भाग २, पृ० १६१ ने इसका अर्थ 'सार्ट डी पैलीसेड्स' (लकड़ी आदि रगड़ कर युद्ध क्षेत्र में एक प्रकार की प्रतिरक्षात्मक आड़ बनाना) दिया है। अपनी 'लिक्शनायर तुर्क-ओरियन्टल (पृ० २२५) में इसी लेखक ने तूर की परिभाषा इस प्रकार दी है—जंजीर और हुक आदि से बँधे हुये लकड़ी और लोहे के खम्भे जिसके पीछे सिपाही शरण लेते हैं, 'तूर' कहलाता है। बाबर के संस्मरणों (मेम्वायर्स) में यह शब्द अन्य स्थानों पर भी आया है, उदाहरण के लिये—'पैदल फौज ने सामने से कूच किया, उनके 'तूर' हवामें उठे हुये थे" (पी-डी कर्टील भाग १, पृ० १५०, इलमिस्की पृ० ८६, अर्सकिन पृ० ७४)। एक अन्य स्थान पर लिखा है, "तूर सीढ़ियों और 'तूर' से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं को तैयार रखने का हुक्म दिया गया, इन वस्तुओं के बगैर कोई भी नगर हमले द्वारा नहीं जीता जा सकता" (पी-डी कर्टील भाग २, पृ० ३२८)। परन्तु कोई भी अंश इस शब्द के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट नहीं करता, और यह शब्द सभी स्थानों पर अस्पष्ट ही रह गया है। सम्भव है कि इस शब्द का कोई एक ही निश्चित अर्थ न रहा हो और आड़ या सुरक्षा से सम्बन्धित किसी भी सामान्य वस्तु के लिये बाबर ने विभिन्न अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया हो। मेरे ख्याल से यह उसी प्रकार की कोई चीज थी जिसके लिये यूरोपियन सैनिक लेखक 'मैन्टलेट' (ऐसा चल परदा जिस पर गोली का असर नहीं होता) शब्द प्रयोग करते हैं। देखिये लेक—'लीजेज' पृ० २१६,

टिप्पणी)। बिल्कुल इसी प्रकार की चीज का प्रयोग मराठों ने १६७० में करनाल के घेरे में किया था जहाँ वे अपने सामने रखी हुई पटरियों को फेंक-फेंक कर आगे बढ़ते रहे" (ग्रान्ट डफ पृ० ११०)। क्वाट्रेमेर ने भी मंगोलों के इतिहास भाग १, पृ० ३३७ में 'तूर' को एक प्रकार का मैन्टलेट ही बताया है, उसने अपनी यह व्यवस्था 'जफरनामा' के तीन अंशों 'हबीब उस-सीयार के दो तथा 'माल्त-उस-सदैव' और 'अकबरनामा' के एक एक अंश के आधार पर दी है।

मुहर–ए–रहकला :—यह शब्द मुइम्मद कासिम, औरंगबादी द्वारा 'अहवाल-ए-खवाकीन' में प्रयोग किया गया है, फारसी डिक्शनरी में मुझे इसका कोई अर्थ नहीं मिला। मराठों द्वारा किसी अनुमानित रात्रिकालीन आक्रमण से बचने की तैयारियों का वर्णन करते हुये वह लिखता है। "वहर जानिब कि दर-रसन्द जमि-ए-मुवारिजान फराहम आमदह, मुहर-ए-रहकला मुकाबिला–ए–आँना याकाम बायद कर्द।" इस अंश के अनुसार मेरे विचार से इसका अर्थ तोप का मुँह (मजिल) होना चाहिये। शेक्सपियर ने पृ० २००३ मुहड़ी का अर्थ (मुँह के आधार पर) तोप की नाल का छिद्र (बोर) बताया है। खुशहाल चन्द (बर्लिन मनुसक्रिप्ट नं० ३००४ वीं) ने इस शब्द का प्रयोग इस तरह किया है—'अज महर–ए–बन्दूक मजरूह गश्त। उसने दो अन्य स्थानों पर इसका प्रयोग किया है। पहले स्थान पर तो इसका अर्थ तोप या बन्दूक के मुँह से ही है, परन्तु अन्य दो स्थानों पर यह शब्द गोली गोले के लिये प्रयुक्त है। अशाब ने स्पष्ट रूप से 'रुहर' तोप के मुँह के लिये प्रयोग किया है। वह लिखता है कि जब १७३६ में दिल्ली में नादिरशाही कतले आम शुरू हुआ तो निःशस्त्र दूकानदार व व्यापारी अपनी सुरक्षा की चिन्ता में पड़े। उन्होंने बिना शस्त्र के ही फारसियों को धमकाने और भयभीत करने का निर्णय किया। उन्होंने अपनी छतों में से खम्भे और बाँस निकाल लिये और उनका सिरा बाहर की तरफ करके, दीवाल पर रख दिया और इस प्रकार बाहर से ये बाँस और खम्भों के सिरे तोपों और बन्दूकों के मुँह (मुहड़े) के समान दिखाई पड़ने लगे।

बाण :—डाक्टर हार्न ने पृ० ३६ पर इसका वर्णन किया है। हिन्दुओं में किसी न किसी प्रकार के अग्निबाण बहुत पहिले से ही प्रचलित थे। स्टीनगैस (पृ० १५२) के अनुसार यह शब्द संस्कृत के 'बाण' से बना है जिसका अर्थ 'तीर होता है। इलियट ने 'मोहमडन हिस्टोरियन्स" (४ भाग ३, पृ० ४३६) में अग्निबाण) (रांकेट) के लिए 'लद्द' शब्द का प्रयोग किया है 'मलफुजात ए तैमूरी के आधार पर किया है, परन्तु यह शब्द किसी भी आधुनिक ऐतिहासिक ग्रंथ में नहीं मिलता। 'आईन' भाग १, पृ० ११० में १३वें क्रम पर 'तख्श–कमान' मिलता है पर इसका तात्पर्य छोटे धनुष से है। राकेट के तरह के अस्त्र का वर्णन 'बाँण' के नाम से मिलता है ('आईन' भाग १ पृ० ११२ सं० ७७)। स्टीन गैस (पृ० २४६) ने 'हुक्का–ए–

आतश' की परिभाषा में इसे एक प्रकार का रॉकेट (अग्निबाण) बताया है, परन्तु मैं इसका वर्णन मार्टर्स (छोटी तोपों) के अन्तर्गत ही कर चुका हूँ। अग्निबाण के लकड़ी वाले भाग को 'छड़ीं' कहा जाता था। खाफी खाँ ने अपने इतिहास के दूसरे भाग में पृ० २०४ पर १०६५ हि० के वर्णन में लिखा है :—"सदम-ए-चोबछड़ी-ए बान बा दहान-ए-ऊ रसीद बूद" अर्थात् अग्निबाण की चोबछड़ी से उसके मुँह पर चोट लगी थी।" 'तारीख-ए-आलमगीर-सानी' में हमें एक शब्द मिलता है जो अग्निबाण के किसी भाग का वर्णन करता है, इस शब्द को सामान्यतः 'पूलक' पढ़ा जायगा, परन्तु मेरे विचार से 'पूँगा' (खोखी नली) शब्द इस स्थान पर होना चाहिये। 'अहयाल-ए खवाकीन' में एक शब्द 'कैंची-ए-बाण' दो बार प्रयोग किया गया है। इस शब्द का प्रयोग खुशहाल चन्द (नादिर उज जमानी; बर्लिन मनुसक्रिप्ट संख्या ४६५) ने भी किया है; उसके अनुसार बंगाल के सूबेदार महाबत जंग के पास ११५५ हि० (१७४२) में २००० 'कैंची-ए-बाण' थे। ११६८-६६ हि० में अशाब ने ११५० हि० के वटनाक्रम का वर्णन करते हुए दो तीन स्थानों पर 'कैंची' शब्द का प्रयोग किया है; मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि यह क्या चीज थी; परन्तु अनुमानतः यह कैंची के आकार का आधार या सहारा था जिस पर से कि अग्निबाण (राकेट) छोड़ा जाता था। इन अग्निबाणों से सम्बन्धित एक और शब्द 'अकबरनामा' (लखनऊ एडीशन भाग ३, पृ० १६) में मिलता है—'कहक-बानहा"। यह शब्द भी अस्पष्ट है, मैं केवल अनुमान से ही कह सकता हूँ कि यह शब्द किसी विशेष प्रकार के अग्निबाण द्वारा पैदा होने वाले शोर के लिए प्रयोग किया गया होगा; इस दृष्टि से इस शब्द को 'कहक' के बदले 'कुहुक' (कोयल की आवाज) होना चाहिंये।

अग्निबाण मुगल सेना की सान सज्जा का एक आवश्यक और महत्वपूर्ण अंग था। बर्नियर (पृ० ४८) के अनुसार १६५८ में सामूगढ़ के युद्ध में दारा शिकोह द्वारा इसका प्रयोग किया गया था। अग्निबाणों के प्रयोग के अनगिनत उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। अशाब के अनुसार मुहम्मद शाह के तोपखाने के साथ असंख्य अग्निबाण भी ११५२ हि० में नादिर शाह के हाथ आये थे। इस लेखक के अनुसार अग्निबाण का आविष्कार एवं प्रयोग सर्वप्रथम दक्षिण में ही हुआ था। अशाब के समय में ये अग्निबाण ऊँटों पर लाद कर ले जाए जाते थे; प्रत्येक ऊँट पर १० अग्निबाण (राकेट) और उन्हें चलाने वाले सिपाही रहते थे। कभी कभी दो या चार बैलों वाली गाड़ियों पर भी ये बाण और उनके चलाने वाले ढोये जाते थे। कहा जाता है कि ब्रिटिश सेना में १८०६ में कानग्रीव राकेटों का प्रचलन टीपू सुल्तान द्वारा श्रीरंग पट्टम में प्रयोग किये गये अग्निबाणों को देखकर ही हुआ था; इस लड़ाई में कानग्रीव स्वयं सम्मिलित था। परन्तु अग्निबाणों के प्रयोग के लिये मैसूर ही

कोई विशेष स्थान न था, सभी युगों में इनका प्रयोग होता रहा है और टीपू-सुल्तान के समय के पहले ही पूरे भारत में अग्निबाणों का प्रचलन हो गया था। १८१७ में नागपुर के राजा ने भी जबलपुर में इनका प्रयोग किया था (फिट्ज क्लरेन्स, पृ० ८७)

'आईन' भाग १ पृ० ११५ में दी हुई अस्त्रों की सूची में बाण का क्रम ७७वां है; इसका चित्र १४वीं प्लेट के ६२वें क्रम पर है। इस बाण को लाल, हरे रंग के तिकोने झण्डों से सजाया जाता था। अग्निबाण-चालक सार्वजनिक अवसरों पर बादशाह की सवारी के दोनों तरफ चलते थे। १७१२ में लाहौर में उन लोगों के प्रतिनिधि कोटेलर का जलूस इसी प्रकार निकला था (वैलेन्टिन, भाग ४, पृ० २८३)।

राकेट या अग्निबाण के सम्बन्ध में हमें कई वर्णन उपलब्ध हैं। मेजर डिरम से उद्धरण लेते हुए मूर (पृ० ५०६) ने लिखा है :"अग्निबाण में लगभग एक फुट लम्बी एक नली होती है जिसका व्यास एक इंच होता था, यह नली १०-१२ फुट लम्बी बाँस की छड़ी में जड़ी रहती थी। यह लोहे की नली विस्फोटक पदार्थ से भर दी जाती है और तब इसमें आग लगा दिया जाता है। हाथ की शक्ति से निर्देशित दिशा की ओर से बाण काफी उँचाई पर १००० फीट की दूरी तक जाते हैं। कुछ अग्निबाणों में चेम्बर भी होता है और वे शेल की तरह फटते हैं। एक अन्य प्रकार के बाण सर्पों की तरह चलते हैं; और धरती पर टकराने के बाद फिर ऊपर उठ जाते हैं और तब तक उड़ते रहते हैं जब तक उनकी शक्ति समाप्त न हो जाय। ये बाण काफी आवाज करते हैं और देशी घुड़सवारों को बहुत परेशान करते हैं, परन्तु हमारी (अँग्रेजी) फौजों पर इनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि हमारी फौज अधिक लम्बाई में फैली रहती है, झुंड की तरह एक ही स्थान पर नहीं अड़ी रहती।

एक अज्ञात यूरोपियन लेखक ने फ्रेंच भाषा में १७६७ में इनका वर्णन इस प्रकार किया है (ओर्मीमेनुसक्रिप्ट्स ४३०६)—'ये एक तरह के राकेट हैं जिनकी नली में उत्तम बारूद भरी होती है, जो लम्बी छड़ियों में लगे होते हैं। वे हवा में काफी शोर मचाते हैं। इनका प्रयोग प्रायः एकत्रित भीड़ या घुड़सवारों व घोड़ों को भड़काने के लिये किया जाता है, परन्तु इन बाणों से स्वयं को बचाना कठिन कार्य नहीं है। हानि करने की अपेक्षा वे गड़बड़ी ही अधिक करते हैं। उनके प्रयोग करने में रुहेला ही सबसे अधिक दक्ष माने जाते हैं। प्रत्येक फौज के पास कुछ अग्निबाण रहते हैं।"

कैप्टेन टामस विलियमसन ने अग्निबाण के प्रयोग से सम्बन्धित असुविधा एवं कठिनाइयों का वर्णन (पृ० ६२) इस प्रकार किया है। "बाण कोई बहुत सुरक्षित अस्त्र नहीं है, क्योंकि वह स्वयं चलाने वाले के ऊपर भी लौट कर बार कर सकता है। देशी रियासतों में अग्निबाणों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया जाता है। इस

शस्त्र की बनावट और तकनीक बहुत साधारण है; इसका मुख्य अंग लगभग १० इंच या १ फुट लम्बा, और २-३ इंच के व्यास का लोहे का एक खोखला बेलन होता है, इसका बाहरी या ऊपरी सिरा बन्द रहता है और दूसरे सिरे में, बारूद भरने के लिये छेद खुला रहता है। ये बेलन ६-७ फीट लम्बी लाठी या बांस में बाँधे जाते हैं जिसका पिछला सिरा बहुत मोटा होता है। इसको चलाने से पूर्व, छोटे से छेद में से बाहर निकले हुये तागे में आग लगा दी जाती है, बाण चलाने वाला अपने हाथ से इसकी दिशा निर्धारित करता है, हाथ के जोर से इसे गति प्रदान करता है और यह भयानक क्षेप्यास्त्र (मिसिल) अपने लक्ष्य की तरफ चल पड़ता है। यह घुड़सवारों के बीच में गिरने पर आश्चर्यजनक रूप से आतंक एवं भय उत्पन्न करता है। जब यह अपने पूर्व निर्धारित स्थान पर गिरता है, तो इसके भयानक प्रभाव से मुक्ति सम्भव नहीं है। सनसनाते और जलते हुये इस अचानक पहुँचने वाले मृत्यु-दूत को देखते ही लोग भागने लगते हैं और इसकी लाठी की करारी चोट भी किसी न किसी पर पड़ ही जातो है, इस झटके से इसकी बारूद से भरी नली फट भी सकती है और इस हालत में, भयानक दृश्य उपस्थित हो जाता है। इस भयानक अस्त्र की रचना बहुत नाजुक होती है, और यदि इन्हें चलाने वाले बहुत सतर्क न रहें तो वे स्वयं भी इसके शिकार हो सकते हैं। इस बाण को उचित ऊँचाई पर फेंकने के लिये बहुत प्रशिक्षण एवं अभ्यास को आवश्यकता होती हैं; दक्षता और अभ्यास के अभाव में यह भी भय रहता है कि वे छूटते समय, गलत निर्देशन के कारण वापस लौट कर अपने ही दल में विध्वंसन मचा दें।"

मि० विल्क्स ने 'हिस्टारिकल स्केचेज' (भाग २, पृ०.२७, टिप्पणी) में लिखा है :—'हिन्दुस्तानी अग्निबाण अपनी विस्फोटक शक्ति उसी प्रकार की बनावट से प्राप्त करता है जिस प्रकार की बनावट से साधारण आतिशबाजी की चीजों का विस्फोट होता है। जिस बेलन में यह विस्फोटक पदार्थ भरा होता है वह लोहे का होता है और कभी कभी बारूद के अत्यधिक गर्म और उत्तेजित होने पर यह लोहे का बेलन अपने लक्ष्य पर पहुँचते फट भी जाता है। कभी कभी इस राकेट (अग्निबाण) में एक सीधी तलवार का ब्लेड भी जड़ दिया जाता है इस लोहे के बेलन के पीछे लगी हुई लाठी इसे निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये उपयुक्त ऊँचाई का निर्धारण करने के विषय में अग्निबाण से आसानी से बच्चा जा सकता है, परन्तु जब ये बाण पर्याप्त संख्या में गिरने लगते ही तो उनसे बचाने का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध होता है इन बाणों में एक सवार और घोड़े को नष्ट कर देने की शक्ति छिपी होती है। यह पुराना हिन्दुस्तानी अस्त्र इसी प्रकार का होता था, यद्यपि आधुनिक यूरोपीय युद्ध-प्रणाली में प्रचलित कानग्रीव राकेट के सामने यह साधारण महत्व रखता है।"

अन्त में हम फिटजक्लेरेंस ('जरनी' २५५) से भी इस सम्बन्ध में एक उद्धरण

लेकर इस विषय को समाप्त करेंगे। अग्निबाण के विषय में वह लिखता है :—"अग्निबाण (राकेट) यहाँ बहुत पहले से प्रचलित थे और पर्याप्त प्रभावशाली अस्त्र थे। इसमें चमड़े के फीतों से बँधा हुआ एक लोहे का बेलन होता है; घोड़ों या अन्य जानवरों पर ले जाया है। आग लगा दिये जाने पर जाने पर, चालक के पैर द्वारा इसे अतिरिक्त शक्ति प्रदान की जाती है। ये बाण किसी व्यक्ति या घोड़े के शरीर के आरपार भी जा सकते।"

महताब—जब १७१४ई०में हुसैन अलीखाँ को जोधपुर में अजीतसिंह के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिये भेजा गया, तो उसके शस्त्रों में १०० 'महताब' भी थे। मै निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि यह अस्त्र कैसा था, परन्तु उनका उल्लेख अग्निबाणों के साथ ही किया गया है, इसलिये अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः ये भी किसी प्रकार के क्षेप्यास्त्र (मिसिल) ही थे। स्टीनगैस (पृ० १३५२) के अनुसार 'महताब' आतिशबाजी से सम्बन्धित चीज थी, शेक्सपियर ने भी (पृ० २०००) इसकी अर्थ "नीली आभावाली आतिश" बताया है साथ ही उसने 'कानूने-इस्लाम' का हवाला दिया है जिसमें महताब, और नकती महताब का उलेख 'आशित' (फायर-वर्क्स) के अन्तर्गत किया गया है।

पल-ए-सियाह—यह शब्द मैने 'अहवाल-ए-खवाकीन' में दो स्थानों पर पाया है। एक स्थान पर इस प्रकार लिखा है, "रहकले-ए-सियाह' से मरे हुये थे" और इस प्रकार इसका अर्थ किसी विस्फोटक शस्त्र से लगाया जा सकता है। इसी किताब में एक अन्य स्थान पर इस शब्द का प्रयोग मिलता है, और प्रसंग के अनुसार यहाँ इसका अर्थ 'तांबे का सिक्का होना चाहिये न—"खरमुहरा, पल-ए-सियात, ओ जरे सफेद ओ जर-ए-सुर्ख अर्थात् 'मौती,तांबा, चाँदी का सिक्का, सोने का सिक्का। स्टीनगैस ने 'पुल' का अर्थ दिया है "छोटा सिक्का" (पृ० २५४)।

'पाउडर मैगजीन'—इन मैगजीनों को 'बारूद-खाना' कहा जाता था—देखिये गुलाम अलीखां 'मुकद्दम-ए-शाह आलम नामा।'

बदर—'अहवाल-ए-खवाकीन' में 'पल ए-सियाह के साथ इसका प्रयोग हुआ है: 'बदरहे पल—ए—सियाह'; सम्भवतः यह कोई ऐसी चीज थी जिसमें 'हल—ए—सियाह' रक्खा जाता था। स्टीनगैस ने एक शब्द 'बद' (थैला) दिया है। हो सकता है कि यह 'बदर' न हो कर 'बद्र' ही हो।

———

बारहवां अध्याय

तोपखाने के पदाधिकारी और कर्मचारी

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जब मुगल बाबर के नेतृत्व में हिन्दुस्तान के उत्तरी मैदान में घुसे तो वे तोपखाने के विषय में कितना जानते थे। इस विषय में उनकी जो कुछ भी जानकारी थी वह या तो उन्होंने तुर्कों की नकल द्वारा प्राप्त किया था या कुस्तुन्तुनिया से हासिल किया था। जब १६ वीं शताब्दी के मध्य भाग में मुगल आये, उस समय हिन्दुस्तान में भी आग्नेयास्त्रो का ज्ञान बहुत अधिक विकसित और आगे बढ़ा हुआ नहीं था। अपने शासन काल के प्रारम्भिक समय में मुगल बादशाह अपने तोपखाने के लिये रूमियों पर (उन मुसलमानों पर जो कुस्तुन्तुनियाँ से आये थे) या सूरत से भाग कर आये हुए फिरंगियों और पुर्तगाली वर्णसंकरों पर निर्भर रहते थे। रूमी खाँ इनमें से पहली श्रेणी (कुस्तुन्तुनिया के मुसलमानों में) का एक विख्यात अफसर था। यूरोपियन लोगों या पुर्तगालियों का वर्णन या उल्लेख नहीं के बराबर मिलता है। जहाँ तक सम्भव हो सकता था, हिन्दुस्तान के मुसलमान अपनी मुलाजिमत में यूरोपीय या विदेशी ईसाइयों को नहीं रखते थे। सम्भवतः ऐसा वे इसलिये करते थे कि वे ईसाइयों के भिन्न तौर तरीकों और रहन सहन से घृणा करते थे। १८ वीं शताब्दी के मध्य तक, मुसलमान अमीर उमरा उच्च कुलीन यूरोपियनों से भी कितना क्षुद्र व्यवहार करते थे, इस सम्बन्ध में उसी समय के लगभग मारक्विस डी॰ बुसी-कैस्टेलनो (आर॰ ओ॰ कैम्ब्रिज, 'वार' भूमिका, पृ० २६-३०) द्वारा लिखे गये एक पत्र से कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है। हाजी मुस्तफा, ने इसी प्रकार बंगाल में हमारी (अंग्रजों की) प्रारम्भिक सफलताओं का वर्णन करते हुए लिखा है—"परन्तु आप किसी मुगल की बात सुनिये या उनके किसी रिश्तेदार के पत्र पढ़िये तो ऐसा प्रतीत होगा कि सारी क्रान्ति के केन्द्र में मुगल ही हैं और यदि विदेशियों का कोई वर्णन दिया जाता है तो केवल यही कि जफर अली खाँ ने क्लाइव के साथ कई सौ फिरंगियों को भी शरण दिया और खतरे और विपत्ति के समय आसन्न मृत्यु से उनकी जान बचाई (डालरपिम्प्रल 'रिपोर्टरी' भाग २, पृ० २१७)। इसी प्रकार की प्रवृत्ति उड़ीसा के सूबेदार ने १६३३ में दिखाई जब उसने कार्टराइट नामक

अंग्रेज को अपना पैर चूमने के लिये विवश किया (सी० आर० विलसन अर्ली अनल्स भाग १, पृ० ८)।

हिन्दुस्तानी लेखकों की पूर्ण चुप्पी के बाद भी, इस बात के कई प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि १८वीं शताब्दी के मध्य तक मुगलों की सेना में अनगिनत पुर्तगाली शामिल होते रहे। उदाहरण के लिये इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि जूलियाना डी अस्कोटा नामक एक पुर्तगाली महिला ने—जो कि शाही हरम (जनानखाना) की मुख्य परिचारिका थी—गोआ से ३०० पुर्तगालियों को बुलवा कर उनकी नौकरी का प्रबन्ध किया था (जेन्टिल 'मेम्वायर्स' पृ० ३७५)। 'तारीख-ए-मुहम्मदी' (११४७ हि०) से भी हमें यह पता लगता है कि 'जूलिया नामक एक फिरंगी औरत,'—जो मृत शाह आलम (बहादुर शाह) और वर्तमान बादशाह मुहम्मद शाह की चिकित्सक एवं प्रिय पात्र थी, रबी १, ११४७ हि० (अगस्त १७३४) में खुदा की प्यारी हो गई (अर्थात मर गई)। एक और उदाहरण लीजिये—टिरोल के पादड़ी फादर टिफेंथेलर लगभग १६ वर्ष तक (१७४७-१७६४) उन ईसाइयों की बस्ती में आराधना प्रार्थना आदि के लिये नियुक्त थे जो शाही खिदमत में थे, यह ईसाइयों की बस्ती आगरा से १०८ मील दक्षिण नरवर नामक नगर में थी (बरनौली 'रिसर्चेज सर इन्द' भाग १, पृ० १७५ और लेखक की भूमिका में पृ० ४-५)।

तोपखाने में नियुक्त यूरोपियनों के विषय में जहाँ तहाँ और उल्लेख भी मिलते हैं। बर्नियर पृ० २१७ में (हार्न पृ० ३२ के आधार पर) लिखता है ; "तोपखाने के अधिकारी विशेष कर ईसाई या फिरंगी, पुर्तगाली, अंग्रेज, डच, जर्मन फ्रांसीसी, गोआ, डच और अंग्रेजी कम्पनियों से भागे हुये शरणार्थी ऊँची तनख्वाह पाते थे। प्रारम्भ में जब मुगल तोपखाने के प्रबन्ध एवं संचालन में दक्ष नहीं थे तो इन विदेशियों की तनख्वाह निर्धारित करने में बड़ी उदारता बरती जाती थी; अब भी (१६५८) कुछ ऐसे यूरोपियन अधिकारी हैं जो हर महीने २००) तक पाते हैं परन्तु अब बादशाह (आलमगीर) बड़ी मुश्किल से उनकी नियुक्ति करता है और उनकी तनख्वाह की सीमा भी ३२) रु० तक ही रह गई है। ❀ बर्नियर ने पृ० ७३ और ९३ पर यह उल्लेख भी किया है सिन्ध में बक्कर के तोपखाने के अधिकारी भी पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अंग्रेज और जर्मन ही थे (१६५८ ई०) में अधिकारी दारा शिकोह द्वारा नियुक्त किए गये थे। १२३३ हि० में हसनपुर की लड़ाई का वर्णन करते हुये खुशहाल चन्द (बर्लिन मैनुसक्रिप्ट ४९५) ने भी 'कुशल यूरोपियनों ('फिरंगीयान-ए-चाबुक-दस्त') का उल्लेख किया है जो तोपखाने का संचालन कर रहे थे। १७५० में दक्खिन के

❀ आगे 'अहशान' वाले अध्याय में देखिये, तनख्वाह घटते हुये ८ रु० से घट कर ६ रु० और ५॥ रु० प्रति माह तक हो गई थी।

सूबेदार नाजिर जंग के तोपखाने का संचालक भी एक आयरिश (आयरलैण्ड का निवासी) ही था (कैम्ब्रिज, "वार" पृ० ६७)। 'हुसेन शाही' से भी हमें यह जानकारी मिलती है कि १७६०-६१ में सिन्धिया के अधिकांश तोपची यूरोपियन (नसीर-ए-फरंग) ही थे। जेन्टिल भी 'मेम्बायर्स' (पृ० २८५) में जोर देकर कहता है कि १७७४ में कटरा की लड़ाई में हाफिज रहमत खाँ के तोपखाने का संचालक एक स्पेनियार्ढ (स्पेन-निवासी) था। यही नहीं, १८१५ ई० तक निजाम के तोपखाने में कुछ पुर्तगाली काम करते थे, "उनकी सेवा में एक वृद्ध पुर्तगाली नियुक्त था जो प्रत्येक तोप को स्वयं ही स्थित करता था और अभ्यास के लिये लक्ष्य की दिशा निर्धारित करता था। यदि संयोग से कोई गोला दीवाल के किसी भाग में लग जाता था तो तारीफ के पुल बाँध दिये जाते थे और वृद्ध पुर्तगाली तोपची भी गर्व से फूल उठता था (लेक-'सीजेज' पृ० १६, टिप्पणी)।

मीर-आतश :—तोपखाने का सर्वोच्च अधिकारी 'मीर आतश' कहलाता था; उसे 'दरोगा-ए-तोपखाना' भी कहते थे; कभी-कभी जैसे जहाँदारशाह के शासन काल (१७१२) में दो अधिकारियों का उल्लेख मिलता है; इनमें से एक अधिकारी तो पूरे तोपखाने का संचालन करता था जब कि दूसरा अधिकारी बादशाह के पास रहने वाले जिन्सी (हल्के) तोपखाने का संचालन करता था। ये अधिकारी मन्सबदारों में से ही चुने जाते थे; अपनी श्रेष्ठता और बादशाह की कृपा के आधार पर तरक्की पाकर ये मन्सबदार इस उच्च पद तक पहुँचते थे। परन्तु आतश के अतिरिक्त तोपखाने से सम्बन्धित समस्त अन्य व्यक्तियों को सीधे शाही खजाने से वेतन दिया जाता था। इस प्रकार संगठन की दृष्टि से तोपखाने के कर्मचारी शेष सेना से भिन्न थे; सेना के अन्य विभाग जिनमें सर्व प्रमुख घुड़सवार ही थे, अपने सरदारों और मन्सबदारों द्वारा वेतन प्राप्त करते थे। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, कि कुछ घुड़जवार टुकड़ियाँ सीधे बादशाह से वेतन पाती थीं जैसे 'अहदी' बाला शाही आदि। लेकिन वे सभी लोग जैसे बन्दूकची, तोपखाने के आदमी, कारीगर तथा असैनिक दल जैसे रुई सूत आदि से कवच आदि बनाने वाले जो इस प्रकार वेतन पाते थे, ऐसा प्रतीत होता है कि वे सभी लोग 'अहशाम' के अन्तर्गत गिने जाते थे। सम्भवत: इन लोगों के एक ही श्रेणी में रक्खे जाने का कारण उन सबकी तनख्वाह अदायगी का समान ढंग था। इन सभी लोगों का नाम शाही खजाने के तनख्वाह के मसविदे पर दर्ज होता था और उन्हें बादशाह के निजी खिदमतदार मानकर सीधे खजाने से उनका वेतन दिया जाता था; वे किसी मन्सबदार या सरदार के अधीन नहीं थे जिन्हे उनकी तनख्वाह बाँटने का उत्तरदायित्व किया जाता था।

धीरे-धीरे मीर आतश एक बहुत ही महत्वपूर्ण अधिकारी हो गया था। जब

२१ मार्च १७४४ को सफदरजंग को नियुक्त किया गया, उस समय खुशहाल चन्द बर्लिन मनुसक्रिप्ट, फोलियो १७३३ वी) ने लिखा कि "पहले के समय के विपरीत पोपखाना सेना का सबसे विश्वासपत्र अङ्ग हो गया है।" किले, महल या बादशाह के खेमे की रक्षा करने के साथ साथ इस विभाग के कन्धे पर बादशाह तथा महल की दीवालों और फाटकों की रक्षा करने का भी उत्तरदायित्व रहता था ('सीर' पृ० ३७३, टिप्पणी संख्या १७० और 'मालूमात-उल-आफाक)।

ऐसा प्रतीत होता है कि मीर-आतश भी अपने अधीनस्थ अधिकारियों और कर्मचारियों के प्रति भी वही कार्य करता था जो बख्शी लोग सेना के शेष भाग के लिये करते थे। अपने कार्यों को पूरा करने के लिये उसका एक सहायक अधिकारी रहता था जिसे 'मुशरिफ' कहा जाता था। मीर आतश ही अपने विभाग सम्बन्धी आवश्यकताओं एवं मांगों को बादशाह के सामने पेश करता था और उसके विभाग के लिये हुक्म भी उसी के जरिये जारी होते थे। तनख्वाह के मसविदे और तोपखाने के भण्डार के विवरण की जाँच करने के बाद ही वह इन कागजों को 'खान-ए-सामा' के पास भेजता था। वह तोपखाने में कर्मचारियों की नियुक्तियों की देखरेख करता था और विभाग की कमियों और नष्ट चीजों की रिपोर्ट प्राप्त करता था। तोपखाने से सम्बन्धित तनख्वाह के दफ्तर का प्रधान अधिकारी उसी के द्वारा मनोनीत किया जाता था। तोपखाने से सम्बन्धित सभी नियुक्तियाँ और तरक्की आदि उसी की इच्छा के अनुसार की जाती थीं—('दस्तूर-उल-इन्शा' ब्रि० म्यू० संख्या १६४१)।

तोपखाने का अध्ययन करने के लिये हम इसे तीन भागों में बाँट सकते हैं (१) निर्माण विभाग (२) प्रयोग में आने वाला तोपखाना (३) भण्डार में रक्खे हुये सामान और बारूद खाने (मैगजीन्स)। यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि बाद के समय में तोपों को ढालने या स्टोर (भण्डार) का कार्यभार सम्भालने में मीर आतश का कितना हाथ रहता था। तोप बनाने का कारखाना शाही उत्तरदायित्व के अन्तर्गत माना जाता था, इसे 'कारखाना जात' कहते थे और इसके प्रबन्ध का भार शाही खान-ए-सामा के कन्धे पर रहता था, मीर आतश को 'तोपखाने का दरोगा' शायद इसीलिये कहा जाता था कि वह तोपखाने के सम्बन्ध में खान-ए-सामा के अधीन कार्य करता था। परन्तु समय बीतने के साथ साथ ज्यों ज्यों तोपखाने का विकास होता गया, मीर आतश के अधिकार भी बढ़ते गये और उसका पद महत्वपूर्ण होता गया, यहाँ तक कि अन्त में अधिकार एवं महत्व की दृष्टि से अपने नाममात्र के श्रेष्ठ खान-ए-सामा के समकक्ष माना जाने लगा और तोपखाने के कार्य संचालन की दृष्टि से, वह खान-ए-सामा के अधिकारक्षेत्र से एकदम स्वतन्त्र हो गया ऐसा प्रतीत होता है।

प्रारम्भ में, बाबर के संस्मरणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि मीर अताश का कार्य तोपों के ढालने की क्रियाओं का निरीक्षण करना था। संस्मरणों में ऐसा बर्णन मिलता है कि बाबर के मीर-आतश उस्ताक कुली खाँ ने आगरा में एक बड़ी तोप के ढाले जाने के कार्य में सक्रिय भाग लिया था। मैं नहीं कह सकता कि बाद के शासन काल में भी मीर आतश यही कार्य करता था। जहाँ तक मेरा अनुमान है, तोप के कारखाने और चढ़ी हुई तोपें पूर्णतः खान-ए-सामा के अधिकार में थीं और मीर आतश ने स्वयं को केवल शुद्ध सैनिक सेवा के क्षेत्र तक ही सीमित कर लिया था। तोपों से सम्बन्धित अतिरिक्त गोला बारूद, मैगजीने और स्टोर के अन्य सामान न तो खान-ए-सामां के अधिकार में थे और न मीर आतश के ही हाथ में थे। तोपखाने से सम्बन्धित सभी सुरक्षित रक्खे जाने वाले सामान आगरा, दिल्ली और लाहौर के समान मजबूत किलों में 'किलेदार' नामक एक विशेष अधिकारी की देख रेख में सुरक्षित रक्खे रहते थे। यह अधिकारी सीधे शाही दरबार द्वारा नियुक्त किया जाता था और किसी तरह से भी उसके ऊपर सूबेदार या नाजिम का प्रभाव नहीं पड़ सकता था न उनसे कोई सम्बन्ध ही था।

हजारी—यह शब्द प्रायः इतिहास की किताबों में दिखाई पड़ता है। प्रसंग के अनुसार मेरी दृष्टि से यह शब्द तोपखाने के किसी अधिकारी के लिए प्रयोग किया जाता था वह सम्भवतः ऐसे तोपखानों से सम्बन्धित होता था जो नगरों में सेना के साथ रक्खे जाते थे। अनुमानतः इसका रुतबा हमारी (अँग्रेजी) सेना के कैप्टेन के बराबर होता था। मन्सबों को अध्ययन करते समय हम 'हजारी' शब्द का बिस्तृत अध्ययन कर चुके हैं। परन्तु तोपखाने में 'हजारी' का पद उतना ऊँचा और महत्व-पूर्ण नहीं होता था जितना कि एक हजारी मन्सबदार का; तोपखाने में हजारी का पद विशेष महत्वपूर्ण नहीं था क्योंकि वे बहुत अधिक संख्या में थे और उनका वर्णन 'हजारियों' के सामूहिक नाम से किया जाता था।

कुछ लेखक,—जैसे मिरजा मुहम्मद (तारीख ए मुहम्मदी) तोपखाने के एक अधिकारी के लिये 'मिंक–वाशी' का प्रयोग करते हैं जब कि अन्य लेखक उसके लिये 'हजारी' का इस्तेमाल करते हैं। गुलाब अली खाँ ने भी 'मुकद्दमा–ए–शाह आलम नामा' में पहले शब्द का ही प्रयोग किया है जबकि कामराज ('आजाम–उल–हर्ब') ने एक ही वाक्य में इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ये दोनों शब्द समानार्थी हैं क्योंकि तुर्की जुबान में मिंक–बाशी का अर्थ १००० का सरदार (मिंक = १०००, बाशी = सरदार) होता है। देखिये हार्न, पृ० १४,१३६ ('तैमूर्स आर्डिनेन्सेज—'डेवी एण्ड ह्वाइट, पृ० २३१)। इतना तो निश्चित है कि जब बाबर ने हिन्दुस्तान को जीता, उस समय तक मुगलों में सेना से सम्बन्धित अधिकांश ओहदों के लिये तुर्की शब्द प्रचलित हो चले थे। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि शासन व्यवस्था में ये

तुर्की 'शब्द उतने प्रचलित न थे जितना कि व्यवहार में कस्तुन्तुनिया में भी सभी ओहदों और मनसबों के नाम तुर्की जबान में न होकर फारसी भाषा में थे। 'आईन-ए-अकबरी (ब्लाकमैन के अनुवाद के आधार पर) 'मिक-बाशी' का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह शब्द कुस्तुन्तुनियां के उन तुर्की के साथ हिन्दुस्तान में आया जो कि प्रारम्भिक मुगल काल में तोपखने के अधिकारी नियुक्त किये गये थे। चूँकि इन तुर्की और तोपखाने में नियुक्त यूरोपियनों की कदर अधिक की जाती थी, इसलिये उन्हें पहले पहल सम्भवतः १००० व्यक्तियों का अधिकारी (हिजरी या मिन्क बाशी) का ओहदा दिया जाता था; परन्तु बाद में जब हिन्दुस्तानी भी तोपखाने से सम्बन्धित क्रिया कलापों से परिचित होने लगे और जानकार हिन्दुस्तानियों की संख्या बढ़ने लगी तो इस पद या ओहदे का महत्व घटने लगा; इस हालत में सम्भवतः यह ओहदा केवल नाम मात्र का रह गया, क्योंकि अब हजारी १००० आदमियों के सरदार नहीं रह गये, क्योंकि स्वयं हजारियों की संख्या हजारों में हो गई होगी।

सदीवाल, मिरदाहा, सायर—ये तीनों ओहदे हजारी के अधीन होते थे, उस समय के सभी सरकारी कागजातों में थे ओहदे इसी क्रम से मिलते हैं और इन ओहदों को हम अपनी सैनिक शब्दावली के अनुसार क्रम से लेफ्टिनेन्ट, सार्जेन्ठ और प्राइवेट (नान कमीशन्ड अफसरों से भी नीचे ओहदे पर) का समानार्थी मान सकते हैं। शब्दों की व्याख्या करने में ये निम्नलिखित अर्थ निकलते हैं :—सदी (फारसी) = १०० का दल वाला = व्यक्ति, अथिकारी। मिर (फारसी 'मीर' से) = मालिक, दह = १० का दल। सायर (फारसी) शब्द, अन्य अर्थात् साधारण तोपची (डेवीऐंड हवाइट 'इन्एटी ट्यूट्स' पृ० २३२)। काम राज ने 'आजम-उल-हर्ब' इसके लिये 'सदीदार' लिखा है।

गोलन्दाज—जब तोपचियों का विशेष नामकरण किया जाता है तो उनके लिये 'गालन्दाज' शब्द प्रयोग किया जाता है। उस शब्द का अथ होता है गोला फेंकने वाला (गोल = गोला, अन्दाज फारसी अन्दाख्तन) = फेंकना। हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि एक तोप पर कितने आदमी कार्य करते थे; हार्न (पृ० २७) के अनुसार प्रत्येक तोप पर अनुमानतः औसतन १६ व्यक्ति रहते थे; इस अनुमान के लिये हार्न ने 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' (लोवे, पृ० १८, पंक्ति ६) का सहारा लिया है। अहमद अब्दाली की प्रत्येक 'शाहीन' (छोटी तोप, इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है) पर दो व्यक्ति नियुक्त रहते थे (हार्न पृ० २८; इलियट ७, पृ० १६८)। १५४० में मिरजा हैदर द्वारा दिये गये हुमायुँ के तोपखाने के वर्णन के आधार पर हार्न ने निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्येक तोप पर औसतन सात व्यक्ति नियुक्त रहते थे।

देग अन्दाज—ये व्यक्ति देग (वर्णन पीछे हो चुका है) फेंकते थे जिसका वर्णन मैंने भारी तोहों के अन्तर्गत किया है। मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि वे देग (मार्टर) फेंकते थे या हथगोला। दूसरी चीज (हथगोला) प्रसंग के अनुसार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि मेरे विचार से हिन्दुस्तान में मार्टर का प्रयोग १८वीं सदी के मध्य में यूरोपियनों द्वारा ही सर्वप्रथम प्रारम्भ किया गया था, उसके पहले यह यहाँ के लिये अपरिचित अस्त्र था। फिट्ज क्लेरेंस (पृ० २४६) का देग और देगन्दाज का वर्णन मेरे मत से मिलता जुलता हैं, उसके अनुसार "कभी कभी वे बारूद से भरे मिट्टी के मोटे बर्तनों को फेंकते है जिसके टुकड़े कटकर भयानक रूप से घायल करते हैं।"

'बान-अन्दाज' या बान-दार—चूँकि इन अग्निबाण या राकेट चालकों का सरकारी विवरणें में अलग से वर्णन किया गया है इसलिये हमें इनको तोपखाने के अधिकारियों व कर्मचारियों में सम्मिलित नहीं करना चाहिये। यह निस्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे एक अलग विभाग के रूप में अपना अस्तित्व रखते थे।

———

तेरहवाँ अध्याय

अहशाम

अहशाम सेना का वह विभाग है जिसके अन्तर्गत बाद के हिन्दुस्तानी लेखकों ने मन्सबदारों, ताबिनान और अहदियों के अतिरिक्त, सम्पूर्ण सेना को सम्मिलित कर लिया है। मैं भी इससे सहमत हूँ, पर कुछ परिवर्तन के साथ। मेरे विचार से तोपखाने का इसमें अलग एक विभाग मान लेना चाहिए क्योंकि तोपखाने का महत्व इतना तो था ही कि उसे एक अलग विभाग की मान्यता दी जा सके।

'आईन' भाग १, पृ० २५१-५४ में एक अध्याय 'पियादगान' शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है जो सामान्यतः बाद के लेखकों के 'अहशाम' से मिलता जुलता है। उसी शीर्षक के अन्तर्गत अकबर के १२००० बन्दूकचियों के साथ-साथ दरबान, महल के रक्षक, पत्रवाहक, दूत, खुफिया, तलवारबाज, पहलवान, गुलाम, बढ़ई, लुहार, भिश्ती तथा अन्य प्रकार के खिदमतगार भी सम्मिलित कर लिए गए हैं। सही अर्थ में, इनमें से केवल बन्दूकचियों को सैनिक माना जा सकता है। 'आईन' भाग १, पृष्ठ २५४ में एक फौजी टुकड़ी 'दाखिली' (अतिरिक्त) के नाम का भी उल्लेख है यह टुकड़ी सम्भवतः आलमगीर के शासन-काल तक अस्तित्व हीन हो गई थी, कम से कम सरकारी कागजों में इनका उल्लेख तो नहीं ही मिलता।

शब्दकोष के अनुसार इस अस्पष्ट अरबी शब्द 'अहशाम' (स्टीनगैस—पृ० २१-'हशम' का बहुबचन) के निम्नलिखित अर्थ दिए गए हैं : नौकर, घरेलू सेवक, अनुयायी, परिचारक, आश्रित, एक तरह का सशस्त्र रक्षक सैन्य दल। सरकारी कागजातों में ('दस्तूर-उल-अम्ल') इस विभाग के अन्तर्गत पैदल सेना, तोपखाने के अधिकारी व कर्मचारी, कारीगर और दरबार से सम्बन्ति, खिदमतगारों को सम्मिलित किया गया है। इन सभी लोगों को एक ही श्रेणी में रखने के लिए उत्तरदायी तथ्य केवल एक था और वह यह था कि ये सभी लोग बादशाह से व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित समझे जाते थे, उन्हें शाही खजाने से वेतन प्राप्त होता था, तथा उनके और बादशाह के बीच मन्सबदारों की तरह का कोई मध्यस्थ नहीं होता था। सम्भवतः इसी आधार पर अबुल फजल ने

तोपखाने को भी, 'आईन' की पहली किताब में, घरेलू या व्यक्तिगत श्रेणी में रख दिया है और इसे 'आईन' व दूसरी पुस्तक, में वर्णित फौज में सम्मिलित नहीं किया है। मैंने तीन अन्य निश्चित एवं स्पष्ट अर्थों में 'अहशाम' का प्रयोग पाया है (१) मीरात-उल-इस्तिला' के अनुसार जिन्सी (हल्का तोपखाना) जो सैदव बादशाह के साथ रहता था, 'अहशाम' कहलाता था। (२) १८ वीं शताब्दी में बराबर किलों के तोपचियों के लिए 'अहशाम' शब्द का ही प्रयोग किया जाता था। (३) 'अहशाम' उन जमीन्दारों के लिए प्रयोग किया जाता था जो किसी युद्ध में अपने कुछ सशस्त्र सैनिकों के साथ सहयोग करते थे। खाफी खाँ (भाग २ पृ० ६५३) ने मीर आतश और दरोगा-ए-तोपखाना ए-जिन्सी के बीच में दरोगा-ए-अहशाम का भी जिक्र किया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि 'अहशाम' तोपखाना, और जिन्सी तोपखाना, दोनों से अलग था।

पैदल सेना (इनफैन्ट्री)—जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है, फौज का यह भाग बहुत निम्न-दृष्टि से देखा जाता था और लगभग महत्व हीन था (बर्नियर, पृ० २१६)। १७६० ई० में, मुख्यत: दक्षिण के विषय में लिखते हुए डि ला फ्लोट (पृ० २५८) लिखता है कि '५०,००० की संख्या की पैदल सेना भी २०,००० घुड़सवारों के सामने नहीं टिक पाती था" और भाग खड़ी होती थी। एक अन्य पर्यवेक्षक, ओर्मे (हिस्टारिकल फैगमेन्ट्स, पृ० ४१७) लिखता है कि पैदल सेना केवल व्यक्तियों का झुण्ड था जो बिना किसी क्रम व पद के भीड़ की तरह एकत्रित हो जाया करती थी। कुछ के पास तलवार होती थी, जो किसी घोड़े के धक्के मात्र से टूट सकती थी; कुछ अन्य लोगों के पास बन्दूकें होती थीं जिनसे, आवश्यकता पड़ने पर शायद ही एकाध गोली चलाई जा सकती थी; कुछ लोगों के पास भाले होते जो इतने लम्बे या कमजोर होते थे कि उनका किसी तरह से भी प्रयोग नहीं किया जा सकता था, भले ही ये सैनिक पूर्णतः अनुशासित ही क्यों न रहें। उनके ऊपर बहुत अधिक भरोसा भी नहीं रक्खा जाता था। रात में पहरा देना और अरक्षित लोगों को लूट लेना ही उनका सब से बड़ा कर्तव्य था; वे अपने नायकों की बेगारी में लगे रहते थे; ये नायक एक निश्चित दर पर इन सैनिकों का वेतन देने के लिये धन प्राप्त करते थे, जब कि वे प्रत्येक सैनिक को अलग अलग और कम तनख्वाहों पर नियुक्त करते थे। संक्षेप में फौज का यह भाग अधूरे शस्त्रों से सज्जित एक भीड़ मात्र थी; इनमें से अधिकांश सैनिक छोटे-छोटे जमीन्दारों द्वारा लाए जाते थे, या जंगली जातियों में से होते थे। कोई भी मुसलमान या राजपूत, आत्मसम्मानी होते थे, किसी तरह अपने लिए एक घोड़े का प्रबन्ध करके घुड़सवारों के रूप में नियुक्त होने का प्रयत्न करते थे। 'आईन-ए-अकबरी' में प्रत्येक जिले या सूबे की पैदल सेना की जो संख्या दी हुई है, उस पर आसानी से विश्वास नहीं किया जा सकता। इन संख्याओं पर विश्वास तभी किया जा सकता है जब हम यह मान लें कि ये मुख्यतः

स्थानीय सेवाओं के लिए नियुक्त किए जाते थे; इनमें से अधिकांश पूर्ण रूप से गँवार ही होते थे और अस्त्र-शस्त्र के रूप में उनके पास केवल भाला, तलवार, ढाल या किसी के पास केवल लोहे से बांधी हुई लाठी ही रहती थी।

बर्नियर (पृ० २१७) लिखता है कि ये पैदल सिपाही ही सब से कम तनख्वाह पाते थे "उनमें से कुछ २० रु० कुछ १५ रु० और कुछ सिपाही १० रु० प्रतिमास ही प्राप्त करते हैं।" पृ० २१६ पर वह फिर लिखता है, "मैं कह चुका हूँ कि पैदल सेना की निश्चित संख्या बताना सम्भव नहीं है। यदि बन्दूकचियों और हल्की तोपों से सम्बन्धित सिपाहियों को भी सम्मिलित कर लिया जाय तब भी बादशाह के पास की पैदल सेना की संख्या १५,००० से अधिक नहीं हो सकती। इसी आधार पर सूबों की पैदल सेना की संख्या का भी अनुमान लगाया जा सकता है। बहुत से लोग कहते हैं कि मुगलों की पैदल सेना की संख्या बहुत अधिक थी, परन्तु मैं इसे नहीं मान सकता; हाँ यदि लड़ने वाले सिपाहियों की संख्या में दासों, सेवकों, व्यापारियों और उन सभी बाजारू लोगों को भी सम्मिलित कर लिया जाय जो सेना के पीछे या अगल-बगल केवल कौतुक के लिए चलते थे, तब पैदल सेना की संख्या उतनी अधिक मानी जा सकती है जितनी कि कुछ लेखक बताते हैं। जब बादशाह राजधानी से बाहर कहीं जाता था तो ऐसे पिछलग्गुओं की संख्या ३,००,००० तक हो जाती थी। यह संख्या अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं लगेगी, यदि हम बादशाह के किसी पड़ाव में तम्बुओं, खेमों, बावर्चीखानों, अन्य सामानों, मेज कुर्सियों और औरतों की अगणित संख्या को ध्यान में रखे रहें जो प्रायः बादशाह के साथ चलते थे।

<u>नागा</u>—हिन्दू भक्तों की इस जाति के दल के दल भी १८ वीं शताब्दी में सेनाओं के साथ रहते थे और जहाँ तक मेरा ख्याल है, आज भी राजा जयपुर की सेना में इन नागाओं की पर्याप्त संख्या में नियुक्ति की गई है। अवध में १७५२ से लेकर १८ वीं शताब्दी के अन्त तक इन नागाओं की एक टुकड़ी सेना में थी। इनका आखिरी सरदार राजा हिम्मत बहादुर सिंह था जिसका उल्लेख प्रायः बुन्देलखण्ड और अंग्रेजों के सम्बन्धों का वर्णन करते समय प्रायः किया जाता है (पागसन 'बुन्देलाज' पृ० ११६ २२, फ्रैंकलिन—'जार्ज टामस', पृ० ३६४-३६५)। इस अपवाद के अतिरिक्त, मुगलों की सेना में इन नागाओं वा साधुओं की उपस्थिति का कोई उल्लेख नहीं मिलता, अन्क्वेटिल डुपरन ने 'जेन्द अवेस्ता' में इन सशस्त्र नागाओं के एक दल से मुलाकात होने का वर्णन किया है जिसमें कम से कम ६००० साधू थे जो जगन्नाथ पुरी जा रहे थे। सबसे आगे तीन सरदार या महन्त थे जिनके एक हाथ में एक प्रकार का भाला और दूसरे हाथ में एक छोटी सी ढाल रहती थी। उनके दल का शेष भाग तलवार, धनुष एवं बन्दूकों से सज्जित थे। हाजी मुस्तफा ने पश्चिम बंगाल और पाचेत से होते हुए मछलीपट्टम तक

की अपनी साहसिक यात्रा (१७५८) में गंगासागर की तरफ जाते हुये ५००० नागाओं के एक दल से अपनी भेंट का वर्णन करते हुये, इन नागाओं का वर्णन इस प्रकार किया है। ये सभी नागा लम्बे, तगड़े, अच्छी गठन वाले, लगभग नग्न, परन्तु अच्छी तरह शस्त्र सज्जित होते हैं। "(डेलीरम्पिल—'ओरियंटल रिपर्टरी' भाग २, पृ० २३९)। दौलतरात सिन्धिया के यहाँ नियुक्त, तथा हिम्मत बहादुर के एक चेले (शिष्य) द्वारा संचालित नागाओं के एक दल का वर्णन बाउटन ने 'लेटर्स में किया है। ब्लैकर अपनी पुस्तक 'वार' पृ० २२ में लिखता है कि ये 'गोसाई' अर्थात् नागाओं के "सदैव ही एक अच्छा सैन्य दल समझा जाता है।"

अलीगोल—बाद के वर्षों में हमें फौज की एक और टुकड़ी के अस्तित्व के विषय में प्रमाण मिलते हैं जो कि फ्रेजर ('स्किनर' भाग २ पृ० ७५, ७६) के एक अंश के अनुसार उन 'गाजी' लोगों से ज्यादा मिलते जुलते हैं जिनकी चर्चा प्रायः हमारी अफगानिस्तानी सरहद पर सुनी जाती है। ब्लैकर ने भी 'वार' पृ० २३ में इनका उल्लेख किया है। डब्ल्यू० एच० टोन (पृ० ५०) के अनुसार 'अली गोल नेजिब (नाजिब) की टुकड़ियों में से एक थीं।

सिलहपोश—१७६६ में राजा जयपुर के पास बन्दूक और कटार से सज्जित अंगरक्षकों की १६०० सैनिकों की एक टुकड़ी थी जिन्हें, सम्भवतः कवच आदि धारण किए रहने के कारण सिलहपोश कहा जाता था (फ्रैंकलिन, 'जार्ज टामस' पृ० १६५)।

नाजिब—इस शब्द का शाब्दिक अर्थ 'सभ्य' है; ब्लैकर ('वार' पृ० २२) के अनुसार यह अनियमित सैन्य दल था; इससे सम्बन्धित सरदार व सिपाही वर्दी पहनने से मुक्त रहते थे; शस्त्र के रूप में उनके पास तलवार और बन्दूक आदि की किस्म के ही शस्त्र रहते थे। उन्हें किसी प्रकार की सन्तरी ड्यूटी या पहरेदारी नहीं करनी पड़ती थी; युद्ध में लड़ना तथा बादशाह की सुरक्षा करना ही वे अपना प्रमुख कर्तव्य समझते थे। डब्ल्यू० एच० टोन पृ० ५० पर लिखता है कि नियमित अभ्यास के कारण वे काफी दक्षता और शीघ्रता से अपनी बन्दूकें भरते थे; साथ ही उनकी बन्दूकें भी उस काल की अन्य बन्दूकों की अपेक्षा अधिक मार वाली और सक्षम होती थीं। ये नाजिब मशहूर तलवारबाज भी थे।

कैप्टेन बिलियमूसन (पृ० १२४), १७८० में अवध के नवाब की सेवा में नियुक्त नाजिबों का वर्णन करते हुए कहता है कि वे नीले रंग की जाकिट और पायजामे पहनते थे; उनके सभी शस्त्र (बन्दूक, तलवार, ढाल, कमान, तीर आदि) उनके अपने (निजी) होते थे। किलों की सुरक्षा में वे बहुत दक्ष माने जाते थे, परन्तु घुड़सवारों के तेज हमले का सामना वे नहीं कर सकते थे क्योंकि उनके पास संगीनें नहीं होती थीं; उनके अन्य शस्त्र भी तुरन्त आवश्यकता पड़ने पर काम में नहीं लाए जा सकते थे।

नवाब ने जो फौजी टुकड़ियाँ ईस्ट इन्डिया कम्पनी की बटेलियनों की नकल करके बनाई थीं; वे बिलकुल व्यर्थ थीं, जिन लोगों की बन्दूकों में संगीन होती थी, उनमें गोली के विस्फोट का समुचित प्रबन्ध नहीं रहता था; जो बन्दूकें हर तरह से ठीक होतीं थीं, उनमें चकमक का प्रबन्ध ही नहीं रहता था। जो गोलियाँ उनके पास थीं, वे नमी या समय के प्रभाव से इतनी खराब हो गई थी कि छूते ही उनकी ऊपरी सिरा बाहर निकल जाता था, जब कि बारूद नीचे ही जमी रह जाती थी। नाजिबों की एक बटेलियन, इस प्रकार की ५-६ बटेलियनों को खेल-खेल में हजारों टुकड़ों में काट कर बिछा सकती थी।

पट्टाबाज—१२१२ हि० (१७९७-९८) में लिखी गई 'हुसेन-शाही' के लेखक ने लिखा है कि सिन्धिया के पास कई हजार पट्टाबाज थे; यह "शब्द दक्षिण में साहसी व कुशल तलवारबाजों के लिए प्रयोग किया जाता था।" सम्भव है उनका यह नाम उनकी सीधे ब्लेड वाली तलवार के आधार पर पड़ा हो जिसे पट्टा (सीधी तलवार) कहा जाता था।

ढलैत—इस हिन्दी शब्द (प्लेट्स, पृ० ५७२) का शाब्दिक अर्थ होता है, ढाल रखने वाला। मुझे इस शब्द का प्रयोग तीन लेखकों में मिला है। अशाब ने इसका प्रयोग उन तीन प्यादों (पैदल सिपाहियों) में से एक के लिए किया है जो सय्यद-उद्दीन, मीर आतश के पीछे उस समय चल रहे थे जब वह अपनी इच्छा के विरुद्ध, ११५१ हि० (१७३८) में नादिर शाह के तोपखाने के सेनापति के साथ, कत्ले आम के समय, दिल्ली की सड़कों पर और गलियों में जाने के लिए मजबूर किया गया था। उनके पीछे चलने वाले इस ढलैत से वजीर कमर उद-दीन खाँ के पास एक खत भेजने में सन्देशवाहक या दूत का काम लिया गया था (अशाब)। यह शब्द ही 'तारीख ए-आलमगीर-सानी' और 'तमास-नामा' (मिस्किन द्वारा लिखित) में भी मिलता है।

अमजन—१८ वीं शताब्दी के अन्त में हैदराबाद में, निजाम के पास स्त्री सिपाहियों की दो बटेलियन थी, जिनमें से प्रत्येक में १००० स्त्रियाँ थीं। ये—टुकड़ियां महल के भीतरी भाग की रक्षा करती थीं, और शाही घराने की स्त्रियों के साथ चलती थीं। ये जनानी बटेलियनें १७९५ में, मराठों के साथ हुए युद्ध में निजाम के साथ थीं और कुर्दला के युद्ध में इन स्त्रियों ने निजाम की शेष सेना की अपेक्षा अधिक वीरता का परिचय दिया था। ये स्त्रियाँ हमारी अंग्रेजी सेनाओं के तरह की वर्दी पहनती थीं, और पर्याप्त कुशलता से फ्रासीसियों की तरह परेड और ड्रिल आदि भी करती थीं। इन बटेलियनों को 'जफर-पल्टन' और स्त्री सिपाहियों की गारदनी (गार्ड=गारद, स्त्रीलिंग—गारदनी) कहा जाता था। इन जनानी सिपाहियों को ५ रुपया प्रतिमाह तनख्वाह दी जाती थी (ब्लैकर पृ०

२१३ टिप्पणी) । ऐसा प्रतीत होता है कि निजाम योद्धा स्त्रियों को बहुत पसन्द करता था । मूर ('नैरेटिव' पृ० ११७) लिखता है कि एक बार एक इटेलियन नर्तकी ने अपने नृत्य द्वारा निज़ाम को इतना प्रसन्न कर दिया कि उसने इस नर्तकी को एक खिताब देकर उसे एक पल्टन का नायक बना दिया । इस स्त्री ने कठिन अभ्यास किया और अपने उत्तर-दायित्वपूर्ण पद को भलीभाँति सम्भाल लिया । कुछ समय बाद ही एक विदेशी पुरुष नर्तक निजाम के दरबार में आया, निजाम ने उस के सामने उक्त नर्तकी को दरबार में अपनी कला का प्रदर्शन करने की आज्ञा दी, परन्तु अपने नये पद के सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए, उसने इससे इन्कार कर दिया और जब निजाम ने अधिक दबाव डाला तो उसने अपने पद दे इस्तीफा हे दिया और पूना चली गई ।

सेहबन्दी—लगान वसूलने के लिए स्थानीय हाकिम जिन सशस्त्र व्यक्तियों को नियुक्त करते थे उन्हें सेहबन्दी कहा जाता था (दस्तूर-उल-अम्ल) । सर आर० सी० टेम्पुल ने अन्डमान सिकन्दी कार्प्स पर लिखे गये एक लेख ('कलकत्ता रिव्यू', अक्टूबर १८९६, पृ० ४०६) में इस शब्द के विषय में अपना मत प्रकट किया है । उसके अनुसार यह शब्द मद्रास से आँग्ल-भारतीय प्रयोग में आया, प्रारम्भ में उत्तरी भारत में यह शब्द प्रचलित नहीं था । दानिशमन्द खाँ ('बहादुर शाह नामा') ने भी इस शब्द का प्रयोग स्थानीय मालगुजारी वसूलने वालों के लिए ही किया है । ९३२ हि० में बाबर ने भी अपने संस्मरण में इस शब्द का प्रयोग इब्राहीम लोदी द्वारा वसूल किए जाने वाले लगान के सम्बन्ध में किया है (बाबरनामा पृ० १७४) । पी० डी० कर्टोल (भाग २, पृ० १६३) ने सम्भवतः भूलवश इसके बदले में 'बेधिन्दी' लिख दिया है ।

बरकन्दाज—इसका शाब्दिक अर्थ है बिजली गिराने वाला (बर्क=बिजली, अन्दाज=फेकना, फेकनेवाला) । यह शब्द सामान्यतः साधारण बन्दूकधारी पैदल सिपाही के लिये प्रयोग किया जाता था, परन्तु मुगलों के प्रारम्भिक काल के किसी भी लेखक ने सम्भवतः इस शब्द का प्रयोग साधारणतः नहीं किया है । १४७ हि० में लिखे गये 'अह-वाल-ए-खबाकीन' में शायद पहली बार बन्दूकची के लिये इस शब्द का प्रयोग हुआ है ।

बन्दूकची : तनख्वाह की दर—नीचे की तालिका में विभिन्न श्रेणी के बन्दूकचियों की तनख्वाह की दर दिखाई गई है । यह माना जा सकता है कि बन्दूकधारी घुड़सवार अफसरों की श्रेणी में आते थे । सर्वप्रथम उन सिपाहियों के वेतन का विवरण दिया गया है जिन्हें 'बन्दूकची-ए-जंगी' या 'तुफंगची' कहा जाता था, इस श्रेणी में या तो बक्सरिया थे या बुन्देला । इनमें से कुछ लोगों को विशेष दरों पर तनख्वाहें मिलती थीं, और उनके इस विशेष दर से तनख्वाह पाने के समय से उनका नाम सरकारी डायरी में लिख लिया जाता था । अन्य सिपाहियों को जिस सामान्य दर पर तनख्वाह मिलती थी, वह इस प्रकार है :—

श्रेणी	पद या ओहदा	कादिमी (पुराने)	जदीदी (नये)	
सवार	हजारी दुस्पह(दोघोड़े)	४५रु०, ४०रु०, ३२रु०	४०रु०, ३५रु०	
	,, एक स्पह(१घोड़ा)	२२रु०, २०रु०	२०रु०, १७½रु०	
पियादा (पैदल)	सदीवाल	९ रु०	८ रु०	
	मिरदह	८ रु०	७ रु०	
	सायर (शेष)	६रु०, ५½रु०, ५रु०	६½ रु०	नकद ६ रु० और शेष ८ आना जागीर से

इस प्रकार बाद में मिरदो की तनख्वाह पूर्व निश्चित तनख्वाह की अपेक्षा बढ़ गई थी और साधारण सिपाहियों की तनख्वाह पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई थी।

ऊपर की तालिका में कुछ ऐसे शब्द आये हैं जिनकी व्याख्या करना आवश्यक प्रतीत होता है।

बक्सरिया—यह एक विचित्र शब्द है जो सम्भवतः भोजपुर-क्षेत्र में गंगा नदी के तट पर बसे हुये नगर, बक्सर से सम्बन्धित है। यह क्षेत्र अब भी अपने वीर राजपूतों और भूमिहारों के लिए प्रसिद्ध है जो प्रायः बंगाली जमीन्दारों और कलकत्ता में रईसों के घरों में रक्षकों के रूप में कार्य करते हैं, हमारी (अंग्रेजी) हिन्दुस्तानी रेजिमेन्टों में भी इन दोनों वर्गों के बहुत से बहादुर जवान भरे हुए हैं। १८ वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९ वीं शताब्दी के मध्य तक अवध के साथ भोजपुर क्षेत्र की हमारी बंगाल की देशी सेना के लिये जवानों की पूर्ति करता रहा है। जब कम्पनी ने इन देशी सेनाओं का संगठन प्रारम्भ किया, इन क्षेत्रों के जवानों ने कुशलता की दृष्टि से तुरन्त ही अंग्रेजी सिपाहियों का स्तर प्राप्त कर लिया क्योंकि अंग्रेजों के आने से पहले ही, कई पीढ़ी पहले से ये राजपूत और भूमिहार मुगलों की सेनाओं में बन्दूकचियों और तोपचियों का कार्य करते रहे थे। जब १७५६ में सिराज-उद-दीन ने कलकत्ता के खिलाफ आक्रमण रुख अपनाया तो प्रतिरक्षात्मक तैयारियों के अन्तर्गत 'इन बक्सरीज' (बक्सरियों) या हिन्दूस्तानी बन्दूकचियों की संख्या बढ़ाकर १५०० कर दी गई," (ओर्मे, 'मिलिटरी ट्रांजैक्शन' भाग २, पृ० ५९)। जे० जेड० हालवेल ('इन्डिया टैक्ट्स' तीसरा एडीशन, १७०४) ने ग्लासरी में बक्सरिया की व्याख्या इस प्रकार की है : "बक्सरिया—पैदल सिपाही (प्यादा) जिनके प्रमुख अस्त्र तलवार और बन्दूक हैं।"

सामान्यतः इन फौजी बक्सरिया जवानों का सम्बन्ध बिहार प्रान्त के बक्सर नगर से जोड़ा जाता था और अधिकांश लोगों द्वारा यह सम्बन्ध स्वीकृत भी किया जाता था।

राय छत्रमणि द्वारा लिखित 'चार गुलशन' में जब लेखक बक्सर का उल्लेख करता है, तो यह भी लिखता है कि यह ''बक्सरिया लोगों की आदि जन्म भूमि है (अस्ल-वतन-ए-बक्सरिया है)।'' यह एक विचित्र बात है कि इन लोगों का नाम सूबे या क्षेत्र के नाम पर न पड़कर एक नगर के नाम के आधार पर पड़ा। आजकल इन लोगों को बक्सरिया के बदले भोजपुरी कहा जाता है। १८ वीं शताब्दी के अधिकांश इतिहास लेखकों ने किले के तोपखाने से सम्बन्धित सैनिकों के लिए 'बक्सरिया' शब्द ही प्रयोग किया है।

बुन्देला—इन बुन्देलों का क्षेत्र जमुना नदी के दक्षिण और बेतवा नदी के पूर्व में पड़ता है (जे० रेनेल—''मेम्वायर आव ए मैप······'' पृ० २३४, लेकिन उत्तरी सीमा के लिए इसमें गंगा नदी का उल्लेख है, इसे जमुना नदी होना चाहिए)। ऊपर की तालिका में उनके उल्लेख से प्रकट होता है कि पहले वे सामान्य कोटि की पैदल सेना में, प्रायः बन्दूकचियों के तौर पर नियुक्त किए जाते थे। वे सदैव ही अपनी वीरता के लिए विख्यात रहे। अन्त में, उनकी जाति के सरदार, ओड़छा के राजा के उत्कर्ष के कारण तथा धंगिया रियासत के विकास के कारण (जिसे कि चम्पतराय ने बसाया था, और जिसके क्षेत्र एवं सम्मान को उसके वीर बेटे छत्रसाल ने और अधिक बढ़ा दिया था) इन बुन्देलों की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण हो गई। १८ वीं शताब्दी के घटना क्रम में बुन्देलों ने महत्वपूर्ण भाग लिया, प्रारम्भ में तो वे मुगलों की तरफ से लड़े, पर कुछ ही समय बाद, छत्रसाल के नेतृत्व में उन्होंने मुगलों के खिलाफ लड़ाई छेड़ दिया था।

अरब—बाद के समय में, दक्षिण में सबसे अच्छी पैदल सेना अरबों की थी जो अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक तनख्वाह पाते थे। ये अरब प्रति माह १२ रु० तनख्वाह पाते थे जब कि उस काल की निम्नतम तनख्वाह ५ रुपए मात्र थी। इन अरबों पर, सुरक्षा की दृष्टि से, एवं विशेष कर किले की दीवारों की सुरक्षा के लिए पूर्णतः निर्भर रहा जा सकता था (ब्लैकर 'वार' पृ० २१)।

इन लोगों के अतिरिक्त 'अहशाम' में भील, मेवाती, कर्नाटकी और मुगल आदि सम्मिलित थे (ब्रि० म्यू० संख्या १६४१)। भील और कर्नाटकी लोगों के वर्णन के लिए देखिए (खुशहाल चन्द बर्लिन मन्सक्रिप्ट संख्या ४६५)।

गोलन्दाज, देशन्दाज, बान दार (अग्निबाण-चालक) भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किए गए हैं पर मैं इनका वर्णन तोपखाने वाले अध्याय में ही कर चुका हूँ। अब्दुल्ला खाँ के साथ हुई किसी लड़ाई का वर्णन करते हुए खुशहाल चन्द (बर्लिन मन्स० ४६५) ने कुछ सिपाहियों का उल्लेख किया है जिनमें से कुछ लाल और कुछ पीली वर्दियां पहने हुए थे और बादशाह के बिल्कुल समीप थे। इन सिपाहियों के लिए

उसने 'कुर्कची' शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द अन्य हिन्दुस्तानी लेखकों द्वारा प्रयोग में नहीं लाया गया है। स्टीनगैस ने इसका अर्थ दिया है, "जनान खाने का संतरी"।

भील—ये जंगली जाति के लोग थे और इनका आदि स्थान अजमेर और गुजरात के बीच का क्षेत्र है। १८ वीं शताब्दी के एक लेखक आनन्द राम मुखलिस (मीरात-उल-इस्विल) के वर्णन के अनुसार अपने क्षेत्र में ये भील बहुत भयानक डाकू एवं कुशल शिकारी माने जाते थे, और वे वस्त्रों के स्थान पर पत्तियों से अपना शरीर ढंकते थे। उनका प्रधान अस्त्र था बाँस का बना हुआ लम्बा धनुष, जब वे बादशाह की खिदमत में आए तो अपना अस्त्र, (जिसे वे कमन्ठ कहते थे) भी अपने साथ ही लेते आए। 'कमन्ठ' का वर्णन पीछे किया जा चुका है।

मेवाती—इन लोगों को 'तीरन्दाज' (धनुर्धर) कहा जाता था। मेवात एक पहाड़ी क्षेत्र है जो दिल्ली और आगरा के बीच स्थित है (जे० रेनेल 'मेम्वायर') इस क्षेत्र के निवासियों को 'मेव' कहा जाता है। 'आईन' (भाग १, पृ० २५२) में मेवात के निवासियों के लिए 'मेवड़ा' शब्द का प्रयोग किया गया है और इनका कार्य बताया गया है जासूसी और सन्देश वाहन। परन्तु १८ वीं शताब्दी में न तो उन्हें मेवड़ा ही कहा जाता था और नही वे खुफियागीरी या सन्देश वाहन का कार्य करते थे यद्यपि उस समय तक सन्देश वाहकों के लिए मेवड़ों शब्द जाति सूचक न होकर कार्य सूचक विशेषण हो गया था। मेवात क्षेत्र के आधार पर वहां के निवासियों को मेवाती कहा जाता है। ये अब मुसलमान बन गए हैं, और अंग्रेजी काल तक ये विद्रोहियों के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। मथुरा होते हुए आगरा से दिल्ली तक का मार्ग इन मेवातियों के उपद्रवों के कारण बहुत अरक्षित हो गया था। इस मार्ग पर लोग या तो बड़े दलों के साथ या सशस्त्र आदमियों के साथ यात्रा करते थे। यार मुहम्मद ने 'दस्तूर उल-इन्शा' में १७१० ई० की परिस्थिति का बहुत अच्छा विवरण दिया है (पृ० १३०,१३१)। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के प्रतिनिधि सर जान सर मैन को, जून १७१५ में दिल्ली जाते समय, आगरा में (जैसा कि वह स्वयं लिखता है) मजबूरन किराए पर कुछ सशस्त्र आदमियों को अपने साथ लेकर जाना पड़ा था, क्यों वह, अपने दल के साथ, अपनी सुरक्षा के लिए बहुत सशंकित था (ओर्मे कलेक्शन्स, पृ० १६६४, तारीख ८ जून के अन्तर्गत)।

कर्नाटकी—ये लोग अवश्य ही दक्षिणी भारत के निवासी रहे होंगे। मुगलों के समय में तुंगभद्रा नदी के दक्षिण के सारे प्रायद्वीपीय क्षेत्र (अदोनी को छोड़कर) को कर्नाटक कहा जाता था (जे० रेनेल, "मेम्वायर" पृ० २०)। मैं समझता हूँ कि मुगल

सेना के कर्नाटकी सिपाही उन सिपाहियों की तरह थे जो दक्षिण में हमारी (अंग्रेजों की) पहली पल्टन में सम्मिलित हुए थे। उत्तरी भारत में इन्हें तेलंग (तेलगू क्षेत्र के निवासी) कहा जाता है। इस बटेलियन के सिपाही पहली बार कलकत्ता की स्थिति पर काबू पाने के लिए १७५७ में क्लाइब के साथ उत्तरी भारत में आए थे। डिला फ्लोट ने जो कि दक्षिणी भारत में दो वर्ष (१७५८–६०) तक रहा—लिखा है कि "पैदल सेना के सिपाही अपने सिरों पर चावल की गठरी और पकाने के बर्तन लेकर चलते थे, जब कि उनकी तलवार तथा अन्य शस्त्र उनकी स्त्रियाँ लेकर उनके साथ चलती थीं। उनके पास एक बहुत लम्बी और वजनी बन्दूक भी रहती थी, इस बन्दूक को कैटोक (वर्णन पीछे किया जा चुका है) कहते थे। इन सिपाहियों के साथ उनका परिवार भी चलता था।"

काला पियादा—कामवर खाँ (रायल एशियाटिक सोसाईटी की पाण्डुलिपि, मोर्ले कैटलाग नं० ६७) ने निजाम-उल्क के विरुद्ध ऊपर हमला करने वाली, हैदराबाद के सूबेदार मुबारिज खाँ की फौज का वर्णन करते हुए लिखा है कि इस फौज में दक्षिण के ३०,००० बन्दूकची थे जिन्हें 'काला पियादा' कहा जाता था। यदि ये पूरी तौर पर नही, तो कुछ मानों में अवश्य कर्नाटकी सिपाहियो की तरह थे।

रावत—साधारणतः यह शब्द उत्तरी भारत में ऐसे सम्पन्न हिन्दू कृषकों को कहते थे जो बहुत ऊँची जाति के नहीं होते थे। मुस्लिम लेखकों ने प्रायः पूरी मराठा सेनाओं के लिए इस शब्द का प्रयोग किया है। मराठों की सेना में अधिकांश सिपाही कुनबी जाति के थे। रावत की उपरोक्त व्याख्या के अनुसार यह शब्द कुनबियों पर पर्याप्त उचित ढंग से लागू किया जा सकता है। 'हुसेन शाही' के लेखक ने इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग १७६०–६१ में सिन्धिया पटेल की सेना के १२००० सिपाहियों के लिए किया है।

बर्गी—मराठा सैनिकों का वर्णन करते समय कुछ लेखकों ने बर्गी शब्द का भी प्रयोग किया है। इस शब्द के अन्यत्र प्रयोगों के लिए देखिए 'म-आसिर-उल-उमरा' भाग ३, पृ० ७४०, जे० शेक्सपियर, 'डिक्शनरी', पृ० ३१६, ग्रान्ट डफ; पृ० ३७१ इस शब्द के विषय में मेरी विशेष जानकारी नहीं है।

मुगल—मैं इस बात का कोई कारण नहीं दे सकता कि पैदल सेना की सूची में मुगलों का नाम कैसे आ गया। जो भी हो यह बात बड़ी विचित्र सी लगती है कि पैदल सेना में सिपाहीगीरी जैसा छोटा काम करना मुगलों को गवारा कैसे हुआ।

फरंगी या फिरंगी—ये सम्भवतः यूरोपियन थे जो साधारण सिपाही की हैसियत से मुगल सेना में नौकरी करते थे। ये सम्भवतः देशी ईसाई या पुर्तगाली थे जो या तो गोआ से या गंगा और ब्रह्म पुत्र नदियों के मुहानें पर बसी हुई पुर्तगाली बस्तियों के

निवासी थे। उनमें से कुछ सूरत और खम्भात से भागे हुए जहाजी भी थे। ये आदमी मुख्यतः तोपखाने में नौकरी करते थे। अशाब ने लिखा है कि १७३९ तक भी फ्रेंच लोग मुगल सेना में नौकरी करते थे। ये सभी फ्रान्सीसी थे जो शल्य-चिकित्सक, हड्डियों को ठीक करने वाले (शिकस्त बन्द) या चिकित्सक थे। उनमें से दो व्यक्ति फरंगी खाँ और फराशीश खाँ अमीर (सामन्त) माने जाते थे और उसी दर पर तनख्वाह भी पाते थे। ये यूरोपियन काली पहाड़ के नीचे, काबुल फाटक के पास फरंगीपुर नामक एक बस्ती में रहते थे। उन्होंने एक बार नादिर शाह के कुछ नसक्ची (मिलिटरी पुलिस) लोगों को मार डाला था, इसलिए उनकी इस बस्ती का नामो-निशान तक मिटा डाला गया था।

तनख्वाह—उपरोक्त लोगों के तनख्वाह की दर नीचे दी गई हैं (ब्रि० म्यू० संख्या १६४१)। 'सायर' शब्द, डेवी और हवाइट ('इन्स्टीट्यूट्स आफ तैमूर') के आधार पर साधारण सिपाहियों के अर्थ में लिया जा सकता है।

नाम	सवार		पियादा			विशेष विवरण
	हजारी दुस्पह	सदीवाल यकस्पह	सदीवाल	मिरदह	सायर	
	रुपया	रुपया	रुपया	रु.आ.पा.	रु.आ.पा.	
भील	५२	२६	१०	८-१२-०	६-४-०	पहले ये राशन पाते थे, नकद वेतन नहीं।
मेवाती	५०	२५	—	४-८-०	४-०-०	इन्हें अलग से राशन मिलता था।
,,	—	—	८	६-०-०	५-०-०	राशन नहीं मिलता था।
कर्नाटकी	५०	२५	८	७-०-०	५-०-०	
,,	—	—	—	६-०-०	४-८-०	
मुगल	—	—	—	८-०-०	७-०-०	
,,	—	—	—	—	६-८-०	
फिरंगी	—	शाहीहुकम के अनुसार	८	६-४-०	६-०-०	
,,	—		—	—	५-१२-०	
,,	—	—	—	—	५-८-०	
,,	—	—	—	—	५-४-०	

बर्नियर (पृ० २१७) के अनुसार पियादों (पैदल सिपाहियों) की तनख्वाह २० रु० १५ रु० और १० रु० और फरंगियों की तनख्वाह २२ रु० प्रति-माह थी।

ऊपर की सूची में जिन लोगों को राशन मिलता था, उनके राशन की मात्रा इस प्रकार थी—आटा (आरद) १¼ सेर, दाल ¾ सेर, नमक—एक 'दाम' का ¾ भाग, घी (रोगन-ए-जर्द) २ 'दाम'।

कारीगर—या पैदल सेना में सम्मिलित अन्य लोग—इन बचे लोगों में से अधिकांश कारीगर, मिस्त्री और मजदूर आदि थे जिन्हें मुश्किल से ही सैनिक माना जा सकता है, वास्तव में वे फौज की छावनी के साथ चलते थे, यद्यपि यह सम्भव हो सकता है कि वे अपनी सुरक्षा के लिए अपने साथ अस्त्र-शस्त्र भी ले जाते रहे हों। 'बेलदारों' का काम था खराब सड़कों को ठीक करके उपयोगी बनाना, (हार्न पृ० २४, 'आलमगीरनामा' पृ० ६५३)। वे प्रायः तोपों की सुरक्षा के लिए खाइयाँ भी बनाते थे। बढ़इयों और कुल्हाड़े वालों का कार्य था जंगलों को काटकर सड़कें बनाना और महत्वपूर्ण मोर्चे बनाना। सेना में नियुक्त कुछ अन्य वर्ग के लोगों का कार्य पर्याप्त स्पष्ट है, जब कि कुछ अन्य लोगों का कार्य स्पष्टतः समझ में नहीं आता। डाक्टर हार्न (पृ० २४) ने 'बेलदार' का अर्थ 'बीलट्रेजर' दिया है जिसका मतलब, मेरी समझ से कुल्हाड़े वालों से है। परन्तु 'बेल' का अर्थ फावड़ा, कुदाल या बेलचा होता है, और इस प्रकार 'बेलदार' का अर्थ हुआ—जमीन खोदने वाला या फावड़ा चलाने वाला हुआ।

नीचे की तालिका में इन कारीगरों के वर्गों का नाम और उनकी तनख्वाह दी गई है (ब्रि० म्यू० सं० १६४१) इनमें से कई शब्दों का अर्थ मेरी समझ में नहीं आया।

नाम	श्रेणी		विशेष विवरण
फारसी	सवार यकस्पह	पियादा	
	रुपयों में	रुपयों में	
(१) कहर्दह तूरानी	४०	१४, ११, ७ रु०	
(२) ,, हिन्दुस्तानी	अदेशानुसार	८, ७, ६, ५½ रु०	
(३) ,,	,,	१५ रु०	
(४) नज्जर (बढ़ई)	,,	८, ७, ५ रु०	
(५) बसली	—	१० रु०	अस्त्र शस्त्र बनाने वाले बसली, लोहे की टोप (स्टीनगैस पृ० १८७)।
(६) आहनगर (लोहार)	—	६½, ६¼, ६ रु०	मुसूफी (दुहरा ?) ६¾ रु०

नाम	श्रेणी		विशेष विवरण
फारसी	सवार यकस्पह	पियादा	
(७) धून (धुनिया)	—	६ रु०	
(८) बदह	—	६, ५ रु०	
(६) सहल्की	—	८, ७ रु०	
(१०) खोर बहलिया	—	कादिम, ६ रुपया सामान्यतः ८,७,रु०	
(११) संग-तराश (पत्थर का मिस्त्री)	—	८, ७, ६ रु०	
(१२) मोची	—	८ रु०	
(१३) आतशबाज	—	७, ६, ५ रु०	
(१४) खराती	—	७ रु०	
(१५) आराकश (लकड़ी चीरने वाले)	—	६ रु०	
(१६) बेलदार	—	—	
(१७) नक्ब-कुन (खान खोदने वाले)	२०, ७	$४\frac{3}{4}$, $४\frac{1}{2}$; ४ रु०	
(१८) तब्रदार (कुल्हाड़े वाले)	—	मिरदहा $५\frac{1}{2}$ रु०	
(१६) सालोतूरी (घोड़ों का चिकित्सक).	१५	साधारण $४\frac{1}{4}$ रु०	

———

चौदहवाँ अध्याय

हाथी

हार्न (पृ० ५१, ५६) ने अपने वर्णन में हाथियों को लड़ाकू फौज का एक महत्वपूर्ण अंग माना है, परन्तु मुगल वंश के पतन के बहुत पहले से ही हाथियों को एक बोझ या प्रदर्शन की सामग्री भर माना जाने लगा था और लड़ाइयों में उनका भाग लगभग महत्वहीन हो गया था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अकबर के शासन काल में युद्ध क्षेत्र में हाथियों का पर्याप्त संख्या में प्रयोग किया जाता था (हार्न, पृ० ५१, ५२, ५३)। उस काल में ये हाथी तोपों और तीरन्दाजों (धनुर्धरों) को युद्ध-क्षेत्र में ले जाते थे। परन्तु लगता है कि शीघ्र ही हाथियों से यह कार्य लेना भी समाप्त कर दिया गया। फिर भी ११३१ हि० (नवम्बर दिसम्बर १७१८) और मुहर्रम, ११३३ हि० (नवम्बर १७२०) तक हाथियों द्वारा छोटी तोपों के ढोए जाने का वर्णन मिलता है। जब सैय्यद हुसेन अली खाँ ने दक्षिण से लौटते हुए फिर दिल्ली में प्रवेश किया तो उसके पास चालीस हाथी थे जिनमें से प्रत्येक पर दो सिपाही और दो गजनालें (हल्की तोपें) लदी हुई थीं (जौहर ए-समसाम फुलर का अनुवाद)। एक और उदाहरण लीजिए; जब हसनपुर की लड़ाई में अब्दुल्ला खाँ, कुतुव उल-मुल्क को बन्दी बनाया गया तो उसे एक गजनाल लादे हुए हाथी पर बैठा कर मुहम्मद शाह के सामने कैदी के रूप में पेश किया गया था (जौहर-ए-समसाम)।

मुगल काल के अन्त तक प्रतिरक्षात्मक सज्जा से सुरक्षित कुछ हाथी युद्ध-क्षेत्र में लाए जाते थे। परन्तु प्रायः उन पर अमीर उमरा ही, अपनी शान और रुतबे का प्रदर्शन करने के लिए बैठते थे। हरम (जनानखाना) के साथ-साथ सामान से लदे हुए हाथी फौज के पिछले भाग में रहते थे; औरते भी हाथियों के हौदों पर ही रहती थी और लड़ाई के समय एक बहादुर टुकड़ी उनकी रक्षा के लिए तैनात रहती थी।

लड़ाई के अवसरों पर हाथियों को प्रतिरक्षात्मक साज सामानों से सज्जित किया जाता था जिसे 'पाखर' (आईन, भाग १ पृ. १२६, नं० २१) कहा जाता था। यह कवच आदि इस्पात के बने होते थे और सिर तथा सूंड़ को पूर्णतः बचाने के लिए कई अलग-अलग टुकड़ों के रूप में होते थे। 'अहवाल-ए-खवाकीन' में मुझे एक

स्थान पर पाखर से सज्जित हाथी के लिए 'बरगुस्तुबान पोश' शब्द का प्रयोग किया गया है। गुलाम अली खाँ ('मुकद्दमा') ने हाथी के सामान्य प्रतिरक्षात्मक सज्जा के लिए 'काजिम' लिखा है और उसके अनुसार 'बरगुस्तुवान', हाथी को लड़ाई के मैदान में ले जाते समय हाथी की सूंड़ की रक्षा के लिए पहनाया जाता था। हाथियों की रक्षा के लिए प्रयोग की जाने वाली अन्य सज्जाओं का विस्तृत विवरण 'आईन' (भाग १, पृ. १२५-३०) में देख जा सकता है। अपनी साज सज्जा के अतिरिक्त, युद्ध क्षेत्र में जाते समय इस्पात आदि से बना हुआ एक तरह का हौदा जिसकी चारों तरफ की दीवालों की ऊँचाई लगभग ३ फीट ऊँची होती थी, भी हाथियों की पीठ पर रक्खा जाता था। इस हौदे को 'इमारी' कहा जाता था। इन हौदों पर प्रायः शाहजादे या अमीर उमरा ही बैठते थे और हौदे के चौतरफा घेरे के कारण कन्धे और सिर के अतिरिक्त शेष पूरा शरीर सुरक्षित रहता था (मीरात-उल-इस्तिला)। हाजी मुस्तफा ('सीर' भाग १ पृ० ३०१, टिप्पणी १४०) के अनुसार 'इमारी' और हौदा अलग अलग चीज है इमारी में ऊपर से छाया के लिए छतरीनुमा वस्त्र लगा रहता है और उसका प्रयोग यात्रा में या विशेष शाही जलूसों में होता हैं; दूसरे (हौदे) में ऊपर की छतरी नुमा खोल नहीं रहती और इसका प्रयोग मुख्यतः युद्ध-क्षेत्र में होता है। अन्य स्थानों (भाग १, पृ० ३३, भाग १, पृ० ३३७) पर वह लिखता है "हौदा लोहे की पत्तियों से जड़े हुए सीधे पटरों का बना होता है; इसका आकार अष्टभुजाकार होता है और दीवालें १८ इंच ऊँची होती हैं। युद्ध के समय इन दीवालों की ऊँचाई दो फीट तक कर दी जाती थी और तब उन पर इस्पात या पीतल की खोल जड़ दी जाती थी। इसके दो असमान भाग होते थे; आगे वाले भाग में एक आदमी आराम से तकिए आदि के सहारे बैठ सकता था, जरूरत पड़ने पर दो आदमी भी बैठ सकते थे। पिछले भाग में एक व्यक्ति ही बैठ सकता था और वह भी आराम से नहीं।" वह आगे लिखता है कि "जब इस पर ऊपर की ओर 'छतरी' लगा दी जाती है तो इसे 'अमरी' कहते हैं और इस दशा में युद्ध क्षेत्र में इसका प्रयोग नहीं होता।" यह आखिरी अंश स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि सभी इतिहास लेखकों ने युद्ध-क्षेत्र में प्रयोग किए जाने वाले हौदे को 'इमारी' ही लिखा है। मूर ('नैरेटिव', ग्लासरी) के अनुसार छतरीदार आसन को अमरा और जिस पर ऊपर की छतरी नहीं होती थी उसे हौदा कहते थे। 'यह (छतरी या सायबान) प्रायः यूरोप के बने हुए लाल वस्त्र की बनी हुई होती है और इस पर सुन्दर काम किया रहता है। कभी-कभी इस छतरी की चोटी पर सुनहला या रुपहला कलश रक्खा रहता है; मुसलमान इसके बदले में अर्द्ध चन्द्र का चिन्ह रखते हैं।

सेनापति और नायक आदि प्रायः हाथियों पर ही बैठते थे जिससे कि वह काफी

दूरी से भी, अपने सैनिकों द्वारा देखे जा सकें; इसका कारण यह था कि उस समय हार जीत का निर्णय सेनापति के जीवन मरण पर ही निर्भर रहता था, यदि सेनापति मारा जाता था या नजर से ओझल हो जाता था—तो सेना हिम्मत हार कर युद्ध बन्द कर देती थी और सैनिक भी थोड़े ही समय में भाग खड़े होते थे। हिन्दुस्तान में सेनापतियों के हाथियों पर बैठने की इस रीति पर नादिर-शाह ने बहुत आश्चर्य प्रकटकिया था, "यह कौन अजीबो गरीब रिवाज है जिसे हिन्द के शाहों ने अख्तियार किया है लड़ाई के समय वे हाथी पर चढ़ जाते हैं और सभी के लक्ष्य-केन्द्र बन जाते हैं ('मलाहत-ए-मकाल' लेखक राव दलपति सिंह)। लगता है कि नादिरशाह द्वारा की गई इस व्यंग्य पूर्ण आलोचना के औचित्य को लोगों ने महसूस किया था; क्योंकि, जैसा कि मिस्किन के वर्णन से ज्ञात होता है, लाहौर के सूबेदार मुईन उल मुल्क (१७४८-५४) में एक बार कहा था कि अपने सैनिकों के बीच हाथी पर बैठा हुआ सेना नायक एक बन्दी के समान होता है और सदैव शत्रु का लक्ष्य केन्द्र बना रहता है।" दूसरी बार उसने अहमद दुर्रानी से लड़ने का इरादा किया तो अपने लिए उसने घोड़ा ही चुना। अन्य कई तरह से भी, हाथी लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुँचाते थे। घायल हो जाने पर वे स्वभावतः अनियंत्रित हो जाते थे और अपनी पूरी गति से भाग खड़े होते थे। उदाहरण के लिए ११२४ हि० (मार्च १७१२) में लाहौर के पास एक लड़ाई में एक हाथी, बहादुरशाह के लड़के अजीम-उश-शान को लिए दिए भाग खड़ा हुआ और ऊँचे कगार पर से रावी नदी में कूद पड़ा और डूब गया; अभागा, घायल शाहजादा भी साथ ही डूब गया।

किलों के फाटक को तोड़ने के लिए भी हाथियों का प्रयोग किया जाता था। इसी वजह से किलों के फाटक इस्पात की चद्दरों और कीलों से जड़े होते थे। इन भयानक कीलों से हाथियों को बचाने के लिए, हाथियों के सिर और माथे इस्पात की चादरों से ढके जाते थे। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण अरकाट पर १७५१ में हुए हमले के समय मिलता है "जब कि हमला करने वाली सेना के आगे आगे कई हाथी थे जिनके माथे पर इस्पात की विशाल चादरें बँधी हुई थीं ताकि वे फाटक को तोड़ कर गिरा सकें। परन्तु बन्दूकों की गोलियों से घायल होकर हाथी पीछे मुड़ गए और पीछे आ रहे सैनिकों को कुचलते हुए भाग खड़े हुए" (ओर्मे 'मिलिटरी ट्रांजेक्शन्स' भाग १, पृ० १६४)।

अकबर के समय में, जिस हाथी पर स्वयं बादशाह सवारी करता था, उसे 'खास' (विशेष) कहते थे, शेष सभी हाथी १०, २० या ३० के दलों में बँटे रहते थे; इन दलों को 'हल्क' (घेरा) कहा जाता था। बाद के शासन-कालों में भी यही वर्गीकरण साधारण अन्तर के साथ प्रचलित रहा—सवारी में प्रयोग किए जाने वाले सभी हाथियों को 'खास' और सामान ढोने वाले हाथियों को 'हल्क' कहा जाता था (ब्रि० म्यू० सं०

१६९०)। ७०७० से लेकर ५०० जात तक के प्रत्येक मन्सबदार को एक सवारी का हाथी और पाँच सामान ढोने वाले हाथियों को रखना पड़ता था, प्रत्येक हाथी के लिए उन्हें अलग से एक लाख दाम भत्ता मिलता था। जहाँ तक इस नियम के विषय में मेरी जानकारी है उसके अनुसार ये हाथी बादशाह के अधिकार के अन्तर्गत रहते थे और मन्सबदारों को इन हाथियों से काम लेने की इजाजत भी नहीं दी जाती थी। इस नियम को उत्पत्ति सम्भवतः 'आईन' भाग १, पृ० १२६, १३० के उस बयान से हुई जहाँ अबुल-फजल लिखता है कि अकबर ने 'प्रत्येक अमीर के अधिकार के अन्तर्गत कई हल्के (१०, २० या ३० हाथियों के दल) रख दिए थे और इन हाथियों की देख रेख उस अमीर को ही क नी पड़ती थी।" अकबर के समय में हाथियों के चारे का प्रबन्ध साम्राज्य द्वारा ही किया जाता था। इस (खुराक-ए-दवाब के) सम्बन्ध में मैं तनख्वाह वाले (दूसरे(अध्याय में पहले ही लिख चुका हूं।

फौज में हाथियों के प्रयोग के विषय में जो क्रम बद्ध वर्णन अरमन्डी ने अपनी पुस्तक में दिया है वह पूर्णतः ग्रीक तथा रोमन लोगों द्वारा हाथियों के प्रयोग पर आधारित है। मुगल काल में हाथियों के प्रयोग के विषय में, इस पुस्तक में केवल पन्द्रह पृष्ठ लिखे गए हैं। इस विषय पर एक और पुस्तक लिखी गई है "हिस्टारिकल रिसर्चेज आफ द वार्स एण्ड स्पोर्ट्स आफ द मंगोलस एण्ड रोमन्स" जिसके लेखक जान रैंकिंग जो हिन्दुस्तान और रूस में २० वर्ष से ऊपर रह चुके हैं।" साइबेरिया, भारत और ग्रेट ब्रिटेन के सम्बन्ध में वर्णन.करने वाले इस लम्बे लेख का उद्देश्य सम्भवतः केवल यही. सिद्ध करता है कि यूरोप में पाए गए हाथियों की हड्डियों के अवशेष उन हाथियों के हैं जिनका प्रयोग रोमन और मुगल लोगों द्वारा लड़ाइयों या खेलों में किया जाता था। इस पुस्तक के ६० पृष्ठ तैमूर की एक जीवनी के आधार पर लिखे गए हैं। सम्भवतः इसमें हाथियों के विषय में लिखे हुए केवल १० पृष्ट (पृ० ४४०-४५०) सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। 'हिन्दुस्तान में बीस वर्ष से ऊपर' रहने के बावजूद भी, रैंकिंग की समझ में 'जंजीर' शब्द शायद पूर्ण रूप से नहीं आया। वह अपनी भूमिका के १२ वें पृ० पर लिखता है: "एशियाई इतिहासों में प्रायः जंजीर वाले हाथियों (चेन एलीफैन्ट्स) का उल्लेख की मिलता है, जिसका अर्थ होता है—युद्ध के लिए प्रशिक्षित हाथी, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि उन्हें इस नाम (चेन एलीफेन्ट्स) से क्यों पुकारा जाता था।" रैंकिंग द्वारा की गई गलती का कारण स्पष्ट हैं—पूर्वीय देशों में किसी चीज की गणना के लिए प्रायः उस चीज से सम्बन्धित किसी अंग को आधार मान लिया जाता था, उदाहरण के लिए मोती की गणना उसके दानों से, घोड़ों की गणना रास से और ढाल की गणना दस्त (हाथ की) संख्या के अनुसार की जाती थी। इसी प्रकार हाथियों की गणना के जन्जीरों की संख्या

को आधार माना जाता था। १०० हाथियों के लिए फारसी या हिन्दुतानी लेखक लिखते हैं '१०० जंजीर-ए-फील, था लेखा-पुस्तिका पर इसे इस प्रकार लिखा जायगा—

फील
जंजीर
१००

सभी हाथियों के अलग-अलग नाम रक्खे जाते थे, जैसा कि अब भी होता है। हार्न ने पृ० ७६ पर 'अकबर नामा' से कई नाम उद्धृत किए हैं, फिर पृ० १२४ पर उसने अकबर के निजी हाथी 'आसमां-शुकोह' का उल्लेख किया है। काट्रू ने पृ० २५५ पर दो नाम दिए हैं—'दल-सिंगार' और 'औरंग-गज'। दानिश मन्द खां ने 'फतह-गज' नाम के हाथी का तथा इलियट (भाग ७, पृ० ९५) ने 'महासुन्दर' नामक हाथी का उल्लेख किया है जिस पर नादिर शाह सवारी करता था।

आग्नेयास्त्रों का प्रचार होने तथा धीरे-धीरे इनका प्रयोग बढ़ जाने के कारण पूर्वीय देशों में लड़ाई की दृष्टि से हाथी का महत्व बहुत कम हो गया, यद्यपि जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है--अब भी मुख्य सरदार लोग हाथियों पर बैठ कर युद्ध क्षेत्र में जाते थे। परन्तु वे ऐसा इसलिए नहीं करते थे कि हाथी से उन्हें कोई सुविधा रहती थी या हाथी युद्ध-क्षेत्र म अपनी शक्ति या साहस द्वारा उनकी कुछ मदद करते थे, बल्कि इस लिए वे हाथी पर बैठते थे जिससे उन्हें देख कर उनकी फौज का उत्साह बढ़ता रहे और वे मध्य में रह कर युद्ध का समुचित संचालन कर सकें इसी सम्बन्ध में देखिये (डिलाफलोट, भाग १, पृ० २५८ और कैम्ब्रिज 'वार' भूमिका, पृ० ६)।

निजाम-उल-मुल्क के पास ११४३ हि० (१७३०–३१) तक पर्याप्त संख्या में हाथी थे। एक बार जब वह अपने राज्य क्षेत्र में तप्ती नदी की तरफ गया था तो उसके साथ १०२६, हाथी भी थे जिनमें से २२५ हाथी पारवर आदि प्रतिरक्षात्मक सज्जाओं से सजे हुए थे और सम्भवतः युद्ध में उनका प्रयोग भी किया गया था ('अहवाल-ए-खवा किन')। इस अवसर पर उसने युद्ध में हाथियों की उपयोगिता की पूरी परीक्षा ली। नदी के पास, एक खुले स्थान पर उसने एक पंक्ति में ४४ तोपों और १२२५ हकलों को लगवा दिया और इस पंक्ति के दूसरी तरफ हाथियों को एक कतार में खड़ा करवा दिया। ज्यों ही हाथी आगे बढ़े, तोपों और बन्दूकों से गोले और गोलियों की एक बाढ़ दागी गई। उनमें से कुछ ही हाथी दृढ़ता से खड़े रहे जब कि शेष सभी हाथी भाग खड़े हुए जिसके फलस्वरूप ३०६ पैदल सैनिक हाथियों के पांव तले कुचले जा कर मर गए।

मुगल काल के अन्तिम चरण में ये हाथी एक प्रकार के से बोझ थे, उनसे केवल

भारी तोपों को ढुलवाने का काम लिया जाता था। कैप्टेन विलियमसन 'ओरिएन्टल फील्ड स्पोर्टस' (पृ० ४३) में लिखता है कि तोप ढोते समय इन हाथियों के सिर व माथे, को चोट से बचाने के लिये, चमड़े की मोटी तहों से बनी हुई एक तरह की गद्दी (पैड) उनके सिर व माथे पर बांध दी जाती थी इसी किताब में जंगली और पालन्द, दोनों प्रकार के भारतीय हाथियों के सम्बन्ध में बहुत अच्छा विवरण दिया हुआ है। शान्तिकाल में, वे प्रायः सवारी के काम में लाए जाते थे। चट उनकी पीठ पर से गोली चलाने का अभ्यास किया जाता था। रैंकिंग (पृ० १३) लिखता है कि अवध के नवाब आसफ-उद्दौला (१७७५–१७९७) के पास, केवल प्रदर्शन और मनोरंजन के लिए, १००० से अधिक हाथी थे। फिर भी, जैसा कि 'पायनिर मेल' (२७ सितम्बर १८९४, पृ० २) नामक अखबार से ज्ञात होता है—प्रदर्शन और जुलूस आदि के लिए भी हाथियों का प्रयोग धीरे-धीरे घटता गया। सरकारी 'हौदा-खाना' तोड़ दिया गया है, और सरकारी लेखा के अनुसार भारत वर्ष भर में सरकार के पास केवल २०० हाथी हैं, जिनमें से लगभग सभी का प्रयोग भारी युद्ध सामग्री ढोने के लिए किया जाता है। आगरा में हाथियों से सम्बन्धित सभी चीजों को बेच डाला गया है, केवल चाँदी का शाही हौदा रक्खा हुआ है इस प्रकार हम (अंग्रेज) उस समय से काफी आगे बढ़ आये हैं जब कि बहुत पहले एक पुराने सेनापति कर्नल रिचर्ड स्मिथ ने 'फिर से अपनी फौज को हाथी के हौदे पर से देखा था' (कैरेसिओली, 'क्लाइव' भाग १ पृ० १३३ ।

पन्द्रहवाँ अध्याय

अनुशासन, कवायद और कसरत

अनुशासन सम्बन्धी हमारे यूरोपियन स्तर की दृष्टि के, मुगल सेना में अनुशासन की बहुत कमी थी। बर्नियर पृ० ५५ पर लिखता है कि "जब एक बार मुगलों की फौज घबराहट में पड़ जाती थीं, तो उन्हें फिर से अनुशासित ढंग से व्यवस्थित करना असम्भव हो जाता था। कूच करते समय वे पंक्तिबद्ध हो कर चलने के बजाय भेड़ों की तरह चलना अधिक पसन्द करते थे। यूरोपियनों ने इस बात का यथार्थ अनुमान कर लिया था कि मुगल सेना आग्नेयास्त्रों से, और विशेषतः तोपों से बहुत अधिक भयभीत रहती थी क्योंकि मुगल सेना-नायकों को इस प्रकार के युद्ध का कोई अनुभव नहीं था और न तो वे इस तरह के युद्धों में अनुशासन का महत्व ही समझते थे। वे तो यह भी नहीं जानते थे कि खुले युद्धों में पैदल सेना का अनुशासित संचालन भी कुछ महत्व रखता है" (कैम्ब्रिज 'वार' भूमिका)।

जब अमीर, उमरा, मनसबदार आदि राजधानी में रहते थे, तो उन्हें दिन में दो बार—सुबह और शाम—दरबार में बादशाह के सामने हाजिरी देनी पड़ती थी और इस नियम का बड़ी कठोरता से पालन किया जाता था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय परेड, व्यायाम, युद्ध-कला का अभ्यास आदि नियमित रूप से नहीं कराया जाता था। समय-समय पर सार्वजनिक अवसरों पर परेड (कवायद) भी कराई जाती थी और तभी हाथियों घोड़ों और सिपाहियों की स्थिति स्पष्ट हो जाती थीं। केवल विशेष अवसरों पर (और ऐसे अवसर कभी-कभी ही आते थे) खुले मैदान में परेड कराई जाती थी। ऐसी परेड प्रायः लड़ाई के समय होती थी, जब कि सेना कूच करने के लिए तैयार रहती थी और बादशाह निरीक्षण पर निकलता था। वह बारी बारी से सभी नायकों की सेना का निरीक्षण करते हुए अगले पड़ाव तक चला जाता था, उदाहरण के लिए इसी प्रकार २६ रमजान ११२० हि० (८ दिसम्बर १७०८) में दाऊद खाँ पन्नी ने बहादुर शाह के सामने निरीक्षण के लिए अपनी फौज की परेड कराया था (दानिसमन्द खाँ)।

<u>संगठन</u>—हमारी अंग्रेजी सेनाओं की तरह मुगल सेना में विभिन्न टुकड़ियों के विभाजन का कोई निश्चित नियम नहीं था सिवाय इसके कि सेना का अधिकांश भाग

विभिन्न उमरा और मन्सबदारों के पास रहता था, जिनके पास के सैनिकों की संख्या तक का सही-सही पता नहीं लगाया जा सकता था। 'तुमान', 'तुमानदार' तथा अन्य इस प्रकार के शब्दों का कोई निश्चित अर्थ नहीं है। 'तुमान' शब्द का प्रयोग सैनिकों के किसी भी दल के लिए किया जा सकता था। एक 'तुमान' के सरदार या नायक को 'तुमानदार' कहा जाता था। 'जमादार' शब्द का प्रयोग भी इस पद के लिए बहुत प्रचालत था यद्यपि पद में सम्भवतः जमादार तुमानदार से छोटा होता था। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, दुर्रानी व्यवस्था के प्रभाव से, एक अन्य शब्द 'कशून' प्रयोग में आया, यह शब्द भी अर्थ की दृष्टि से उतना ही अस्पष्ट है जितना कि ऊपर दिए हुए अन्य दो शब्द। स्टीन गैस ('डिक्शनरी', पृ० ६७१) के अनुसार इस तुर्की शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं:—दल, कम्पनी, टुकड़ी, सेना, सैनिक, फौजी (छावनी)।

जहां तक वर्दी का सवाल है, प्रारम्भ में शाही खिदमत में नियुक्त सभी लोग लाल रंग की एक पगड़ी बाँधते थे। सामान्यतः पूरी फौज में वर्दी की कोई समानता नहीं रहती थी, परन्तु प्रत्येक वर्ग के लोग लगभग एक ही तरह की वर्दी पहनते थे—फारसी सिपाही अपनी वर्दी द्वारा मुगलों से अलग किए जाते थे, इसी प्रकार हिन्दुस्तानी मुसलमान और राजपूत भी अपनी अपनी वर्दियों द्वारा पहचाने जा सकते थे (हार्न, पृ० २५) यद्यपि इन विभिन्न वर्गों के पहनावे में एक विभिन्नता थी और अनुभवी आँखें वर्दी से ही सैनिकों की श्रेणी का पता लगा सकती थीं परन्तु साधारणतः वर्दी की समानता या विभिन्नता, इन सैनिकों के वर्गीकरण का कोई निश्चित आधार नहीं थी। किसी समय में अलीगढ़ के फौजदार साबितखाँ ने सिपाहियों के लिए एक तरह की वर्दी का प्रचलन प्रारम्भ किया था जिसे, उसी के नाम पर, 'सावित खानी' वर्दी कहा जाता था। जो भी हो, परन्तु कुछ पलटनें ऐसी भी थीं जो एक ही प्रकार की वर्दी पहनती थी। उदाहरण के लिए फर्रुखसियर के शासन काल की 'सुर्खपोशों' टुकड़ी (इजाद लिखित 'फर्रुखशाह नामा'। शरायफ-ए-उस्मानी के (पृ० २०७) एक अंग से पता चलता है कि मुहम्मदशाह के समय में कुछ अंगरक्षक टुकड़ियाँ थीं जो एक ही प्रकार की वर्दी पहनती थीं, उन्हें उनकी वर्दी के रंग के आधार पर 'सुर्खपोश' (लाल वर्दी वाले), 'जर्दपोश' (पीली वर्दी वाले) और 'सियाह पोश' कहा जाता था। इन सैनिकों के हाथ में सोने या चाँदी के दंड ('गठक') रहते थे।

मध्य-एशिया में सेना के सम्बन्ध में प्रयोग किए जाने वाले काफी शब्दों की उत्पत्ति चगताई व्यवस्था के आधार पर हुई है। बादशाह और उसके बहुत से दरबारी ११७३ हि० (१७५९–६०) तक चगताइयों की जुबान बोलते थे ('सिर' भाग ३, पृ० १४२)। मुस्तफा ने 'सीर' भाग ३, पृ० ४०० पर लिखा है कि १७८५ में कि 'अतलान'

(चढ़ जा) का हुक्म 'घुड़सवार-रक्षकों को दिया जाता है जबकि बादशाह हाथी पर सवार होने की तैयारी करता है।' (पी० डी० कर्टोल 'अलतानमक–' घोड़े पर चढ़ना) पूर्वी तुर्की जुबान से मुगलों के सम्बन्ध का एक अन्य उदाहरण भी मिलता है, आगर जाति के आगर खाँ का परिवार हिन्दुस्तान में १०० वर्ष से अधिक समय तक बसा हुआ था, परन्तु १७३६ में, नाहिरशाह से बात करते वक्त इसी जुबान में बात की थी और उसने इसी भाषा में कुछ नज्में और गजलें भी लिखी थीं (अशाब)।

दंड—दुश्मन से मिल जाने पर सिपाहियों या नायकों को तोप के मुँह पर बाँध कर उड़ा दिया जाता था, ऐसे वर्णन मिलते हैं। दिल्ली से अजमेर जाते समय हुसेन अली खाँ ने १७१४ में दो मीना डाकूओं को तोप से उड़वा दिया था। इसी प्रकार ११३१ हि० (१७१६) में आगरा के घेरे का संचालन करते समय हैदर कुलीखाँ ने इस प्रकार के दंड का सहारा लिया था (सिवानि-ए-रिवजरी)। ११७४ हि० (१७६०) में मराठों ने बन्दी बनाये गये दो मुगल सरदारों को तोप से उड़वा दिया था (रूस्तम अली बिजनौरी-'हिस्ट्री आँव द रुहेलाज')। इसी प्रकार ११७५ हि० (३० मई १७६२) में मराठा सेनापति नारु पंडित ने बुरहानपुर में दो आदमियों को तोप से बाँध कर उड़वा दिया था ('मीरात-उस-सफा')। कर्नल जेन्टिल द्वारा तैयार किए गए 'एब्रेंज हिस्टरीक' में तोप के मुँह पर बँधे हुए एक आदमी का चित्र दिया गया है। मन्सूरगढ़ की सेना ने १०४६ हि० में आक्रामकों की दया प्राप्त करने के लिए अपने दाँतों तले घास का तिनका दबा रखा था। नम्रता या अधीनता का प्रदर्शन करने के लिए दाँत में तिनका दबाना एक बहुत पुराना रिवाज है (देखिए इलियट 'ग्लासरी' पृ० २५२, दाँत-तिनका', जिसका प्रयोग ग्रामीण अब भी करते हैं)। कहा जा है कि दिल्ली की गलियों में, एक विद्रोह के समय फरवरी १७१६ में, विवश हो जाने पर कुछ मराठा सवारों ने इस तरीके का सहारा लिया था (मुहम्मद कासिम लाहौरी—'इबारत नामा' पृ० २४४)। अहवाल ए-खवाकीन' में भी इस तरह दाँत में तिनका दबाने का एक उदाहरण मिलता है।

कवायद (ड्रिल)—सैनिकों के लिए, सम्मिलित रूप से किसी कवायद की व्यवस्था का कोई प्रमाण नहीं मिलता। स्वयं सिपाही भी अपने शारीरिक स्वास्थ्य की तरफ विशेष ध्यान नहीं देते थे और न अपने हथियारों का ही वे नियमित अभ्यास करते थे। इस सम्बन्ध में शरीर के अंग संचालन को दुरुस्त करने के लिए कुछ व्यवस्था बनाई गई थी जिसे 'कवायद' कहते थे। १७९१ में, एक अंग्रेज भ्रमणार्थी ने, कढ़घा के समीप १७९५ में पड़े हुये निजाम के एक कैम्प के विषय में इस प्रकार लिखा है, "व्यवस्था, अनुशासन और ज्ञान की बहुत कमी दिखाई पड़ती है, सैनिक अलग-अलग केवल भाला और तलवार चलाने का अभ्यास करने में व्यस्त रहते हैं जिसमें वे अपनी व्यक्तिगत शान

समझते हैं, घोड़ों की देखरेख में भी वे काफी समय लगाते हैं।" वह आगे लिखता है कि सैनिक अपने घर पर गूँगो घन्टियों और लकड़ी के वजनी आकारों से कसरत करते थे, वह कसरत की अन्य क्रियाओं एवं आसनों का भी वर्णन करता है। इजर्टन पृ० १४७, १५०–५१ 'में मुगदर', 'लेजम' और लाठी के प्रयोग एवं इनके सहारे की गई कसरतों का वर्णन करता है। लाठी द्वारा किए गए अभ्यास में, एक हाथ में वे चमड़े की ढीली खोल चढ़ी हुई एक छड़ी ('गदका') और दूसरे हाथ में एक छोटी ढाल रहती थी। इस छड़ी को 'गदका' कहते थे, शेक्सपियर (पृ० १६८९) के अनुसार यह शब्द 'गदा' से बना है। इससे सम्बधित वर्णन ब्रिग्स ('फरिश्ता' भाग ३, पृ० २०७) में मिलता है जहाँ उसने 'चक-अंग-बाजी (केवल एक गदका से अभ्यास करना) और 'दो-अंग-बाजी' (गदका और ढाल से अभ्यास) का उल्लेख किया है। 'दो-अंग-बाजी' में वे दोनों हाथों में एक एक तलवार लेकर भी अभ्यास करते थे। कुश्ती के दंगलों का भी आयोजन किया जाता था, ऐसे दंगल प्रायः वर्षा-ऋतु में होते थे। सवारों के लिए तम्बुओं के खूँटे गाड़ने और बोतलों पर गोली के अभ्यास आदि की व्यवस्था की जाती थी। धनुर्धर किसी मिट्टी के टीले को लक्ष्य मान कर उसी पर नियमित अभ्यास करते थे।

<u>तलवार का अभ्यास</u>—मुगल सैनिक तलवारबाजी में बहुत दक्ष थे। आक्रमण और बचाव के लिये वे बड़ी जंगली व भयानक मुद्राएँ बनाते थे, तरह-तरह की छलाँग लगाते थे और हर तरह की चालों में बहुत दक्ष थे। 'मुहर्रम' के जलूसों में इस दक्षता के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं; इन जुलूसों में सीधी तलवार या पट्टे तलवारबाज आगे पीछे घूमाकर, या वृत्ताकार घूमकर और छलाँग लगाकर हाथ चलाते दिखाई पड़ते हैं।

बर्टन ने, १८४४ में सिन्ध का वर्णन करते समय हिन्दुस्तान में गदका और तलवार के अभ्यास के विषय में बहुत अच्छा वर्णन दिया है। 'लाइफ' भाग १, पृ० ११६ में लिखा है कि हिन्दुस्तान में तलवारबाजी का अभ्यास एक गदका से किया जाता है जिस पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक कपड़ा लपेटा रहता है; अभ्यास करने वाले बाँए हाथ में एक छोटी ढाल भी रखते हैं। वे सर्वप्रथम हवा में गदका भाँजते हैं और तरह-तरह की मुद्राएँ प्रकट करते हैं। तत्पश्चात भयानक मुखमुद्रा बनाकर एक उत्तेजित गुब्बारे की तरह हवा में उछलने लगते हैं और अगल-बगल, आगे-पीछे हटते-बढते हुए हाथ चलाते जाते हैं। वे कभी भी तलवार की नोक का प्रयोग नहीं करते, भोंकने के लिए यहाँ केवल कटार का प्रयोग किया जाता है। तलवार से प्रायः दो अंगों पर वार किए जाते थे—एक कन्धे पर, और दूसरे पैरों पर, जिसे देशी भाषा में 'कलम' करना कहते थे। इस तरह के वारों से स्वयं को बचाकर दूसरे पर बार कर देना बहुत मुश्किल नहीं होता।

इसके विपरीत ब्लैकर ने 'वार' पृ० ३०२ में हिस्दुस्तानी तलवारबाजों की दक्षता की काफी प्रशंसा किया है। उसके अनुसार केवल हिन्दुस्तानी ही ऐसी तलवार चला सकते थे जो जिरह-बख्तर तथा कई तहों में बाँधी गई पगड़ी को भेदकर शत्रु को घायल कर सके। कर्नल ब्लैकर का मत है कि उस समय की ड्रैगून तलवारें भी इस जिरह-बख्तर और पगड़ी को नहीं भेद सकती थीं। वह लिखता है कि हिन्दुतानी ढंग से एक ही वार में शत्रु को काट डालने के लिए केवल मजबूत कलाई की ही नहीं, बल्कि मजबूत कुहनी की भी आवश्यकता पड़ती थी।

२६ नवम्बर १८१७ को नागपुर के राजा के अरब सैनिकों द्वारा सीताबल्दी की पहाड़ी पर किए गए धावे का फिट्ज क्लेरेन्स (पृ० १०२) ने इस प्रकार वर्णन किया है, उनके आगे बढ़ने का ढंग बहुत ही प्रभावोत्पादक था। वे पूर्णरूपेण अनुशासनहीन होकर भीड़ की तरह आगे बढ़ रहे थे, उनमें से बहादुर सिपाही आगे-आगे हवा में तलवार भाँजते हुए और गोलाकर उछलते हुए चल रहे थे वे छोटे-छोटे नक्कारों की आवाज के साथ तेजी से आगे बढ़े और 'दीन! दीन! मुहम्मद' आदि शब्दों की ललकार करने लगे।" मैंने यह उद्धरण इसलिए दे दिया है कि इसमें पैदल सेना के आक्रमण के ढंग का काफी सुन्दर वर्णन किया गया है, यद्यपि यह घटना मुगल काल के बाद की है।

घुड़सवारी—घुड़सवारी के प्रशिक्षण केन्द्र में घोड़ों को सर्वप्रथम पिछले दो पैरों पर खड़े होकर झटके से सरपट दौड़ना सिखाया जाता था। बुन्देलखन्ड में किसी हाथी पर हमला करते समय घुड़सवार घोड़ों को इसी मुद्रा में खड़ा कर लेते थे। एक बार जब मुहम्मद खाँ बंगश ने १७२७ में बुन्देलखण्ड पर हमला किया तो उसके ऊपर इसी प्रकार आक्रमण किया गया था। वह बादशाह के पास भेजी गई अपनी रिपोंट में लिखता है। "मैं शत्रु सेना के बीच में अपना हाथी ले गया जहाँ, मुझे लगा कि मेरे सिपाही कमजोर पड़ रहे थे। इसी समय शत्रुपक्ष के दो सवारों ने एक के बाद एक, बड़ी बहादुरी से अपने घोड़ों को मेरी तरफ दौड़ाया और उनके घोड़ों के अगले पैर मेरे हाथी पर पड़े। परन्तु खुदा की रहमो करम से वे दोनों सवार हमारे तीरों से घायल होकर गिर गये।" (शाकिर खाँ—'गुलशन-ए-सादिक')। बुन्देलखण्ड के घुड़सवार और घोड़े अब भी इस प्रकार का अभ्यास दक्षतापूर्वक करते हैं, १८७६ में प्रिंस आफ वेल्स के भारत आने पर आगरा में बुन्देलखण्ड के सवारों ने यह वीरोचित प्रदर्शन किया था।

मुगल सेना के फारसी सिपाही हिन्दुस्तानी घुड़सवारी के विषय में बहुत प्रशंसात्मक दृष्टि से नहीं देखते थे जैसा कि अठारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में एक अज्ञात व्यक्ति द्वारा लिखे गये एक संस्मरण के इस अंश से ज्ञात होता है। "नियमतः किस तरह घोड़े पर सवार हुआ जाता है या घुड़सवारी की कला क्या है, इसे हिन्दुस्तानी

नहीं जानते। यही नहीं, वे मूर्खतापूर्ण अभ्यासों द्वारा घोड़ों की स्वभावगत विशेषताओं को भी नष्ट कर देते हैं और घोड़ों को रोगी तथा पागल बना देते हैं। नियमित सिद्धान्तों द्वारा घोड़ों को अंग सचालन की शिक्षा नहीं दी जाती फलस्वरूप घोड़े सवारों के नियन्त्रण में नहीं रह पाते। मैं एक अच्छा सवार हूँ और अपनी दक्षता पर विश्वास रख कर यह सोचते हुये कि यहाँ के घोड़ों को नियंत्रित रखना मेरे लिए मुश्किल नहीं होगा, मैं कई बार नंगी पीठ वाले घोड़ों पर चढ़ा हूँ, परन्तु फिर भी, जब मैंने पूरब की तरफ दौड़ाने का प्रयत्न किया है तो वे मुझे लेकर उत्तर पश्चिम या दक्षिण की तरफ भागे हैं। यदि कोई सवार घोड़े की गति पर नियन्त्रण रखना चाहे और अपनी इच्छा के अनुकूल गति पर उसे दौड़ाना चाहे तो या तो घोड़ा पिछले दोनों पैर पर खड़ा होकर एकदम रुक जायगा या अन्धों की तरह दौड़ते हुए किसी दीवाल से भिड़ कर या किसी अन्य तरीके से अपनी तथा अपने सवार की जान पर खतरा कर बैठेगा। उसके कदम बहुत अस्वाभाविक ढंग से उछल-उछल कर जमीन पर पड़ते हैं ('तारीख-ए-फरह-बख्श' डब्ल्यू हूय (Hoey) द्वारा अनूदित, भाग १, अयेरिडक्स पृ० ७)।

इसी सम्बन्ध में १८४४ में लिखा गया निम्नलिखित अंश भी हिन्दुस्तानी मुगलों पर इसी प्रकार लागू होता है जैसे कि यह एक या दो शताब्दी पहले लिखा गया हो। "सभी देशों के लोग एक दूसरे देशों के घुड़सवारी के ढंग के प्रति अरुचि प्रदर्शित करते हुए प्रतीत होते हैं और कोई भी दूसरे देश की कला से कुछ सीखने की प्रवृत्ति रखता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। भारतीय शैली की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं। घोड़ों को अच्छी तरह काबू में रखना, पैर की एंड़ी के जरा से स्पर्शमात्र से घोड़ों को सरपट दौड़ा लेना हाथ की लगाम से घोड़ों को झटके से रोक लेना और एक ही स्थान पर घोड़ों को चारो तरफ घुमा लेना। एक हिन्दू सवार अपने घोड़े को धीरे-धीरे झुकाते हुए जमीन से ४५° अंश पर घोड़े को स्थिर रख कर एड़ी के सहारे झूल कर जमीन पर से पिस्तौल या तलवार आसानी से उठा लेता है (बर्टन, 'लाइफ' भाग १, पृ० १३५)। जितना पहले उधृत अंश में हिन्दुस्तानी शैली की कटु आलोचना की गई है, उतना ही यह उद्धरण इस शैली की प्रशंसा करता है।

चौकीखाना की सुरक्षा—(गार्ड मारूण्टिंग)–शान्तिकाल में सरदार लोग बारी-बारी से अपनी टुकड़ियों के साथ शाही महल के फाटक की सुरक्षा की व्यवस्था करते थे। उनके पहरे के स्थान को 'चौकी' कहते थे और उस स्थान पर बनी इमारत को 'चौकीखाना' * कहा जाता था। चौकी और पहरे सम्बन्धी नियमों का विवरण 'आईन' भाग

---

* स्टीनगैस पृ० ४०२ 'चौकी' (हिन्दी) = 'उच्च आसन' कुरसी रक्षक स्थान, चुंगी एकत्रित करने का स्थान, पसरे का घर। जे० शेक्सपियर, पृ० ५०७ 'चौक' = बाजार, नगर का केन्द्र, आंगन।

१, पृ० २५७ में दिया हुआ है। यह ड्यूटी हर २४ घन्टे बाद बदल जाती थी, और एक सरदार की बारी सप्ताह में केवल एक बार पड़ती थी। प्रत्येक शाम को पहरे का तबादला होता था। सेना का एक अन्य भाग भी—जो बारह भागों में बंटा हुआ था—एक-एक महीने के लिए शाही महल की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होता था। परन्तु मेरी समझ में यह बात नहीं आती किस तरह ये दोनों सैन्य दल—जिसमें से एक दल रोज ड्यूटी बदलता था जबकि दूसरा प्रति एक माह बाद—किस तरह एक दूसरे से सम्बन्धित रहते थे।

शिकार—सैनिकों की कुशलता व साहस की परीक्षा का समय तब आता था जब कि सेना के किसी दल को शाही शिकार में हिस्सा लेने का हुक्म मिलता था। हार्न ने पृ० ६६ पर इस विषय में लिखा है। सेना की एक शाखा दोहरा कार्य करती थी, शान्ति काल में इस शाखा के सैनिक शिकार आदि में व्यस्त रहते थे और युद्धकाल में वे अनियमित सिपाहियों के रूप में युद्ध-क्षेत्र में लड़ते थे। इस शाखा को करावल और शाखा के सरदार को 'करावल-बेगी' † कहा जाता था। हार्न ने पृ० ६६ पर शाही शिकार सम्बन्धी दो वर्णनों का उल्लेख किया है—जिनमें से पहला बदायूनी भाग ३ पृ० ६२ में और दूसरा अर्सकिन की 'हिस्ट्री' भाग २, पृ० २८६ में है। मैंने शाही शिकार का एक और वर्णन आनन्दराम द्वारा लिखित 'मीरात-उल-इस्तिला' में पढ़ा है। 'शिकार-ए कम्रगाह (या कम्रगाह)' अथवा 'शिकार-ए-जरगाह' को हिन्दी में 'हटा जोड़ी' ‡ कहा जाता है। इस प्रकार के शिकार के लिये बादशाह अपने शिकारियों के जरिए शिकार से भरे हुये किसी क्षेत्र के सूबेदार, जमीन्दार और रैयत (रियाया) को, शिकार के क्षेत्र को घेरने का हुक्म देता है। यह घेरा दिन-ब-दिन छोटा होता जाता था जब तक घेरे का क्षेत्र बहुत छोटा न हो जाता। ऐसे अवसर पर बादशाह अपने साथियों समेत शिकार के क्षेत्र में पहुंच कर शिकार करता था। चूँकि यह शाही मनोरंजन का साधन (कूरूक) था इसलिए किसी भी अमीर उमरा को इस तरह उस क्षेत्र में शिकार खेलने की अनुमति नहीं दी जाती थी। शिकार का यह तरीका ईरान में भी प्रचलित था। भारतवर्ष में शिकार का यह तरीका आलमगीर के शासनकाल में लगभग मध्य से प्रचलन में नहीं रह गया।

---

† स्टीनगैस पृ० ६६२—सन्तरी, चौकीदार, खुफिया, रक्षक, शिकार के क्षेत्र की रखवाली करने वाला (गेट कीपर), शिकारी।

‡ कम्रगाह स्टीनगैस पृ० ६८८—शाही शिकार के लिए व्यवस्थित बन्द घेरा, स्टीनगैस पृ० ३६०—जरगाह = मनुष्यों या जंगली जानवरों का एक घेरा। हटना = पीछे लौटना, जोड़ना = इकट्ठा करना, हटा जोड़ी = शिकारों को घेर कर, हाँक कर एकत्रित करना।

सोलहवाँ अध्याय

युद्ध-क्षेत्र में सेना की स्थिति

अपने मध्य एशियाई खानाबदोश पूर्वजों की तरह तैमूर वंश के प्रारम्भ काल के सरदार अपनी सेनाओं के साथ बराबर घूमते ही रहते थे। हिन्दुस्तान में, इस वंश के प्रारम्भिक और क्रियाशील बादशाहों ने भी यही रवैया अख्तियार किया। ११३७ हि० में निजाम-उलमुल्क द्वारा मुहम्मदशाह को लिखे गए एक पत्र ('एशियाटिक मिसेलेनी', भाग १, पृ० ४६०) में इस शाही खानाबदोशी जीवन के सम्बन्ध में एक रोचक उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार शाही घराने की बेगमें घोड़े की पीठ पर रक्खे जाने वाले कपड़े पर बच्चे जनती थीं। इस तरह वे बचपन से ही खानाबदोशों की सी जिन्दगी बसर करते थे। बाबर से लेकर बहादुरशाह तक सभी मुगल बादशाहों की जिन्दगी का अधिकतर हिस्सा तम्बुओं और खेमों में ही गुजरा था। उदाहरण के लिए बहादुरशाह अपने शासन-काल के पाँच वर्षों में न तो किसी इमारत में सोया और न दिन में किसी भवन में एक या दो बार से अधिक प्रवेश ही किया। मुगल बादशाहों की इस आदत के फलस्वरूप उनकी कोई एक निश्चित राजधानी कभी नहीं रही; जिस स्थान पर बादशाह जिस समय रहता था, उस समय के लिए वही स्थान राजधानी का रूप धारण कर लेता था; जहाँ कहीं भी बादशाह जाता था, सभी महकमे (विभाग) भी वहीं अपना केन्द्र बना लेते थे। साम्राज्य के सभी महत्त्वपूर्ण अफसर सभी सम्बन्धित कागजातों के साथ बादशाह के पीछे चल पड़ते थे। इस प्रकार जहाँ बादशाह उपस्थित रहता था, उसकी सेना तीन गुनी शक्ति धारण करती थी; दरबार की, अदालत की और स्वयं सेना सम्बन्धी इसी वजह से मुगल बादशाहों के (कैम्पर) पड़ाव इतने लम्बे चौड़े आकार के होते थे।

<u>मीर-मंजिल</u>—दरबार-ए-आम में अदब कायम रखने और रियाया के बादशाह के पास पहुँचने की समुचित व्यवस्था करने के लिए बहुत से रक्षक या दरबान (यसावल) नियुक्त रहते थे; इन यसावलों के सरदारों को 'मीर तूजक' कहे जाते थे। इनमें से सबसे बड़ा सरदार रियासत का कोई बड़ा अफसर होता था। दरबार के स्थान परिवर्तन करते समय रास्ते का निर्णय करके उसकी समुचित व्यवस्था करना आगे बढ़कर पड़ाव के लिए स्थान चुनकर विभिन्न छावनियों की दिशा निर्धारित करना और बाजार

आदि की व्यवस्था करना ही इस अफसर का प्रमुख कार्य था। इन कार्यों के लिए उत्तरदायी प्रथम मीर-तूजक को 'मीर-मन्जिल' कहा जाता था।

यातायात—सरकारी तौर पर केवल शाही खेमों और सामानों को ढोने के लिए ही यातायात के साधनों का प्रबन्ध किया जाता था, इन साधनों में हाथी, ऊँट, बैल, बैलगाड़ियाँ और मजदूर प्रमुख थे। अन्य सभी लोगों को अपना प्रबन्ध स्वयं करना पड़ता था। प्रत्येक सिपाही अपने लिए यथा-शक्ति उत्तम व्यवस्था करता था। सामानों को 'बहीर-ओ-बगाँ' या 'परताल' कहा जाता था। अशाब ने 'परताल' शब्द का प्रयोग सामानों के बदले यातायात के साधनों के लिए किया है "परताल-ए-अक्सर-ए-एशान शुतरान-ए-बख्ती-ए-असील व खातिर रामयानी उश्तुराए कत-ए-ख्वश जिन्स-ए विलायती।" ऊँचे और दो कूबड़ों वाले ऊँट को बख्ती कहते हैं।

रसद विभाग—सेना के सामान व भोजन की व्यवस्था करने वाला विभाग, भारतीय सेना की सैन्य व्यवस्था में, अपना सारा प्रबन्ध स्वयम् ही देखता था। शाही बावर्ची खाने में कुछ निश्चित, महल के नौकरों, सशस्त्र रक्षकों, बन्दूकचियों तथा कारीगरों का भोजन बनाया जाता था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य श्रेणियों के लोगों के लिए भी मुफ्त भोजन की व्यवस्था बादशाह द्वारा की जाती थी, इस बावर्ची खाने को लंगर खाना कहा जाता था। इसी प्रकार जो सैनिक स्वयम् बादशाह की खिदमत में रहते थे, उनके भोजन की व्यवस्था किसी सरदार द्वारा की जाती थी, जो पका पकाया भोजन ऐसे लोगों में वितरित कर दिया करता था। इन लोगों के अतिरिक्त, अन्य सभी श्रेणियों के सैनिकों तथा सरदारों को अपने भोजनादि की व्यवस्था स्वयम् करनी पड़ती थी। सेना के साथ अनेक बनिए भी अपनी सामग्रियों के साथ चलते थे, ये सैनिक अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ इन्हीं बनियों से खरीदते थे। इन बनियों की झोपड़ियाँ या दूकानें काफी दूर तक, दोहरी पंक्ति में खड़ी की जाती थीं, जिससे अस्थायी सड़कें व गलियाँ बन जाती थीं। दूकानों के इस पंक्तिबद्ध जमाव को बाजार कहा जाता था। (बर्नियर, ३८१)। प्रत्येक बड़ा सरदार अपना बाजार अलग लगवाता था, जिसमें केवल दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ ही नहीं बिकती थीं, बल्कि हर प्रकार की कला-कौशल की वस्तुएँ और तरह-तरह के सौदागर देखने में आते थे।

बन्जारा—इन बाजारों में बेचे जाने के अन्न आदि वस्तुएँ बैलों पर लाद कर लायी जाती थीं, और इन बेंचने वालों को बन्जारा कहा जाता था, क्योंकि ये लोग अपने बैलों को किसी भी दिशा में हाँक ले जाते थे और घूम-घूम कर अपना माल बेचते थे। इस 'बन्जारा शब्द की उत्पत्ति के विषय में दो मत प्रचलित हैं (१) स्टीनगैस (पृ० २०१) के मतानुसार बन्जारा शब्द हिन्दी के वाणिज्य या वणिज (व्यापार)

से बना है और बन्जारा का अर्थ व्यापार करने वाला है (२) स्टीन गेस ने ही (पृ० १७६) इस शब्द का एक दूसरा रूप दिया है—'बिरिन्जारा, उसके अनुसार 'बिरिन्ज' का अर्थ चावल होता है, आर या आरा शब्द से ही 'आवर्धन' (ले आना) शब्द की उत्पत्ति हुई है। फिट्जक्लेरेन्स (पृ० ९३) कहता है "युद्ध क्षेत्र में, इन्हीं लोगों के जरिये सैनिकों को भोजन प्राप्त होता है और इसीलिए इन बन्जारों को अवध्य समझा जाता है, और किसी भी पक्ष का सैनिक उन पर हाथ नहीं उठाता था। युद्ध क्षेत्र में ये बन्जारे ही सैनिकों के वास्तविक अन्न दाता हैं। उनसे उनके पास का सारा अन्न ले लिया जाता है, परन्तु उसकी कीमत तुरन्त अदा कर दी जाती है। जब इन बन्जारों को रात में पड़ाव डालना पड़ता है तो, अपनी सुरक्षा के लिए, वे चारो तरफ अनाज के बोरों को आयताकार खड़ा कर देते हैं तथा बीच में सपरिवार सोते हैं। उनके बैल अन्न के बोरों को घेर कर बाँधे जाते हैं, साथ ही अपनी सुरक्षा के लिए वे कुछ सशस्त्र सैनिकों की व्यवस्था भी किए रहते हैं, जो रात में, उनके जानमाल की रखवाली करते हैं। ये सैनिक प्रायः बन्दूकों और भालों से सज्जित होते हैं। ये सैनिक चारों कोनों पर पहरा देते हैं और बन्जारों के कुत्ते आगे पीछे की चौकियों का कार्य करते हैं अर्थात् इधर-उधर की टोह लेते हैं। मैंने किन्हीं-किन्हीं बन्जारों को ५०,००० बैलों के साथ सफर करते देखा है। वे एक घन्टे में दो मील से अधिक नहीं चलते, क्योंकि जब उनका काफिला चलता है, तो उनके पास पशुओं के चारे का विशेष प्रबन्ध नहीं होता, इसलिए उनके बैल रास्ते में, मस्ती से चरते हुए, धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं।" बन्जारों के विषय में विशेष विवरण के लिए देखिए थार्न, (पृ० ८५) ई० मूर (पृ० १३१) और एम० विल्क्स, भाग ३ (पृ० २०६)।

चारा—घोड़ों के चारे का प्रबन्ध करने के लिए कुछ व्यक्तियों को जंगलों या ऐसे क्षेत्रों में भेज दिया जाता था जहाँ घास आसानी से प्राप्त हो सके। यदि टट्टुओं या खच्चरों की व्यवस्था हो जाती थी, तब तो उनकी पीठ पर घास के गट्ठर लाद कर लाए जाते थे, परन्तु व्यवस्था न होने पर वे अपने सिर पर ही घास के गट्ठर लाद कर कैम्प तक लाते थे (कैम्ब्रिज—'बार', भूमिका पृ० ६) प्रायः घास ढोने वाले इन व्यक्तियों को सैनिक स्वयम् नियुक्त करते थे, परन्तु कभी-कभी ये घास देने का पेशा स्वतंत्र रूप से भी करते थे (बर्नियर, पृ० ३८१)। जब इस सेना के आस-पास शत्रु प्रबल एवम् सक्रिय होते थे, तो वे इन घसियारों को काट डालते थे, अथवा उन्हें डरा धमका कर उन्हें उस दिशा में जाने से बलपूर्वक रोक लेते थे। कैम्प के आस-पास के समस्त क्षेत्र से जितना भी खाद्यान्न प्राप्त हो सकता था, उसे एकत्रित करके ढो लाने के लिए ऊँट भेजे जाते थे। प्रायः रसद सामग्री से लदे हुए इन ऊँटो पर भी शत्रुदल छापा मार कर समस्त खाद्य सामग्री लूट लिया करते थे।

लूटपाट एवम् अपहरण—अधिकांशतः युद्धस्थल में बंजारों तथा व्यापारियों द्वारा ही खाद्यान्नों की पूर्ति की जाती थी, परन्तु एक अन्य तरीके से भी इस पूर्ति में वृद्धि की जाती थी। जिस मार्ग से सेना गुजरती थी, वहां लूटपाट और अपहरण का बाजार गर्म रहता था। अच्छी से अच्छी शासन व्यवस्था तथा कड़े और अनुशासन प्रिय सेना-नायकों की कमान में भी, जिस बस्ती से मुगल सेना गुजरती थी, वहां बरबादी ही नजर आती थी। ऐसे क्षेत्रों की हरी भरी फसलों से भरे खेत तक घोड़ों, हाथियों, सैनिकों तथा तोप गाड़ियों द्वारा रौंदे जाकर मिट्टी में मिल जाते थे। नियमानुसार, जितने क्षेत्र की फसलें नष्ट हो जाती थीं, इतने क्षेत्र की मालगुजारी में रियायत कर दी जाती थी, इस प्रकार के मुआविजे को 'पैमाली' कहा जाता था, परन्तु यह मुआविजा इतना साधारण होता था कि नष्ट हुई फसलों के अनुपात में यह नगण्य ही था।

अभाव और विपत्तियां—प्रायः सेनाएँ उपरोक्त ढंग से ही खाद्य सामग्री प्राप्त करती थी, परन्तु कभी-कभी शत्रुओं की सक्रियता एवम् सतर्कता से पूर्ति का मार्ग बन्द हो जाने अथवा अवरोध पड़ जाने से अभाव तथा फलस्वरूप भयानक विपत्तियाँ सैनिकों के सामने उपस्थित हो जाता थीं। खाद्यानों के भाव बहुत ऊँचे हो जाते थे, और इस पूर्ति के निरन्तर कुछ समय तक बन्द रहने पर, भूखों मरने की नौबत तक आ जाती थी। देशी इतिहासकारों के ग्रन्थों में ऐसे अभावों तथा भुखमरी के वर्णन प्रायः मिलते हैं। कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु में रेगिस्तान तथा शुष्क क्षेत्रों में पीने योग्य जल का भी अभाव भी प्रायः जानलेवा सिद्ध होता था। उदाहरण के लिए, जून १७०७ में आज़म-शाह के ग्वालियर से धौलपुर की यात्रा में, सैनिकों को गर्मी एवम् जलाभाव के भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ा था, जैसा कि इस यात्रा के एक भुक्त भोगी सैनिक ने कहा था, "परवर दिगार! मेरे दुश्मन को भी ऐसी मुसीबतों में न डाल, जिसमें हमने आज पूरा दिन गुजारा है" ('अहवाल-ए-खवाकीन')। इसी प्रकार दिसम्बर १७१० में, जब बहादुरशाह ने सिक्ख नेता बन्दा बैरागी के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया था, तो उसे भी भयानक प्राकृतिक विपत्तियों का सामना करना पड़ा था। भयंकर वर्षा के तथा कठिन शीत के कारण उसके अधिकांश भारवाहक पशु मर खप गए थे और काफी समय के लिए उसकी प्रगति अवरुद्ध हो गई थी। खाफी खाँ ने भाग २, पृ० ८८८ पर कैम्प एवं अभियान के दौरान में सामने आने वाली इन विपत्तियों का बहुत सजीव एवम् यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया है। भले ही सेना अन्त में विजय प्राप्त कर ले, परन्तु उन्हे ऐसी मुसीबतों में से प्रायः गुजरना ही पड़ता था। वह लिखता है जब जुलाई १७२० में निजामुलमुल्क, औरंगाबाद के सूबेदार आलिम अली खाँ पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा तो उसे कई दिन अत्यन्त विपत्ति पूर्ण परिस्थितियों में गुजाराने पड़े; कई दिनों तक निरन्तर वर्षा होती रही और वह अपनी सेना के साथ काली मिट्टी के कीचड़ से

भरे हुए क्षेत्र में पड़ा रहा। निरन्तर वर्षा तथा नदियों में बाढ़ आ जाने के कारण, समस्त प्रकार की सामग्रियों की पूर्ति का मार्ग बन्द हो गया; मराठों ने इस भयंकर जलवृष्टि में निजामुलमुल्क के कैम्प के आस पास तक लूटखसोट प्रारम्भ कर दिया, निजामुलमुल्क अपने भारवाहक पशुओं तक को बाहर न भेज सका। कई दिनों तक पशुओं को सूखी, भीगी पत्तियों तथा वृक्षों की नरम, नई शाखाओं पर ही निर्भर रहना पड़ा। "इन चार पैरों वाले पशुओं को कई दिनों तक घास और दाने की महक भी सूँघने को नहीं मिली।" अनेक पशु कन्धों तक कीचड़ में धँस गये और भूख से पस्त हो कर समाप्त हो गए। अन्नों के भाव इतने अधिक ऊँचे चढ़ गये थे कि एक रुपये में मुश्किल से एक या दो सेर आटा मिल सकता था। इस समय से एक शताब्दी पहले सर टामस रो ने पहाड़ों और जंगलों से गुजरती हुई एक सेना के सामने आने वाली विपत्तियों का बहुत सजीव वर्णन किया है। 'वार' नामक पुस्तक की भूमिका में सातवें पृष्ट पर सर टामस रो के इस वर्णन को उधृत किया गया है।

निवासियों का भागना—कर्नल विल्क्स ने अपनी पुस्तक के पहले भाग में पृ० ३०८ की टिप्पणी में यह वर्णन दिया है कि किस प्रकार दक्षिणी भारत के एक राज्य के निवासी एक आक्रमणकारी के पहुँचने की खबर पाकर, अपने घरों को छोड़कर पहाड़ियों और जंगलों की तरफ भाग गये थे, और जितनी भी खाद्य सामग्री वे ले जा सकते थे, उठा ले गये थे, परन्तु फिर भी उन्हें प्रायः भुखमरी का सामना करना पड़ता था। ऐसी घटनाएँ उत्तरी भारत के इतिहास के पन्नों में भी देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए जब १७१० में सिक्ख प्रथम बार सैनिक दृष्टि से प्रबल हुये और उन्होंने गंगा जमुना के ऊपरी दोआब तथा लाहौर के उत्तर पूर्व में स्थित क्षेत्रों पर आक्रमण किया, तो उस क्षेत्र के निवासी, विशेषकर मुसलमान, उनके आने पर अपना घरबार छोड़कर भाग निकले थे। ऐसा भी वर्णन आया है कि युद्ध क्षेत्रों के अत्यन्त निकट ही, किसान लोग पूर्ण उदासीन भाव से अपने खेतों को जोतते-बोते और काटते रहते थे। पूर्व के सच्चे, धरती के सपूतों के अनुरूप ही वे विधाता के विधान के प्रति अपना सर श्रद्धा एवं सन्तोष से झुकाये हुये अपना कृषि-कार्य करते रहते थे, भले ही उनके चारों तरफ तोपों के गोले गरजते रहें। उन्हें विजय या पराजत से क्या लेना-देना था जिनका सिद्धान्त ही यही था—कि 'कोउ नृप होय हमें का हानी।'

———

सत्रहवाँ अध्याय

कैम्प एवम् कैम्प सज्जा

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक सैनिक किसी न किसी प्रकार के खेमें में ही विश्राम करता था, भले ही उसका शिविर (तम्बू-टेन्ट) केवल एक चादर तथा दो लाठियों के सहारे ही बना हो। उस समय कई प्रकार के शिविर या खेमे प्रचलित थे, जिनमें रावटी जैसे छोटे शिविर से लेकर बड़े-बड़े शाही खेमें सम्मिलित थे। 'आईन' भाग १, के ५४ वें पृष्ठ पर विभिन्न प्रकार के एक दर्जन शिविरों के नाम दिये हुये हैं। इनमें से एक किस्म, रावटी का उल्लेख मैंने अभी-अभी किया है। एक अन्य प्रकार के शिविर-गुलाबार का विशेष वर्णन मैं बाद में करूंगा, गुलाबार कोई शिविर नहीं है, बल्कि चारों तरफ से मोटे कपड़ों की दीवालों से घिरा हुआ एक छोटा घेरा है। आईन की इस सूची में ग्यारहवाँ नम्बर है 'सरापर्दह' का, जो कोई शिविर नहीं, बल्कि एक पर्दा है। 'आईन' में इन शिविरों के सम्बन्ध में दिये हुये विवरण पर एक दृष्टि डालने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये शिविर किस रूप एवम् आकार के थे। प्लेट नम्बर १० और ११ पर इनके चित्र भी दिये हुये हैं, जिनसे इन शिविरों के विषय में और अधिक स्पष्ट जानकारी मिलती है। 'आईन' की सूची में नवें क्रम पर 'शामियाना' नामक शिविर है, जो कि इस समय भी देश भर में प्रचलित है और इसके नाम, रूप एवम् आकार से सभी भारतीय परिचित हैं। सम्भव है कि इस शिविर का यह नाम 'शाम', (सन्ध्या) के आधार पर पड़ा हो, क्योंकि इसका प्रयोग शाम के समय बैठक के लिये आड़ के रूप में किया जाता रहा होगा। स्टीनगैस (पृ० ७२५) के अनुसार इस शब्द की उत्पत्ति 'शामह' से भी सम्भव है, जिसका अर्थ होता है—परदा। 'आईन' में आठवें क्रम पर खैरगाह नामक शिविर का उल्लेख किया गया है। स्टीनगैस (पृ० ४५६) ने भी इसका उल्लेख किया है। वर्नियर (पृ० ३५६, टिप्पणी संख्या चार, तथा पृ० ३६२) ने भी खैरगाहों का विवरण दिया है, उसके अनुसार वे मोड़ कर रक्खे जाने योग्य शिविर हैं, इनमें एक या दो दरवाजे भी होते हैं, और इन्हें विभिन्न ढंगों से बनाया जाता है, वर्नियर ने इस शिविर को कैबिनेट—चारों तरफ से बन्द स्थान—कहा है। उसके दिये हुये विवरण से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बड़े-बड़े शिविरों में, छोटे-छोटे कमरों को अलग करने के लिये इनका प्रयोग

किया जाता था। बादशाह तथा अन्य महत्वपूर्ण उमरा और सरदारों के पास दो-दो शिविर हुआ करते थे। उनका एक शिविर तो वर्तमान पड़ाव पर लगा रहता था, जबकि दूसरा शिविर, अभियान के दूसरे पड़ाव पर गाड़ने के लिये पहले ही भेज दिया जाता था (बर्नियर पृ० ३५६)। जिन शिविरों को इस प्रकार, अगले पड़ाव पर पहले से ही भेज दिया जाता था उन्हें पेशखाना कहा जाता था।

कैम्प का वर्णन— आईन, प्रथम भाग के ४७ वें पृष्ठ पर बादशाह के कैम्प की आयोजना के विषय में एक विस्तृत विवरण दिया गया हैं, और प्रायः इसी आरूप का अनुसरण शाही कैम्पों में किया जाता था। प्लेट संख्या चार पर इस प्रारूप का स्पष्ट चित्र भी दिया गया है। कैम्प के बिल्कुल मध्य में शाही खेमा लगता था, जो कैनवेस के परदों का बना होता था और चारों तरफ से कनातों से घिरा रहता था। इसकी लम्बाई १५३० गज और चौड़ाई, कुल लम्बाई का पांचवाँ भाग होती थी। इस खेमे को, लम्बाई में, चार भागों में विभाजित किया जाता था, प्रवेश द्वार पर ही - जिसकी दिशा अगले पड़ाव की ओर होती थी—नक्कारखाना स्थित रहता था। इसके दूसरे हिस्से में शाही दरबार लगा करता था, तीसरे हिस्से में बादशाह की गुप्त बैठकें और मंत्रणाएँ हुआ करती थीं, और चौथा हिस्सा बादशाह के शयनकक्ष के काम में लाया जाता था। जिसमें छोटे-छोटे अनेक शिविर लगे रहते थे। इस शाही खेमे के पीछे वाले हिस्से में अकबर के समय में उसकी माता का निवास स्थान भी सम्मिलित रहता था। इस खेमे के बाहरी तरफ, पीछे ही की दिशा में शाही खानदान की बेगमों तथा अन्य सम्बन्धित स्त्रियों के शिविर लगे रहते थे। शाही परिवार के इन शिविरों के चारों तरफ सशस्त्र सैनिकों के सुदृढ़ पहरे की व्यवथा की जाती थी। शाही खेमे के दोनों तरफ लगभग दस-दस शिविर और लगे रहते थे जिनमें बादशाह के अन्य खिदमतगार तथा बावर्ची खाने से सम्बन्धित व्यक्ति रहते थे, इन शिविरों को कारखाना (विभाग) कहा जाता था जिनमें शाही खिदमत से सम्बन्धित विभिन्न विभाग स्थित रहते थे। कैम्प के प्रत्येक कोने पर चौकियाँ स्थित रहती थीं और रक्षकों के शिविर लगे रहते थे। शाही खेमे के प्रवेश द्वार (सदर दरवाजे) के बाहरी तरफ, एक ओर घोड़े तथा सहिसों के शिविर रहते थे। फीलखाना भी घोड़ों के आवास के पास ही स्थित होता था। इसकी विपरीत दिशा में हिसाब किताब रखने वाले लोगों, गाड़ियों, तोपखाने का सेनापति तथा शिकारी कुत्तों आदि के लिये शिविर लगे होते थे। कैम्ब्रिज के 'वार' की भूमिका के पाँचवें पृष्ठ पर जहाँगीर के एक कैम्प का वर्णन दिया हुआ है, जो कि सर टामस रो के जरनल से उद्धृत किया गया है। सर टामस रो ने, इस विवरण में, इन कैम्पों के विशाल आकार के प्रति बहुत आश्चर्य प्रकट किया है।

एक शाही कैम्प के शिविर और खेमे किस प्रकार गाड़े जाते थे, इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन बर्नियर (पृ० ३६०, ३६१) ने किया है। उसके अनुसार सर्वप्रथम मीर

मंजिल शाही खेमों को गाड़ने के लिए कोई उचित और प्रत्येक दृष्टि से सुविधाजनक स्थान ढ़ूंढता था। शाही खेमा आयताकार रूप में चारों दिशा में ३०० कदम लम्बा और इतना ही चौड़ा होता था। इस पूरे चौकोर क्षेत्र को कनातों से घेर दिया जाता था। इन कनातों की उँचाई सात या आठ फुट होती थी और इन्हें, खूँटों में डोरियाँ बाँध कर आड़ा जाता था। कनातों को सीधा रखने के लिये, हर दस कदम पर, भीतर और बाहर से एक विशेष कोण पर छोटे-छोटे खम्भे लगाए जाते थे। किसी एक दिशा की कनात के मध्य में सदर दरवाजा बना रहता था। इस प्रवेश द्वार की बाहरी ओर, दोनों बगल में (बर्नियर, पृष्ठ ३६३) दो खूबसूरत खेमे लगे होते थे जिनमें, पूर्णरूप से सुसज्जित घोड़े, सवारी के लिये तैयार बँधे रहते थे। सदर दरवाजे के सामने का हिस्सा कुछ दूर तक बिलकुल खुला रहता था और इस खुले मार्ग के अन्तिम छोर पर नक्करखाना स्थित होता था। इससे सटे हुए शिविर में ही चौकीखाना होता था, जिसमें, प्रत्येक दिन के लिये निश्चित रक्षकों की टुकड़ी एवम् उनका सरदार रहता था।

इस शाही खेमे के चारों तरफ शाही बाजार लगता था। प्रवेशद्वार से अभियान की दिशा में दोनों तरफ खम्भे गाड़ कर एक सीधी सड़क बनाई जाती थी। ये खम्भे बहुत ऊँचे होते थे, इनके बीच की दूरी लगभग ३०० कदम होती थी और इन पर याक की पूँछे लगी रहती थीं। शाहजादे तथा अल्प अमीर उमरा विभिन्न दूरियों पर अपने खेमे गाड़ा करते थे। कभी कभी उनके खेमों की दूरी शाही खेमे से, कई मील इधर उधर होती थी। प्रत्येक शाहजादे, उमरा और सरदार के कैम्प में केवल उसके अधीनस्थ व्यक्तियों के शिविर होते थे और उसके कैम्प का अपना बाजार लगाता था। इन लोगों के खेमे गाड़ने में केवल एक बात की सतर्कता बरती जाती थी, कि प्रत्येक सरदार के शिविर प्रवेशद्वार की दिशा बादशाही खेमे में बने हुए आम-दरबार की ओर ही रहे (बर्नियर ३६६)। बर्नियर अनुमान लगता है (पृ० ३६७) कि जहाँ आलमगीर के सम्पूर्ण कैम्प के लिए पर्याप्त स्थान मिल जाता था तो उसका कैम्प लगभग ६ मील के घेरे में फैलता था। बाजार की स्थिति स्पष्ट करने के लिए दोनों तरफ याक की पूँछ से सज्जित ऊँचे ऊँचे खम्भे गाड़ दिये जाते थे (बर्नियर ३६५)।

कैट्रो (फ्रेंच एडीशन, ४ से पृ० १२८, १२ मो, चार ४०, ५७) ने कैम्प के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है, वह बर्नियर पर आधारित लगता है, परन्तु स्वयम् उसने अपने वर्णन को मनूची के वर्णन पर आधारित बताया है। वह लिखता है: "जिस कैम्प में यह विशाल सेना विश्राम लेती थी, प्रत्येक दिन एक ही ढंग से लगता था, यदि कैम्प के लिए चुना हुआ स्थान कोई बाधा उपस्थित न करता। एक आयताकार घेरा, रस्सियों की मदद से तैयार किया जाता था और इस घेरे के चारों तरफ एक गहरी खाई खोद दी जाती थी। भारी तोपें एक निश्चित दूरी पर, हर दिशा में लगा दी जाती थी जिससे कि

किसी भी दिशा से होने वाले किसी आक्रमण के विरुद्ध तुरन्त प्रतिरक्षात्मक कार्रवाई की जा सके। बादशाह का खेमा इस लम्बे चौड़े कैम्प के लगभग मध्य में लगता था। यह शाही खेमा भी आकार में चौकोर होता था और इसके चारों तरफ हल्की तोपें हमेशा आग उगलने के लिये तैयार खड़ी रहती थीं। अन्य सरदारों के खेमे, शाही खेमे से कम ऊँचे होते थे और कैम्प की विभिन्न दिशाओं में पर्याप्त फासलों पर लगे रहते थे। सभी प्रकार के कारीगरों और व्यापारियों के लिये कई गलियों और सड़कों का निर्माण होता था। निस्कर्षरूप में, यह कहा जा सकता है कि औरंगजेब अपनी यात्रा में, एक पूरा शहर ही लेकर चलता था जिसमें लगभग उतने ही आदमी रहते थे, जितनी उसकी राजधानी की कुल आबादी थी।"

इन कैम्पों में कुछ शिविर बहुत विशाल आकार वाले होते थे। इसी प्रकार का एक बहुत बड़ा शिविर शाहजहाँ द्वारा बनवाया गया था, जिसका नाम दिलबादिल (उदार हृदय) रक्खा गया था। जब १७११ ई० में लाहौर में बहादुरशाह ने शाहजहाँ द्वारा बनवाये गये इस विशाल शिविर को गाड़ कर खड़ा करने का हुक्म दिया, तो इसको उठा कर खड़ा करने के लिए ५०० शिविर गाड़ने वाले मजदूर और बढ़ई, एक महीने तक इसी कार्य में व्यस्त रहे और इस प्रयास में कई जाने भी गईं (मीरात-उल-इस्तिला २१८ वीं)। कामवर खाँ ने चौथी शवाँ, ११२३ हि० की तारीख (१६ सितम्बर १७११) में लिखा है कि इस शिविर के निर्माण में लगभग ५०,००० रुपये लगे थे। 'सीर' भाग १, पृ० २५, टिप्पणी संख्या ३२ के अनुसार बादशाह के शिविर का घेरा कुल मिलाकर सवा मील था और इसमें छोटे बड़े १२० शिविर थे, जिनमें से कुछ तो इतने लम्बे चौड़े थे कि उयमें कई सौ आदमी आराम से रह सकते थे। इनमें जो शिविर सबसे बड़ा था उसमें लगभग दो हजार सैनिकों के विश्राम करने की व्यवस्था आसानी से की जा सकती थी। ये सभी शिविर बाहर चारों ओर से कनातों से घिरे होते थे जिनकी उँचाई ६ फिट होती थी। यह बाहरी कनात भी बाहर से पूर्ण रूप से बाड़े द्वारा घिरी होती थी और इन्हीं दोनों घेरों, अर्थात् कनात और बाड़े के बीच में रक्षक सैनिक पहरा देते थे। इस घेरे के बाहरी ओर एक और घेरा होता था। इसमें भी रक्षक सैनिक ही रहते थे, उनके साथ ही शाही परिवार के खिदमतगार, जैसे भिश्ती, कुर्सी ढोने रखने वाले तथा अन्य लोग भी रहते थे। कैम्ब्रिज के 'वार' की भूमिका के पांचवें पृष्ठ पर नासिरजंग के, १७५० में लगाये गये एक कैम्प का उल्लेख किया गया है, जो कि लगभग २० मील के घेरे में फैला हुआ था। इसी प्रकार विल्क्स (भाग १, पृ० २९२) ने भी १७५२ में लगे एक देशी राजा के कैम्प का बहुत ही दिल चस्प वर्णन किया है। इस वर्णन में वह किमती शिविरों से लेकर फटे कम्बलों से बने शिविरों तक का वर्णन करता है, जिसमें पशुओं और मनुष्यों में भेद करना मुश्किल था। इस कैम्प में अनुशासन तथा सुव्यवस्था के एक मात्र प्रतीक

वे झण्डे थे जिन्हें विभिन्न सरदारों ने अपने खेमों के सामने गाड़ रक्खा था और क्रमबद्धता का परिचय केवल एक कतार से लगी हुई बनियों और व्यापारियों की दूकानों से ही लग सकता था ।

शिविरों के रंग—बादशाह तथा शाहजादों के खेमों का रंग लाल होता था, इस लाल मोटे कपड़े को खारुवां कहा जाता था । यह कैनवेस की तरह का एक मोटा सूती कपड़ा होता था जिसे आल नामक पौधे की जड़ से लाल रंग में रंग दिया जाना था । बादशाह के शिविरों के चारों तरफ जो घेरा होता था, उसे गुलाबार कहा जाता था । कुछ बड़े उमरा और सामन्तों—जैसे वकील-ए-मुतलक या मुख्य मंत्री (जमैदत्त-उल-मुल्क) के शिविर धारीदार (पतापट्टी) होते थे, इन शिविरों पर लाल और सफेद रंग की धारियाँ बनी रहती थीं । किसी भी प्रकार की धारी को हिन्दी में पट्टी कहते हैं (मीरात उल-इस्तिला २७ वीं, बर्नियर पृ० ३६६) । बर्नियर के पृ० ३६१ के वर्णन से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि बादशाह के शिविर भी बाहरी तरफ से धारीदार होते थे, परन्तु उसने लिखा है कि ये शिविर 'धारियों (पटियों से सजाये गये) थे, जिससे दोनों विवरणों में कोई विशेष विरोधाभास नहीं दिखाई पड़ता ।

गुलाबार—बर्नियर जिस कनात या पर्दे का, शाही शिविर के बाहरी घेरे के रूप में वर्णन करता है, उसका नाम गुलाबार था । इसका उल्लेख 'आईन' के पहले भाग (पृ० ४५ और ५४) में किया गया है, परन्तु इसका कुछ विशेष वर्णन कर देना अनुचित नहीं होगा क्योंकि यह शब्द विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रायः दिखाई पड़ता है और हमारे लिये यह जान लेना बहुत आवश्यक है कि वास्तव में इसका रूप रंग क्या था । 'गुलाल' शब्द का अर्थ हिन्दी में 'लाल' होता है और 'वार' 'दीवाल की तरह की किसी भी रुकावट को कहते हैं जिसके आरपार आवागमन सम्भव न हो । इस तरह 'गुलाबार' का पूर्ण अर्थ है 'लाल दीवाल । अकबर के काल से पूर्व गुरगानी राजाओं के शिविरों के चारों तरफ सुरक्षा के लिए रस्सियों तथा मजबूत डोरियों का एक घेरा बनाया जाता था जिसे तनाव-ए-क़ुरुक (आमदरफ्त रोकने वाली रस्सियों का घेरा) कहा जाता था । अकबर के शासन काल में 'गुलाबार' नामक घेरे का प्रचलन प्रारम्भ हुआ । बांस की खपाचियों और लाठियों को लाल रंग में रंग लिया जाता था और उनको चमड़े के फीतों द्वारा एक में बांध कर एक प्रकार की जाली तैयार ली जाती थी, इसकी बनावट कुछ इस प्रकार की होती थी कि आवश्यकता पड़ने पर इसे तुरन्त मोड़ा या फैलाया जा सकता था । इस जाली की उँचाई तीन गज होती थी । सामने की तरफ से इस बाँस के जालीनुमा, ढाँचे में दो दरवाजे बने होते थे और एक दरवाजा इस तरफ होता था जिधर हरम (शाही खानदान का जनानखाना) शिविर गड़े रहते थे । शाही शिविरों के चारों तरफ़

इस बाँस के परदे या घेरे को खड़ा कर दिया जाता था, इन शाही शिविरों को सामूहिक रूप से 'दौलतखाना' कहा जाता था। इस घेरे के बाद एक खाई खुदी रहती थी और लाल झण्डे ऊँचे खम्भों पर राजसत्ता के प्रतीक के रूप में फहराए जाते थे (मीरात उल इस्तिला, २०३ ए)।

जाली—गुलाबार की तरह ही 'जाली' शब्द भी शाही शिविरों के बाहरी घेरे के अर्थ में स्थान-स्थान पर प्रयोग किया गया है। इस शब्द की उत्पत्ति 'जाल से हुई है। ऊपर जिस अंश को उद्धृत किया गया है, उसमें प्रयुक्त शब्द गुलाबार भी एक प्रकार की जाली ही है, यद्यपि नाम बदल गया है। परन्तु एक यूरोपीय भ्रमणार्थी जिसने सम्भवतः किसी शाही कैम्प को स्वयम् देखा था—लिखता है कि गुलाबार, कपड़े से बनी शाही शिविर की सात फीट ऊँची कनातों के चारों तरफ से, ५० फीट और हट कर घेरता था, (सीर भाग, पृ० १५६, नोट १२०)। खुशहाल चन्द ने गुलाबार के लिये स्थान पर (बर्लिन पान्डुलिपि संख्या ४६५, फोलियो १०१० ए) 'सलावत बार' (शाही घेरा) शब्द का प्रयोग किया है। अशाब (फोलियो १६६ बी) के अनुसार सलाबत बार का रूप-आकार, आलमगीर के मीर अतश सलावत खाँ * ने निश्चत किया था, इसका एक और प्रचलित नाम 'गुलालबाड़ा' था, ऐसा अशाब का मत है। अशाब ने इसकी बनावट का अत्यन्त विस्तृत वर्णन दिया है। यह वर्णन आनन्द राम के ऊपर दिये हुये वर्णन कुछ भिन्न है। अशाब के अनुसार शाहजादों के शिविरों की सुरक्षा के लिये अब भी रस्सियों का बाड़ा या घेरा ही बनाया जाता था जिसे तनाव-एकुरु कहा जाता था (मीरात उल-इस्तिला)।

रहकला बाड़—रहकला या रकला युद्ध-क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली एक प्रकार की तोप को कहा जाता था और इसी आधार पर इस बाड़े का नाम पड़ा। शाही शिविरों के प्रवेश द्वार पर, अथवा उनके चारों ओर तोपों का एक घेरा बना दिया जाता था, ताकि किसी आकस्मिक आक्रमण से शाही खानदान को बचाया जा सके। शाही खेमे के प्रवेश द्वार के पास ही मीर आतश का शिविर भी खड़ा किया जाता था (दानिशमन्द खाँ, चौथी जुल-हिज्जह १११६ हि० का विवरण और बर्नियर पृ० ३६३)

---

* मआसिर-उल-उमरा भाग २, पृ० ७४२ के अनुसार ख्वाजा मीर, ख्वाफ्ती (सलावत खां) को आलमगीर के शासन के २३ वें वर्ष में मीर आतश बना दिया गया था, कुछ समय के लिए उसे इस पद से हटा दिया गया था, पर २५ वें वर्ष में उसे उसका पद फिर मिल गया। वह ११०३ हि० (३६ वें वर्ष) में मर गया। तारीख ए-मुहम्मदी के अनुसार उसकी मृत्यु ११०४ हि० में हुई थी। इन दिनों में से किसी ग्रंथ में भी 'गुलाबार' का उल्लेख नहीं है।

<u>हरम की औरतें और रक्षक सेनाएँ</u>--(हार्न पृ० ५७)–लगभग सभी सैनिक अभियानों में बादशाह तथा अन्य महत्वपूर्ण और खास अमीर उमरा के घरों बेगमों तथा परिचारकाओं की एक पूरी जमात भी सेना के साथ ही चलती। युद्ध के अवसरों पर इन बेगमात को हाथियों की पीठ पर हौदों में बैठा दिया जाता था और उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व सेना के पिछले भाग में स्थित रक्षक सेना पर रहता था। यह रक्षक सेना मध्य युद्धस्थल से काफी फासले पर पीछे स्थित रहती थी, जब कि बादशाह अथवा अन्य प्रमुख सेनापति सेना के मध्य में खड़े रहते थे। इस तथ्य की पुष्टि के लिये कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऐसी अवस्था में जब कि लम्बे अभियान में बादशाह तथा अमीर उमरा आदि को कई वर्षों तक कैम्पों में ही रहना पड़ता था, अपने साथ हरम भी रखने की प्रथा का कुछ औचित्य ढूंढा जा सकता है, क्यों कि कैम्प ही उनका एकमात्र निवास होता था। परन्तु छोटे अभियान में भी वे हरम को अपने साथ से बाज नहीं आते थे। उदाहरण के लिये गाजिउद्दीन खाँ इमादुलमुल्क; जो कि १६ वर्ष की अवस्था में ही वजीर बन चुका था और उसकी २५ वर्ष की अवस्था तक दो बादशाहों का शासन काल समाप्त हो गया था, अपने नाना क़मरुद्दीन खाँ के कैम्प में ही पैदा हुआ था। कमरुद्दीन खाँ मुहम्मदशाह का वजीर था और उस समय मराठों के विरुद्ध एक अभियान में मालवा की ओर जा रहा था। विल्क्स (भाग २, पृ० ३८) ने इस बात को बहुत आश्चर्यपूर्ण तथा व्यक्तिगत कमजोरी माना है कि १७६८ में युद्ध क्षेत्र में हैदराबाद के निजाम के साथ उसकी सभी बेगमें भी थीं। परन्तु शायद विल्क्स नहीं जानता था कि ऐसा करके निजाम अली, मुगल सिपहसालारों की सामान्य प्रथा का अनुसरण मात्र कर रहा था।

अठारहवां अध्याय

सेना का कूच करना

जब कोई सेना या बादशाह द्वारा युद्ध करने का निश्चय कर लिया जाता था, तो सेना को कूच कराने में काफी कठिनाइयाँ सामने आने लगती थीं, जिनके फलस्वरूप उचित अवसर पर कूच करना सम्भव नहीं हो पाता था। आवश्यकता पड़ने पर कोई भी चीज दुरुस्त हालत में प्राप्त हो पाना सम्भव हो सकता था। यदि किसी बड़े सरदार को सेनापति बना दिया जाता था, तो वह तरह-तरह की याचिकाएँ बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करके अथवा युद्ध सम्बन्धी कुछ बातों पर अपनी असहमति प्रकट करके प्रस्थान में विलम्ब करने में ही अपना गौरव समझता था। सारी तैयारियाँ हो जाने के पश्चात ज्योतिषियों तथा भविष्यवक्ताओं की राय शुभाशुभ के विषय में माँगी जाती थी। जब तक ज्योतिषियों से मुहूर्त और भाग्य के विषय में नहीं पूछ लिया जाता था, तब तक सेना आगे नहीं बढ़ती थी। यदि ज्योतिषियों द्वारा निश्चित शुभ घड़ी में कूच करना सम्भव नहीं होता था, तो भाग्यदेवता को छलने के लिये प्रस्थान के रूप में खेमों तथा पेशखानों को आगे भेज दिया जाता था और एक नकली कूच किया जाता था (सीर, भाग १, पृ० ३०६, नोट २४८)। जो भी हो कूच कर देने पर सेना का पहला पड़ाव बहुत नजदीक ही पड़ता था, जिससे भूले बिसरे लोग आकर सेना में शामिल हो सकें तथा यदि कोई आवश्यक सामान पीछे रह गया हो तो उसे मँगाया जा सके। शुभ और अशुभ दिनों को इतना अधिक महत्व देना ही युद्धों में मुगलों की सफलता के मार्ग में एक बहुत बड़ा अवरोध था, क्योंकि वे शुभाशुभ का विचार करते-करते दुश्मन पर उसकी कमजोरी के क्षणों में तुरन्त आक्रमण नहीं करते थे, बल्कि उचित समय के लिये नक्षत्रों पर निर्भर रहते थे (कैम्ब्रिज 'वार' भूमिका पृ० ११)।

बादशाह द्वारा सैन्य संचालन—प्रायः युद्धों में बादशाह सेना का संचालन स्वयम अपने हाथों में न रख कर किसी विश्वासपात्र सरदार को सेनापति बना देता था, परन्तु यदि सेना बहुत बड़ी होती थी अथवा कोई सैनिक अभियान विशेष महत्वपूर्ण होता था, तो सेना के नेतृत्व का भार बादशाह स्वयम अपने हाथों में ले लेता था (हार्न, पृ० ४६, 'तुज़ुक-ए-तैमूरी' के आधार पर)। १७१० ई० में बहादुर

शाह ने सिक्ख सरदार बन्दावैरागी के विरुद्ध किये गये अभियान का नेतृत्व स्वयम किया था और उसके कृत्य को कुछ सरदारों ने उसकी शान के खिलाफ माना था, क्योंकि सिक्ख इतने प्रबल नहीं थे कि उनका दमन करने के लिये स्वयम बादशाह का जाना आवश्यक था। अभियान के मार्ग में जहाँ कहीं भी प्रसिद्ध सन्तों अथवा फकीरों के आश्रम पड़ते थे, प्रायः बादशाह तथा कुछ सरदार उनका दर्शन करने के लिये आया करते थे जिससे कि उन्हें युद्ध में सफलता प्राप्त करने का आशीर्वाद मिल सके। जब शाह आलम बहादुर शाह अपने भाई से युद्ध करने के लिये जा रहा था तो उसने दिल्ली में स्थित कुतुबउद्दीन और निजामउद्दीन औलिया की मजारों पर दुआएँ की थीं। इसी प्रकार फर्रुखसियर ने पटना से आगरा जाते समय भूँसी में तकीउद्दीन कोड़ा में बदीउद्दीन और मक्खनपुर में शाह मदार की मजारों पर दुआएँ पढ़ीं थीं। यहिया खाँ (१२६ बी) ने एक और विचित्र बात का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि सन् १७२१ में शाहजादा मुहम्मद इब्राहीम को सिंहासन पर बैठाया गया और मुहम्मद शाह से युद्ध करने के लिये उसने कूच करने की तैयारी की। प्रस्थान करने से पहले ही एक प्राचीन परम्परा के अनुसार उसे कुतुबउद्दीन की मजार पर ले जाया गया, जहाँ जाकर उसे अपने सर पर पगड़ी बँधवाना था और कमर में एक तलवार लगाना था जैसा कि रस्म था। इसके पश्चात एक धनुष की डोर को ढीली करके मजार के पास रख दिया जाता था और यदि यह डोर स्वयम ही वापस अपने स्थान पर पहुँच जाती थी तो युद्ध में विजय सुनिश्चित समझी जाती थी। इस अवसर पर इस रस्म को अदा करने के लिये जब मुहम्मद इब्राहीम पहुँचा तो चारों तरफ इतना शोर और गुलगपाड़ा मचा हुआ था, कि बार-बार हुक्म दिये जाने पर भी धनुष मजार के पास न पहुँच सकी।

<u>कूच करती हुई सेना का वर्णन</u>—कैट्रो (१२ अ० एडीशन, १७१५, चौथा भाग, पृ० ४६-५७ या ४४ एडीशन, पृ० १२६) बादशाह औरंगजेब के शासन काल में कूच करती हुई एक सेना का वर्णन इस प्रकार करता है जब कि इस सेना का संचालन स्वयम् बादशाह कर रहा था। सर्वप्रथम भारी तोपखाना, प्रथम रक्षक पंक्ति के रूप में आगे बढ़ा। उसके पश्चात एक क्रम से सामान ढोने वाले पशु चले। सर्वप्रथम ऊँटों की कतार चली जिन पर शाही खजाना लदा हुआ था। इनमें से सौ ऊँटों पर सोने के सिक्के तथा दो सौ ऊँटों पर चाँदी के सिक्के लदे हुये थे। किसी भी ऊँट पर ५०० पौण्ड से अधिक भार नहीं था। खजाने के पश्चात शिकारी पशुओं का काफिला था, जिनमें हिरणों को खदेड़ कर इकट्ठा करने वाले कुत्ते तथा भैंसे एवम् साँड सम्मिलित थे। जिनका उपयोग चीतों के शिकार में किया जाता था। उसके बाद सरकारी कागजातों का नम्बर था, यह एक प्रथा सी बन गई थी कि जब भी बादशाह किसी अभिमान पर चलता था, तो उसके सारे सरकारी कागजात साथ ही चलते थे।

सरकारी आय व्यय के लेखे तथा अन्य कागजात अस्सी ऊँटों पर लदे हुये थे, इतना ही नहीं, इस कार्य के लिये तीस हाथियों तथा बीस बैलगाड़ियों का प्रयोग भी किया गया था। सरकारी कागजातों से लदे हुये पशुओं एवम् गाड़ियों के पीछे पचास ऊँटों की एक और कतार थी जिन पर दरबारियों तथा शहजादों के पीने के लिये पानी लदा हुआ था। हिन्दुस्तान की यात्राओं में पीने के लिये पानी का समुचित प्रबन्ध अत्यावश्यक है क्योंकि चलते-चलते प्रायः सैनिक ऐसे क्षेत्रों में पहुँच जाते हैं जहाँ जल का नामोनिशान नहीं मिलता, या पीने योग्य पानी का अभाव रहता है। इन ऊँटों के पश्चात शाही बावर्चीखाना था, और लगभग पचास ऊँटों पर एक दिन की पूरी खाद्य सामग्री लदी हुई थी। इन ऊँटों के साथ ही पचास गाएँ भी थीं क्योंकि औरंगजेब के मुख्य भोजन का मुख्य पदार्थ दूध ही था। इसके बाद शाही बवर्चीखाने से सम्बन्धित लगभग १०० खिदमतगार घोड़ों पर चल रहे थे जिनमें से प्रत्येक बावर्ची भोजन की एक न एक विशेष सामग्री का विशेषज्ञ था…बावर्चीखाने के पीछे शाही पोशाकें तथा हरम था, जिन्हें ढोने के लिये ५० ऊँट और एक सौ गाड़ियाँ थीं। तीस हाथियों पर शाही बेगमात के जेवर तथा तलवारें और खंजर आदि लदे हुये थे, ये खंजर बादशाह द्वारा उन सरदारों को दिये जाते थे, जिनके किसी कार्य से वह प्रसन्न होता था: इस प्रकार तलवार अथवा खंजर का यह उपहार बादशाह की कृपा अथवा सम्मान का प्रतीक होता था। इन सामानों के काफिलों तथा तोपखाने के आगे के दो हजार मजदूरों का एक दल चल रहा था; इन लोगों के हाथो में फावड़े थे, जिनसे वे आगे का रास्ता साफ करते चल रहे थे। इन सामानों के साथ ही एक हजार आदमी और चल रहे थे, जिनका कार्य था ऐसे गड्ढों को पाटना जो हाथियों और ऊँटो के पैरों के दबाव से बन जाते थे।

इन सभी शाही सामानों के पश्चात सेना का नम्बर था, इस सेना में अधिकांश संख्या घुड़सवारों की ही थी। आवश्यकता पड़ने पर पैदल सेना के रूप में उन्हीं लोगों को भर्ती कर लिया जाता था जो व्यापारियों और खिदमतगारों की हैसियत से सेना के पीछे पीछे चलते थे। इन लोगों के पास हथियारों के नाम पर केवल तलवार भाला और ढाल रहती थी। घुड़सवारों के पश्चात बादशाह की सवारी थी जिसके साथ उसके प्रयोग में आने वाले अन्य निजी सामान थे। प्रायः बादशाह अधिकाश दूरी तक हाथी पर ही यात्रा करता था जिसकी पीठ पर कमरे की शक्ल का एक अति सुसज्जित हौदा रक्खा हुआ था, जिसमें शीशे की खिड़कियाँ लगी हुई थीं। उस हौदे में, बादशाह के बैठने तथा लेटने के लिये एक आरामदेह तख्त तथा बिस्तर लगा हुआ था। हाथी के बगल में ही कुछ सजी सजाई पालकियाँ चल रही थी और हाथी की सवारी से ऊबने अथवा थक जाने पर बादशाह पालकी पर चलता था। उसकी हाथी के पीछे पीछे कुछ सजे सजाये घोड़े भी चल रहे थे, औरंगजेब घुड़सवारी का बहुत बड़ा शौकीन था और

अपनी ढलती उम्र में भी वह मुगल साम्राज्य का सर्वश्रेष्ठ घुड़सवार माना जाता था। बादशाह की हाथी के आगे आगे कुछ ऊँट चल रहे थे जिन पर कुछ बर्तन रक्खे हुये थे, इन बर्तनों में से सुगन्धित भाप निकल रही थी जिससे सारा वातावरण सुगन्धिमय एवम् सुवासित हो गया था। शाही हाथी के दोनों ओर दो टुकड़ियों में बादशाह के समस्त अंगरक्षक कतारों में चल रहे थे। बादशाह के दल के पीछे शाही बेगमों, शाहजादियों तथा हरम की अन्य स्त्रियों की सवारियाँ थीं। ये सभी स्त्रियाँ बादशाह की ही तरह, हाथियों पर सुसज्जित एवम् झरोखेदार हौदों में बैठी हुई थी। उनके हौदों में लकड़ी की खिड़कियाँ तथा झाकियाँ बनी हुई थीं जिनपर मलमल के रंगीन और बारीक पर्दे लगे हुये थे। इस प्रकार, उन्हें तो कोई नहीं देख सकता था, परन्तु ये चारों तरफ देख सकती थीं और ताजी हवा में साँस ले सकती थीं। शाही खानदान की बेगमों तथा शहजादियों की खिदमत में लगी हुई स्त्रियाँ घोड़ों पर सवार थीं, वे पैरों तक पहुँचने वाले बुरके पहने हुई थीं जिनसे उनके मुँह ढँके हुये थे। इस शाही खानदान के पीछे हल्का (जिन्सी) तोपखाना था, प्रत्येक तोप अलग अलग तोप गाड़ी पर लदी हुई थी जिन्हें घोड़े खींच रहे थे।

इस विशाल सैन्यदल के पिछले हिस्से में, असंख्य दरबारी, अमीर उमरा तथा मुसाहिब आदि थे, जिनके खिदमतगारों की गणना करना कोई आसान कार्य नहीं था, इनकी सवारी के लिये अगणित हाथी तथा घोड़े थे, इन अमीरों, सरदारों तथा अन्य नायकों के शिविर तथा अन्य सामान ऊँटों पर लदे हुये थे। यह सारा काफिला बहुत ही अनुशासित ढंग से आगे बढ़ रहा था और कहीं भी अव्यवस्था या गड़बड़ी नहीं दिखाई पड़ रही थी। यह पिछली रक्षक सेना उतनी ही शान्ति से चल रही थी जितनी शान्ति से पूर्णरूप से अनुशासित टुकड़ियाँ चलती हैं।

पताकाएँ—जब सेनाएँ कूच करती थीं तो स्वयम् बादशाह तथा अन्य सरदारों की पताकाएँ अलग अलग हाथियों पर, उनके साथ ही चलती थीं (डिलाफ्लोट, भाग १, पृ० २५८, फिट्जक्लेरेन्स, पृ० १३८)। इन पताकाओं तथा झण्डों क समुचित व्यवस्था करने के लिये एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाता था। मन्सबदारों का वर्णन करते समय इस सम्बन्ध में कुछ विवरण दिये गये हैं। ऐसे समस्त अधिकारियों को सामूहिक रूप से कूर कहा जाता था। यह शब्द तुर्की भाषा के शब्द का हिन्दुस्तानी रूप है, इस सब्द का उल्लेख पी डी कर्टील ने अपने शब्दकोष में दी हुई परिभाषाओं में नहीं किया है। इन छोटे अफिकारियों के अफसर को 'कूरबेगी' का ओहदा दिया जाता था, उसके अधीनस्थ कर्मचारियों के पास बादशाह के निजी प्रयोग में आने वाले अस्त्र शन्त्रों का भण्डार रहता था। इस सम्बन्ध में, अकबर के शासन काल में जो व्यवस्था प्रचलित थी, उसका विस्तृत वर्णन 'आईन' भाग एक के पृ० १०६ और ११० में देखा जा सकता है। बर्नियर (पृ० ३७१) के अनुसार कूर (जिसका वह कूर्स

लिखता है) बादशाह के आगे आगे चलते थे। इन पताकाओं और शाही प्रतीकों के अगल बगल अनेक बादक विगुलता से और नक्कारे बजाते रहते थे।

इलाहाबाद के श्री मुरलीधर द्वारा रचित एक हिन्दी कविता में कूच करती हुई सेना, पताकाओं और शाही प्रतीकों तथा चारां तरफ बजते हुये विभिन्न वाद्य यंत्रों का अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है, पाठकों की सुविधा के लिये इस कविता की कुछ पंक्तियों को नीचे उद्धृत किया जाता है—(पंक्तियाँ ३५५ से ३७६ तक) :—

फजिर शाह शाह साजेउ। सकल वृन्द गयन्द गाजेउ।
बाजो नौबत गहगही तब। भई नौवत रावही अब।
घोर धौंसा धुनि धकारत। फतह फतह मनु पुकारत।
हो इ हो करनाई बाजत। शाहन्शाह हीं सगुन साजत।
सगुन सो सुरनाई वाजी। सिद्धीराम करी जू साजी।
'झाँरू झाँरू' झाँझ झनकत। खनत लागि ही घन्ट खनक्खत।
फीलवान निशान झहारत। मानहु आगे फतह फहारत।
आठ पत्र अनूप राजत द्वन्द्र स्यों प्रभुताई राजत।
झालरी मुल तासु लच्छक। मनहु तारा छत्र रच्छक।
आफताब विहास के कर मनहु रच्छक साँग दिनिअर।
तोग सुन्दर माह माही। सगुन की मनु देत गवाही।

सैनिक संगीत और नौबत—एक साथ, एक निश्चित अवधि के क्रम के अनुसार धौंसा (ड्रम) पीटने, झाँझ बजाने और करनाई (ट्रम्पेट) बजाने को राजसत्ता का प्रतीक समझा माना जाता था। प्रायः ये वाद्य यंत्र शाही शिविर के सदर दरवाजे पर बने एक शिविर में रक्खे जाते या और इस शिविर को नौबत या नक्कार खाना कहा जाता था (नक्कारा एक प्रकार के धौंसे (ड्रम) को कहते हैं)। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये देखिये आईन भाग एक, पृ० ५१। जब मैं इस अंश को पढ़ रहा था तो मुझे मालूम हुआ कि २४ घन्टे में ९ बार नक्कारखाने से नौबत होता थी, परन्तु सामान्यतः यह माना जाता है कि प्रत्येक पहर के अन्त में एक बार नौबत बजती थी; अर्थात २४ घन्टे में आठ बार यह नौबत शाही सम्मान के प्रतीक रूप में बजाई जाती थी। विभिन्न लेखकों ने नौबतों की विभिन्न संख्याएँ दी हैं। हाजी मुस्तफा (सीर भाग १, पृ० ३, नोट ३१) ने लिखा है कि प्रारम्भ में यह नौबत राजसत्ता का प्रतीक मानी जाती थी, यद्यपि बाद में सूबेदारों ने भी इसे अपने सम्मान तथा अधिकार का प्रतीक बना लिया। इसके पश्चात उसने लिखा है कि "यह नौबत चार बार दिन में तथा एक बार रात्रि में और इसके अतिरिक्त हर्षसूचक समाचारों की घोषणा करने के लिये भी बजाई जाती थी।" कुछ अन्य लोगों ने लिखा है कि २४ घन्टे में केवल तीन बार नौबत बजाई जाती थी। फिट्ज़क्लेरेन्स (पृ० १९२) लिखता है, कि लगातार

नौबत बजवाना पद और शक्ति के प्रदर्शन के श्रेष्ठतम प्रतीकों में से एक है। प्रत्येक महल के सदर फाटक के ऊपर एक गैलरी या बालकनी बनी होती है जिसमें से यह शोर मचाने वाले वाद्ययंत्रों को २४ घन्टे में कई बार एक निश्चित अवधि के बाद बजाया जाता है। इन यंत्रों में से एक यंत्र (नक्कारा) प्रत्येक देशी सेना के सेनापति के आगे आगे, हाथी पर रख कर ले जाया जाता है। जब मैं मुर्शिदाबाद में था, तो मैंने इस बात पर गौर किया कि नवाब के आदेशानुसार सदैव नौबत बजती रहती थी। उसके महल में चार फाटक थे और प्रत्येक फाटक के ऊपर एक-एक नक्कारखाना था, उनमें से प्रत्येक नौबत हर १५ वें मिनट पर बजती थी जिनकी धमधमाह से सारा वातावरण अकल्पनीय रूप से भयावह लगने लगता था।" कूच करते समय सेना के आगे जो धौंसे आदि बजाये जाते थे उनके विषय में भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन कैप्टेन जार्ज विलियमसन ने अपनी पुस्तक "ओरियंटल फील्ड स्पोर्टस" (पृ० ७६) में दिया है।

अभी हमने देखा कि ये बाजे एक निश्चित की हुई अवधि के अन्तर पर बादशाह के उपस्थित रहने पर बजाये जाते थे। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हाजी मुस्तफा ने लिखा हैं, कोई खुशखबरी या अन्य महत्वपूर्ण समाचारो की घोषणा करते समय भी नौबत बजाई जाती थी। फिट्जक्लेरेन्स (पृ० १३८) के अनुसार बादशाह अपना कोई अभियान प्रारम्भ करता था, तो उसके ससैन्य मार्च के दौरान में भी लगातार नौबत बजाई जाती थी। कूच करने की सूचना सेना को नक्कारों की मेघ गर्जना द्वारा हीं मिलती थी। उदाहरण के लिये शाहजादा अली जौहर ने ११७१ हि० में कूच करने का हुक्म नक्कारों की आवाज के माध्यम से ही दिया था (तारीख-ए-आलमगीर सानी, फोलियो १५५ बी) या जैसा कि मनची (भाग २, पृ० ६८-) निश्चयात्मक रूप से लिखता है, कूच करने के लिये ही नक्कारे बजवाये जाते थे। यदि बादशाह इस अभियान में सम्मिलित नहीं होता था, तो सेनानायक .ही, जिसे अपने पद के योग्य सम्मान एवम् अधिकार प्राप्त होते थे, अपने निजी नक्कारों को बजवाता था और जैसा कि हार्न पृष्ठ १७ पर लिखता है कि नक्कारे की आवाज इस तथ्य का प्रतीक थी कि उस समय सेना की कमान किसी बड़े तथा महत्वपूर्ण अमीर या सरदार के हाथ में है और उसकी अधीनस्थ सेना सम्भवतः बहुत बड़ी है। लड़ाई प्रारम्भ होते समय भी नक्कारे बजाये जाते थे। 'तारीख ए आलमगीर सानी' (फोलियो ४६ ए) से हमें यह सूचना मिलती है कि रात को जब बादशाह के शिविर से सिंहा (कारनाई हार्न) बजाया जाता था, तो उसका अर्थ होता था कि सेना अगले दिन भी उसी पड़ाव पर विश्राम करेगी। एक पुस्तक में हमें एक अमीर के विषय में बताया गया है कि उसने अपनी सेना में नक्कारा बजाने के लिये १०० आदमियों को मियुक्त किया था जिसका उद्देश्य यह था कि यदि युद्ध में अपने पक्ष की सेना हारने लगे, तो

वे एक साथ पूरे जोर से नक्कारों को पीटते थे जिससे कि उनकी भयंकर आवाज से शत्रु दल के हृदय में भय पैदा हो जाय (म-आसिर-उल उमरा, भाग १, पृ० ५१४)। युद्ध के बाद विजयीदल अपने विजय की घोषणा के प्रतीक के रूप में नक्कारे बजवाता है। सामान्य अवसरों पर भी किसी अमीर उमरा के आगे आगे नौबत बजाई जाती थी। अन्क्वेटिल डुपरन कुछ समय तक सिराजुद्दौला के दरबार में रहा था, वह 'जेन्द अवेस्ता' (भाग १, पृ०) में लिखता है कि सन १७५७ में, जब नवाब अपनी टकसाल का निरीक्षण करने के लिये महल से बाहर निकला तो उसके आगे नौबत बज रही थी। मेरे विचार से, बिल्कुल आँखों देखा यह वर्णन, उस समय प्रचलित प्रथा का पूर्ण तथा यथार्थ चित्रण करता है।

मुगल काल में सेना में प्रयोग किये जाने वाले नक्कारे लोहे की कड़ियों से मढ़े होते थे और आकार में यूरोप की घुड़सवार सेनाओं द्वारा प्रयोग किये जाने वाले नक्कारों (केटिल ड्रास) से दुगुने बड़े होते थे (वीर भाग १, नोट ३१)। इन नक्कारों में एक तरह का छोटा वाद्य यन्त्र भी होता, था जिसे डंका (शेक्सपियर, पृ० ११२६) कहा जाता था। यह लकड़ी का बना होता था, इसका आकार नक्कारा तथा लकोरा के बीच में होता था। डि ला फ्लोट (पृ० २११) ने उनके करनाई (प्लेट) की आवाज की तुलना, फ्रांस के चरवाहों द्वारा बजाये जाने वाले 'गोट हार्न' नामक वाद्य यन्त्र की आवाज से की है, दोनों में, उसके अनुसार केवल एक फर्क होता है कि करनाई (प्लेट) की आवाज कुछ तेज होती है। जी केरेरी (भाग ३, पृ० १८२) ने लिखा है कि एक बार उसने एक शिविर के सामने टहलते हुये एक कोतवाल को ताँबे की बनी हुई आठ बलिश्त लम्बी एक करनाई बजाते हुये सुना जिसकी आवाज सुन कर उसे बहुत हँसी आई।

रात्रि-कालीन पहरे की व्यवस्था —(पेट्रोलिंग) रात के समय कुछ टुकड़ियों को कैम्प के चारो तरफ फैला दिया जाता था, जिससे वे पूर्ण रूप से सतर्क रहे और कैम्प पर कोई शत्रु आक्रमण न कर सके और यदि ऐसी आशंका हो तो शेष सेना को भारी विपत्ति की सूचना तुरन्त मिल जाय। चौतरफा निरीक्षण तथा सुरक्षा का उत्तरदायित्व वहन करने वाली इन टुकड़ियों को तिलायह कहा जाता था (मीरात-उल-इस्तिला, फोलियों २०२ वीं, स्टीन गैस पृ० ८१७)। ११५१ हिं० (१७३८ ई०) में, जब मुहम्मद शाह ने नादिर शाह की प्रगति को अवरुद्ध करने के लिये करनाल की तरफ बढ़ रहा था, उस समय भी रात्रि कालीन पहरों की व्यवस्था निश्चित रूप से प्रचालित थी। अशाब (फोलियों १८२ वीं) के अनुसार इसे 'शब-गारद' कहा जाता था, जो कि उनके कार्य के अनुसार उचित प्रतीत होता है (स्टीन गैस, पृ० ७३२)। शिविर के आगे, प्रति रक्षात्मक दृष्टि से स्थापित की जाने वाली चौकियों को अशाब (फोलियों १८२ ए०) के अनुसार तलियः जो कि अपने

शब्दार्थ के अनुसार उचित प्रतीत होता है (स्टीन गैस, पृ० ८१६)। ११६६ हि० (१७५५-५६) में लिखते हुये मुहम्मद अली बुरहानयुद्दी ने भी, अपनी पुस्तक 'मीरात-उल-सफा' (फोलियों ६६ ए) में इन पहरे वाली चौकियों के लिये तलियः शब्द का ही प्रयोग किया है। कैम्प की आंतरिक सुरक्षा के सम्बन्ध में बर्नियर ने पृ० ३६६ पर, उस समय प्रचलित पहरे के ढंग तथा सम्बन्धित अधिकारियों का वर्णन इस प्रकार किया है। उस समय, कैम्प की भीतरी सुरक्षा के लिये जो पहरेदार नियुक्त थे, वे प्रत्येक घटे पर, 'खबरदार' की ललकार के साथ, कैम्प के चारो ओर, प्रत्येक ५०० कदम की दूरी पर गोलियाँ छोड़ते रहते थे और कोतवाल, अपने नक्कारे वालों तथा पहरेदारों के साथ सदैव दौरा करता था; उनका यह सारा प्रवन्ध केवल इसलिये था कि चोर या डाकू कैम्प में न घुसने पाएँ, परन्तु पहरे की यह अवस्था इतनी संगठित नहीं थी कि शत्रु के किसी आकस्मिक आक्रमण का सामना कुछ देर तक किया जा सके। बाद के काल में, सम्भवतः इतनी सतर्कता भी नहीं रह गई थी और वे अचानक होने वाले आक्रमणों का सामना करने के लिये कोई तैयारी नहीं रखते थे। १८ वीं शताब्दी में ऐसी कई घटनाएँ हुईं कि प्रायः जब भी यूरोपियनों ने रात्रि में किसी देशी सेना पर आक्रमण कर दिया, तो वे कभी भी पूर्ण रूप से व्यवस्थित हो कर, पूर्ण साहस के साथ सामना करने के लिये तैयार न हो सके और मुफ्त में मारे गये। जब कभी कोई देशी सेना, अंग्रेजों की तरफ से, युद्ध क्षेत्र में जाती थी, तो उद्देश्य चाहे कितना ही गम्भीर क्यों न हो, वे कभी भी, अपनी रात्रिकालीन सुरक्षा की परवाह नहीं करते थे और न तो किसी अचानक आक्रमण में साथ देने के लिये वे सुबह से पहले अपने विस्तर छोड़ते थे। शाम के कुछ समय पश्चात् ही देशी सैनिक खूब डट कर भोजन करते थे, उनमें से अधिकांश किसी न किसी नशीले पदार्थ का सेवन करते थे और लगभग आधी रात के पहले ही उनका पूरा कैम्प जिन्दा लाशों के कब्रिस्तान की तरह प्रतीत होने लगता था। (कैम्ब्रिज, 'वार' भूमिका पृ० १३)। कैम्प की आन्तरिक सुरक्षा के लिये एक कोतवाल होता था, जिसकी सहायता के लिये एक सहायक भी रहता था जिसे मुहतसिब (सेन्सर) कहा जाता था। ये दोनों अधिकारी यही अपना एक मात्र कर्तव्य समझते थे कि उनके कैम्प में कोई ऐसा अनुचित कार्य न होने पावे जो इस्लाम के कानूनों के खिलाफ हो, जैसे जुआ खेलना, शराब पीना या इसी प्रकार की अन्य चीजें।

<u>बादशाह के आवागमन के साधन, एवम् अन्य सम्बन्धित प्रथाएँ</u>—प्रायः शाह आलम बहादुर शाह (१७०७-१७१२) एक चलायमान सिंहासन पर यात्रा करता था जिसे तख्त-ए-रवान कहा जाता है। बर्नियर ने पृ० ३७० पर इसका वर्णन किया है। 'सीर' भाग २, पृ० १७१ के नोट नं० ६५ के अनुसार यह एक तरह की कुर्सी होती थी जो बाँस के दो खम्भों पर टिकी रहती थी और इसे उठाने के लिये

आठ आदमी लगते थे जो इस आसन को अपने कन्धे पर रख कर ढोते थे। इसमें दो या तीन आदमियों के बैठने की जगह होती थी। इस कुर्सी के ऊपर छतरी नुमा कपड़ा लगा रहता था और धूप की किरणों से चेहरे को बचाने के लिये सामने भी कपड़े की एक आड़ लगी रहती थी। इस तख्त-ए-रवान (चलायमान सिंहासन) के आगे-आगे यसावलों (स्टीन गैस पृ० १५३१) का दल चलता था, जिनका कार्य था बादशाह की सवारी के आगे के मार्ग को साफ करना और शान्ति बनाये रखना (मालूमात-उल-आफाक, फोलियो ७६ वीं)। कभीं-कभी बहादुर शाह घोड़े पर भी चलता था, परन्तु युद्ध क्षेत्र के अलावा वह कभी भी हाथी पर नहीं सवार होता था।

यह प्रथा सामान्यतः प्रचलित थी कि जब बादशाह गुजरता था, तो उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये, अपने शिविरों के द्वार पर खड़े हो कर सभी शाहजादे, अमीर-उमरा और मन्सबदार सोने की मुहर या अन्य कोई कीमती चीज बादशाह को नजर करते थे। विभिन्न इतिहास की पुस्तकों में इस प्रथा के प्रचलन के अनेक उदाहरण मिलते हैं, दानिशमन्द खाँ, कामवर खाँ तथा बर्नियर (पृ० ३८२) ने भी इसका उल्लेख किया है। डच दूत हर कोटेलर जब १७१२ में लाहौर में था, तो उसने भी बहादुर शाह के कैम्प में इस प्रकार के दृश्य को देखा था। बर्नियर ने एक दूसरी प्रथा का भी वर्णन किया है जिसके अनुसार बादशाह कभी एक तरफ के द्वार से कैम्प में प्रवेश करता था तो कभी दूसरे तरफ के द्वार से। 'मीरात-उल-इस्तिला' (फोलियो ८०) के अनुसार इस प्रथा को तगैयुर-ए-राह दादन कहा जाता था, या तो ऐसा किसी अन्ध विश्वास के कारण अथवा अपनी सुरक्षा की दृष्टि से किया जाता था।

नदियों को पार करना—इस सम्बन्ध में हार्न ने पृ० २५ पर पी० डी कर्टील के 'मेम्वायर्स' भाग २, पृ० ३३६ पर दिये हुये वर्णन को उद्धृत किया है, जिसमें उस समय का वर्णन है जब कि बाबर नावों के पुल द्वारा कनौज के निकट गंगा नदी को पार कर रहा था। यह तरीका उस समय सामान्यतः नदियों को पार करने में प्रयोग किया जाता था। यदि किसी नदी में जल अथाह होता था तो उसे पार करने के लिये अनेक नावों को जोड़ कर एक अस्थायी पुल बना दिया जाता था और सभी लोगों के पार हो जाने पर यह पुल तोड़ दिया जाता था। ऐसे पुलों का प्रयोग आज भी किया जाता है और गंगा नदी में ही, वर्षा ऋतु को छोड़कर अन्य मौसमों में, कितनी ही नदियों में नावों के पुल दिखाई पड़ते हैं जिन्हें वर्षा ऋतु में, नदियों के बढ़ जाने पर तोड़ दिया जाता है। इलियट, भाग ६ (पृ० ३६३) के एक अंश का विवरण देते हुये हार्न इस तथ्य को बहुत दृढ़ता पूर्वक व्यक्त करता है कि हाथी भी इन नावों के पुलों पर से पार हो सकते थे, यद्यपि यह हमारे दैनिक अनुभव की चीज है। इस कार्य के लिये एक विशेष अधिकार नियुक्त किया जाता था जिसे

मीर बहर कहा जाता था; इन पुलों के निर्माण तथा नावों को एकत्रित करने का पूर्ण उत्तरदायित्व उसी के ऊपर रहता था। इस प्रकार के एक पुल का, बर्नियर ने पृ० ३८० पर अत्यन्त यथार्थ और पूर्ण वर्णन किया है। वह लिखता है—"सेना नावों से बने हुये दो पुलों द्वारा नदियों को पार करती थी जिन्हें बहुत कुशलता तथा मजबूती से बनाया जाता था, इन दोनों पुलों के बीच की दूरी २००-३०० कदम तक होती थी। जनवरों को भीगी लकड़ी पर फिसलने से बचाने के लिये बीच की पटरियों पर घास, पत्ती आदि को मिट्टी में मिला कर फैला दिया जाता है जिससे एक पतली कच्ची सड़क की तरह का मार्ग तैयार हो जाता है। पुल के दोनों सिरों पर किनारों की ओर अधिक असुविधा और गड़बड़ी होती है क्योंकि इन्हीं स्थानों पर भीड़ अधिक होती है। यही नहीं, जब नदी के किनारे से पुल तक का रास्ता गीली मिट्टी से बना होता है तो यह रास्ता इतना ऊँचा नीचा हो जाता है और गड्ढों से भर जाता है कि घोड़े और सामानों से लदी हुई गाड़िया इन गड्ढों के कारण डगमगा कर एक दूसरे से भिड़ने लगते हैं और लोग इन आपस में उलझे हुये जानवरों के ऊपर से कूद फाँद कर बहुत ही अव्यवस्थित ढंग से पुल पर चढ़ते हैं। यदि सेना किसी अति आवश्यक कार्य से बढ़ रही हो और पुल को एक ही दिन में पार करना पड़ जाय, तो अव्यवस्था सीमा पार कर जाती है। सामान्यतः सेना को इस दुर्दशा से बचाने के लिये बादशाह नावों के पुल के मील डेढ़ मील पहले ही अपना पड़ाव डाल देता है और दो एक दिन बाद, जब पूरी सेना सहूलियत से एकत्रित हो जाती है और गीला मार्ग सूख जाता है तो, वह स्वयम् उस पार जाता है और तट से मील डेढ़ मील दूरी पर फिर अपना खेमा गड़वा कर दो तीन दिनों तक इन्तजार करता है ताकि पूरी सेना सहूलियत से पार हो कर एकत्रित हो जाय।" उपरोक्त उद्धृत अंश आखिरी वाक्य की पुष्टि बहादुर शाह (१७०७-१७१२) के शासन काल में नदी पार करने की कितनी ही घटनाओं से की जाती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नावों का पुल बनाने के शुद्ध हिन्दुस्तानी ढंग में एक कमी थी; और वह कमी यह थी कि वे वजनी और कोटेदार लोहे के लंगरों का प्रयोग नहीं करते थे, बल्कि उनके स्थान पर वे एक बहुत ही असुविधा जनक तरीका अख्तियार करते थे। वे लकड़ी के बड़े-बड़े खम्मों को नदी की तलहटी में धँसाते थे जिसके फलस्वरूप ये पुल अधिक सुरक्षित नहीं होते थे। यही नहीं, जो कार्य एक दिन में किया जा सकता था, उसके लिये इस तरीके से आठ या दस दिन लग जाते थे (मेजर आर० ई० राबर्ट्स 'एशियाटिक मिसेलेनी' भाग १, पृ० ४१६)।

अशाव के 'शहादत-ए-फर्रुखसियर' (फोलियों ११२ वीं) में एक स्थान पर मराठों द्वारा नदी में पार किये जाने योग्य स्थानों पर निशान बनाने के सम्बन्ध में एक अत्यन्त सुविधा पूर्ण उपाय का वर्णन किया गया है। ११४८ हि० (१७३५

ई०) में पिला जी जादव नामक मराठा सरदार ने सआदत खाँ, बुरहान-उल-मुल्क पर आक्रमण करने के लिये यमुना नदी को पार किया था। जिस स्थान पर उसने इस नदी को पार किया था, वहाँ उसने नदी में पहले से ही बाँस के वृक्षों को लगवा दिया था जिससे यह स्पष्ट पता लग सके कि पानी किस स्थान पर अधिक छिछला है, जिससे कि वापस लौटते समय उन्हें नदी पार करने योग्य स्थान को ढूढ़ने में कोई कठिनाई या देर न हो। परन्तु दुर्भाग्यवश उसे अपनी इस सतर्कता से लाभ उठाने का अवसर प्राप्त न हो सका क्योंकि इस युद्ध में मराठे इतनी बुरी तरह पराजित हुये कि वे अन्यत्र अव्यवस्थित ढंग से जिधर ही राह मिली, भाग खड़े हुये और अपने पूर्वनिश्चित स्थान पर पहुँच ही न सके, कुछ लोग तो नदी में डूब गये, तथा जो बच गये, उन्हें बन्दी बना लिया गया।

दर्रों में से गुजरना—मुगल सेना जब भी कूच करती थी, तो उसकी सैनिक संख्या बहुत अधिक होती थी और वे कितने अनुशासित ढंग से चलते थे, इसका वर्णन हम अनुशासन वाले अध्याय में कर चुके हैं। जब इस विशाल तथा अनुशासनहीन सेना को दुर्गम पहाड़ी रास्तों पर से गुजरना पड़ता था, तो यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सैनिकों को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था और यदि इसी बीच किसी सक्रिय शत्रु से मुठभेड़ हो जाती थी, तो कभी-कभी सारी की सारी सेना भयकर दुर्दशा को प्राप्त हो कर समाप्त हो जाती थी। इस प्रकार की कठिनाइयों के बहादुर शाह को, कई बहुत भयकर अनुभव हुये थे जब अपने पिता के शासन काल के अन्तिम दस वर्षों में वह काबुल का सूबेदार था। वह जाड़े में पेशावर में तथा गर्मियों में काबुल में रहता था और जब प्रति वर्ष उसे पेशावर से काबुल आना पड़ता था तो उसे बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था और प्रायः उसे अपनी शक्ति के बजाय अनेक चालाकियों और उपायों का आश्रय लेना पड़ता था 'नोट्स' ८४, फूट नोट (पृ० ८६, ६०, फूट नोट, ३७२)। चूँकि बहादुर शाह काबुल में अपने निवास की अवधि में पहाड़ी सफर को कठिनाइयों के सम्बन्ध में काफी अनुभव प्राप्त कर चुका था, इसलिये जब भी उसे किसी सँकरे मार्ग का अवलम्ब लेना पड़ता था तो वह काफी सतर्कता से काम लेता था। जब वह दक्षिण से हिन्दुस्तान लौटते समय २३ वीं शव्वाल, ११२१ हि० (२५ दिसम्बर १७०६) को औरंगाबाद और बुरहानपुर के बीच में स्थित फर्दापुर दर्रे के पास पहुँचा तो उसने पहले ही अपने बड़े लड़के जहाँदर शाह को आज्ञा भेज दी कि वह सेना के साथ दर्रे के दूसरे छोर पर पहुँच कर खुले मैदान में मोर्चे बन्दी कर ले ताकि उसे दर्रा पार करने पर या दर्रे के बीच में ही किसी शत्रु से मुठभेड़ न करना पड़ जाय (कामवर खाँ)। इसके कुछ ही समय बाद जब वह अपनी सेना के साथ मुकन्द दर्रे के पास पहुँचा तो उसने फिर उतनी ही सतर्कता बरती क्योंकि उदयपुर,

जोधपुर और जयपुर के प्रभावशाली सरदार खुले रूप से उसके विरोधी हो उठे थे और दर्रे में या दर्रे के पार निकलते ही उस पर अचानक आक्रमण करके उसे समाप्त कर सकते थे। कोटा रियासत में स्थित यह छोटी सी घाटी आँग्ल-भारतीय इतिहास में भी एक घटना के कारण बहुत खतरनाक साबित हो चुकी है जब कि जुलाई १८०४ में कर्नल मान्सन को जसवन्तराव होल्कर से हुये एक मुकाबिले के पश्चात् लौटते समय इस दर्रे में बहुत भयंकर दुर्दशा का सामना करना पड़ा था (थार्नटन 'गजट' पृ० ६२४; 'वार' पृष्ठ ३५८-३६३; वेलेजली, 'डिस्पैचेज' भाग ४, पृ० १७८)।* बहादुर शाह इस दर्रे की भयंकरता से पूर्व परिचित था इसलिये उसने पहले से ही काफी सतर्कता बरती। इस दर्रे के पास पहुँचने से एक हफ्ता पहले ही, इसे पार करने की एक बुद्धिमत्ता पूर्ण योजना बना ली गई थी, बहादुर शाह को यह पहले से ही पता था कि इस दर्रे में से गुजरने वाले सड़क की चौड़ाई मुश्किल से १२ फीट थी। अपनी योजनानुसार उसने २५ वीं मुहर्रम, ११२२ हि० (२५ मार्च, १७१० ई०) को फिर अपने बड़े बेटे जहाँदर शाह को मुख्य सेना के आगे जा कर तंग घाटी के निकास द्वार को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने का भार सौंपा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सँकरी घाटी को पार करने में बहादुर शाह की पूरी सेना को आठ दिन लगे थे, क्योंकि बादशाह ने छठवें सफर (५ अप्रैल) के पहले दर्रे के ऊपर की पहाड़ो की चोटी पर स्थित अपने कैम्प से बाहर नहीं निकला, जहाँ कि वह २६ मार्च से अपना पड़ाव डाले पड़ा था (कामवर खाँ)।

हरकारे और जासूस या खुफिया—चाहे युद्ध काल हो अथवा शान्ति काल, मुगलों का खुफिया विभाग सदव सक्रिय रहता था। ये जासूस जो खबर ले आते थे, उनकी खबरों को महत्व दिया जाता था, भले ही उनकी खबरें अफवाहों और निरर्थक वार्ताओं पर ही आधारित हों। दानिशमन्द खाँ ११ वीं रमजान ११२० की तारीख में लिखता है कि शाही खिदमत में कुल लगभग चार हजार जासूस (या हरकारे) नियुक्त थे जो मुगल साम्राज्य के कोने-कोने में फैले हुये थे। इन हरकारों के मुखिया या प्रधान अधिकारी को दरोगा-ए-हरकारा कहा जाता था, जो बहुत ही प्रभावशाली होता था और उससे सभी भयभीत रहते थे। उसका विभाग पत्रवाहन विभाग की एक शाखा मात्र था जिसकी व्यवस्था एक विशेष अधिकारी द्वारा की जाती थी जिसे दरोगा-ए-डाक कहा जाता था। जब सेना युद्ध क्षेत्र में होती थी तो इन जासूसों और हरकारों को सभी दिशाओं में फैला दिया जाता था। 'हरकारा' (हर कार्य को करने वाले) शब्द की उत्पत्ति का स्थान यद्यपि दक्षिण है, परन्तु मुगलों ने पूर्ण रूप

---

* कर्नल मॉन्सन की वापसी का सर्वश्रेष्ठ वर्णन सम्भवतः फ्रेजर लिखित 'स्किनर' किया गया है—('स्किनर' भाग २, पृ० ७-१५, ३१-३५)।

से इस शब्द को ग्रहण कर लिया था। आधुनिक समय में इस शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिये किया जाता है जो डाक के थैलों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाते हैं। पत्र तथा फरमान (आदेश पत्र) या तो साधारण डाक से भेजे जाते थे, जिसकी व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये पैदल हरकारों को नियुक्त किया जाता था, अथवा अधिक महत्व पूर्ण तथा आवश्यक पत्रों को विशेष दूतों से भेजा जाता था जो ऊँटों या ऊँटनियों द्वारा यात्रा करते थे। यदि, जिस व्यक्ति को पत्र लिखा जाता था, वह बहुत प्रतिष्ठित होता था अथवा पत्र में लिखी हुई बात बहुत महत्वपूर्ण एवम् आवश्यक होती थी तो उस पत्र को शाही राजदण्ड होने वाले सैनिकों में से कोई एक व्यक्ति निश्चित स्थान तक पहुँचाता था।

सन्धि प्रस्ताव अथवा युद्ध बन्दी का प्रस्ताव—(नेगोसिएशन्स)—यह एक प्रथा सी बन गई थी कि सन्धि प्रस्ताव प्रायः दरवेशों अथवा हिंजड़ों (नपुन्सकों) द्वारा भेजे जाते थे, जिनमें से एक अपनी पवित्रता के कारण, तथा दूसरा अपनी विचित्र व्यक्तित्व और शरीर-रचना के कारण सम्मानित एवन् अवध्य माने जाते थे। इसी सम्बन्ध में अर्सकिन ने अपनी 'हिस्ट्री' के दूसरे भाग के २४८ वें पृष्ठ रर हार्न के पृ० ५१ का एक उद्धरण दिया है जिसके अनुसार जब सन् १५४२ में हुमायूँ सिन्ध से होते हुये भाग रहा था तो जैसलमेर के लंकरणदेव का पुत्र मालदेव जब लूट पाट के विषय में विरोध का प्रस्ताव प्रस्तुत करने के लिये आया, तो उसने अपने आगे-आगे एक सफेद झन्डा फहरवाया था। अशाव (फोलियो २५६ वीं) की पुस्तक में इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण मिलता है। वह लिखता है कि दिल्ली में १७३६ में हुये ऐतिहासिक कत्ले आम के दौरान में जब वजीर के निवास स्थान के चारो ओर छिटकी हुई उसकी सेना, ने जो शाह की सेनाओं का प्रबल प्रति रोध किया तो वजीर के सैनिक शाह के सैनिकों पर हावी होने लगे। अब शाह ने वजीर से शान्ति वार्ता करना आवश्यक समझा और एक दूत के हाथों उसके पास एक पत्र भेजा। जब वह दूत वजीर की सेना के निकट पहुँचा तो उसने पहले एक सफेद वस्त्र फहराया जो कि 'शान्ति और सन्धि का प्रतीक थी और तब अपनी बात कहने के लिये आगे बढ़ा। इस सम्बन्ध में मुझे केवल एक उदाहरण और मिला है, जहाँ शान्ति के प्रतीक के रूप में सफेद पताका फहराई गई थी। प्रसंग है १८१८ में मल्ली गाँव के घेरे का, जहाँ लेक, पृ० १२७ पर लिखता है कि 'किले की रक्षक सेना ने युद्ध बन्दी की पता का फहराई कि अब हम अपने पक्ष के मृतकों और घायलों को युद्ध क्षेत्र से ले जा सकते हैं।"

———

उन्नीसवाँ अध्याय

सेना की दैनिक प्रगति

रेनेल, पृ० ३१७ पर, अपने निजी अनुभवों के आधार पर कहता है कि हिन्दुस्तान में एक साधारण यात्री एक दिन में ११-१२ कोस, अर्थात् लगभग २२-२४ मील तक की यात्रा कर सकता था। परन्तु एक सरकारी हरकारे की गति एक दिन में ३० से ३३ मील तक थी, और संकट काल में, वे और अधिक दूरी तय कर सकते थे। परन्तु गति-सम्बन्धी इन आँकड़ों से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि इसी गति से सेनाएँ भी मार्च कर सकती थी। तनहा अफसरो या छोटीं सैनिक टुकड़ियों के लिये जो सरकारी काम से आते जाते थे, प्रतिदिन की रफ्तार सरकारी तौर पर निश्चित कर दी जाती थी, जो साधारण गति से अधिक ही रहती थी, और कोई आवश्यक अवसर आ पड़ने पर ऐसे आदमियों को, जबर्दस्ती, इस निश्चित गति से भी तेज चलना पड़ता था। परन्तु इसके विपरीत जब सेनाएँ मार्च करती थीं, तो उनकी गति दरबार द्वारा निश्चित गति से बहुत कम होती थी क्योंकि 'धीमी गति और जरा-जरा दूरी पर पड़ाव, भारतीयों की विचार धारा के अनुसार ऐसी चीजें हैं जो बड़े आदमियों को शोभा देती हैं (सीर, भाग १, पृ० १८७, नोट १३१)। बर्नियर (पृ० ३५८) भी यह लिखते हुए, इस धीमी गति का समर्थन करता है कि 'वास्तव में ये बहुत ही धीमी एवम् गम्भीर गति से चलते हैं।"

विस्तृत रूप से लिखे हुये ऐतिहासिक ग्रंथों में, जिनमें एक एक दिन की घटनाओं का वर्णन किया गया है (जैसे कामवर खाँ लिखित 'तजकिरा-ए-सलातीन-ए-चगताइया' और दानिशमन्द खाँ लिखित 'बहादुरशाहनामा') प्रत्येक दिन के सफर की दूरी, काफी सूक्ष्मता के साथ जरीबी या कोस के पैमाने में दी गई है। दूरी से सम्बन्धित यथार्थता तथा सत्यता का प्रमाण भी 'मुकालह' भाग २, (पृ० २१२, प्रथम पंक्ति के एक बयान में मिलता है जिसके अनुसार सेना के पीछे पीछे एक दल तनाब-ए-पैमाइश के साथ चलता था, यह एक डोरे जैसी होती थी जिससे रोजाना किए हुए सफर की दूरी नापने का कार्य किया जाता था। हिन्दुस्तान में इस प्रथा का श्री गणेश बाबर द्वारा किया गया था। १०० तनाब मिलकर एक कोस के बराबर होता था। एक तनाब की लम्बाई चालीस गज होती थी और एक गज की लम्बाई ६ औसत

बालिश्तों (मुश्तों) के बराबर होता था। इस पैमाने के अनुसार एक कोस ४००० गज के बराबर होता था, परन्तु बाद में एक कोस को पाँच हजार गज के बराबर माना जाने लगा था। स्पष्टतः यह पैमाना अकबर द्वारा परिवर्तित कर दिया गया था और तनाब की लम्बाई चालीस गज से बढ़ाकर ५० गज कर दी गई थी (आईन (जैरेट) भाग २, पृ० ४१४)

इस प्रकार की पैमाइश का विवरण मनूची भी देता है; जब आलमगीर सन् १६६३ में दिल्ली से रवाना हुआ तो मनूची भी साथ में था और उसने स्वयम् अपनी आँखों से, इस नाप जोख के कार्य को सम्पादित होते देखा था। (बर्लिन मनुसक्रिप्ट, फिलिप्स १९४५ फोलियो ४८); उसने पैमाइश सम्बन्धित विभिन्न क्रियाओं का क्रमबद्ध एवम् विस्तृत वर्णन किया है :—"कुछ अन्य व्यक्ति सड़क को निम्नलिखित तरीके से नापने के लिये रस्सी के साथ पैदल ही चलते है। जब बादशाह प्रस्थान कर देता है, तो वे शाही शिविर से ही अपना कार्य प्रारम्भ करते हैं। पहले व्यक्ति के हाथ में रस्सी होती है; वह रस्सी के अगले छोर पर, जमीन पर एक निशान बना देता है; और आगे बढ़ जाता है। जब पीछे वाला व्यक्ति, रस्सी का पिछला छोर थामे हुये उक्त निशान लगे हुये स्थान पर पहुँचता है तो जोर से पुकारता है—'एक' इस आवाज को सुनकर आगे वाला व्यक्ति जहाँ पहुँचा होता है, वही जमीन पर निशान लगा कर गिनता है 'दो'- और इसी प्रकार सफर के पूरे दौरान में ये व्यक्ति 'तीन', 'चार' गिनते चले जाते हैं और दूसरा व्यक्ति पैमाइश का हिसाब भी लिखता जाता है। यदि राह में कहीं पूछ बैठे कि सेना कितना सफर कर चुकी है तो वे चटपट गणना करवा करके तदनुसार दूरी बता दिया करते थे।"

डाक्टर हार्न, पृ० ११५ पर लिखता है कि, अपनी खोजों से उसे अभी इतने महत्वपूर्ण तथ्य नहीं प्राप्त हो सके हैं कि वह इस विभाग (पैमाइश) का पूर्ण विवरण दे सके। मैं स्वयम अपने वर्णन के सम्पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता, फिर भी मुझे आशा है कि मैं इस विषय पर कुछ और प्रकाश डाल सकता हूँ।

रोजाना सफर की सरकारी गति—यदि किसी व्यक्ति को दरबार में हाजिर होने का हुक्म दिया जाता था, तो हुक्म भेज दिये जाने के बाद, उस व्यक्ति को किस समय तक दरबार में हाजिर हो जाना चाहिए, इसकी गणना निम्नलिखित ढंग से होती थी (ब्रि० म्यू० सं० १६४१, फोलियो ४० बी)—

(१) हरकारों द्वारा उक्त व्यक्ति के पास सरकारी हुक्म पहुँचाने की गति ३० जरीबी कोस (७८ मील) प्रति दिन।

(२) उक्त व्यक्ति द्वारा सफर की तैयारी के लिए समय-एक सप्ताह;

(३) सफर के दौरान में उक्त व्यक्ति की गति 'जरीबी (नापे गये) कोस अर्थात १८.२ मील प्रति दिन।

सरकारी पैमाइश के पैमाने के अनुसार एक कोस बराबर होता था २०० जरीबों के और एक जरीब में २५ दिरह होते थे; इस प्रकार एक कोस में ५०० दिरह होते थे (ब्रिटिश म्यूजियम संख्या १६४१, फोलियो ५१ए)। निम्नलिखित पंक्तियाँ इस पैमाने को स्मरण रखने के लिये ही बनाई गई होंगी—

"पंज अलक आमद जी गज निकदार-ए-मील
ईमनावज्त बार ई बाशद दलील"

अर्थात '५००० गज मिलकर एक मील की दूरी के बराबर होंगे जिसे सिद्ध करने के लिए ये पक्तियाँ विशेष रूप से लिखी गई हैं। (खुशहाल चन्द, 'नादिर-उज-जमानी', ब्रि० म्यू० ओरिजिनल, १८४४ फोलियो १५६वी)।

यह बात निःसन्देह रूप से मानी जा सकती है कि दिरह, और गज-ए-इलाही, दोनों पैमाने एक ही प्रकार के थे। जो कि, जहाँ तक पता लग सका है और इसे नापा जा सका है, उसकी लम्बाई ३३ इंच हैं। इलियट् 'सप्ली, ग्लास' पृ० ४८०— 'इलाही गज' के अन्तर्गत, और पृ० २२६, प्रिन्सेप—'न्यूजकुल टेबुल्स,' कलकत्ता, १८३४, पृ० ८८, ८६)। इस प्रकार एक जरीबी कोस की लम्बाई होगी ४५८३ गज के अर्थात २.६ मील और तदनुसार सात कोस बराबर सोगा १८.२ मील के। रस्मी, या सामान्यतः प्रचलित कोस की लम्बाई जरीबी कोस की अपेक्षा कम होती थी, एक जरीबी कोस बराबर होता था १.७१ रस्मीं कोस के और तदनुसार एक रस्मी कोस १.५२ मील के बराबर होता था। परन्तु इस रस्मी कोस की लम्बाई सर्वत्र एक ही नहीं मानी जाती थी देश के विभिन्न भागों में रस्मी कोस की लम्बाई अलग अलग है।

उस काल में यात्रा की सामान्य दैनिक गति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें कुछ अन्य स्रोतों का सहारा भी प्राप्त हो सकता है। उदाहरण के लिये खुशहाल चन्द के 'नादिर-उज-जमानी' (ब्रिटिश म्यूजियम २४०२७, फोलियो २४७ बी) से हमें मालूम होता है कि काबुल से १२ कोस के भीतर ही की दूरी पर स्थित एक स्थान से दिल्ली की दूरी ३०६ जरीबी कोस या ५३५-१।२ रस्मी कोस थी, और उस दूरी को तय करने के लिये महीना १५ दिन का समय पर्याप्त माना जाता था। अब यदि हम प्रति दिन की यात्रा की गति का अनुमान लगाना चाहें तो यह कार्य मुश्किल नहीं होगा। इस यात्रा में कुल डेढ़ माह अर्थात ४५ दिन लगते थे, इस हिसाब से प्रति दिन की यात्रा की गति ६-४।५ जरीबी कोस या ११-८।६ रस्मी कोस थी, सम्भवतः सरकारी कागजातों में दैनिक यात्रा की गति यही, या इसी के लगभग, कुछ कम या अधिक, निश्चित रही होगी।

इसके पश्चात् दूसरा स्रोत है, मिरजा मुहम्मद हदीसी, जिसने अपने संस्मरणों में अपनी कई यात्राओं का वर्णन किया है जिनमें वह स्वयम सम्मिलित था। बहादुर शाह की मृत्यु के पश्चात् वह नकोदर, फालूर, अम्बाला और करनाल होते हुये लाहौर से दिल्ली आया था। उसके अनुसार इस मार्ग की लम्बाई १०७ कोस थी। नक्शे पर यह लम्बाई नापने पर लगभग २८८ मील होती हैं, एक कोस बराबर २.६ मील के होता है और इस हिसाब से यह दूरी २७८ मील होती है। उसे इस यात्रा में २३ दिन लगे थे और इस हिसाब से गणना करने पर यात्रा की दैनिक गति आती है, केवल ४.६६ कोस या १२.०६ मील। परन्तु साथ ही यह तथ्य भी स्मरणीय है कि इस यात्रा का अधिकांश भाग उसने बहादुरशाह की विधवा बेगमों के साथ तय किया था जिनके साथ बहादुरशाह का मृत शरीर भी था, इसलिये इस यात्रा की गति निश्चित रूप से, सामान्य गति के बहुत कम रही होगी। बादशाह का मृत शरीर दफन किये जाने के लिये दिल्ली ले जाया जा रहा था, ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि वे बहुत धीमी गति से यात्रा कर रहे थे। इसके पश्चात् दूसरी यात्रा का वर्णन है ११३० हि० (१७१८ ई०) का, जिसमें वह दिल्ली से मुजफ्फरनगर जिले में स्थित जलालाबाद गया था जिसमें उसे पाँच दिन लगे थे, बीच के विभिन्न पड़ावों की जो दूरी उसने दिया है, उन सब की जोड़ने पर इन दो स्थानों के बीच की दूरी ५३ कोस आती है और इस तरह यात्रा की दैनिक गति आती है १० कोस या २७ मील। वहाँ से दिल्ली लौटने में भी उसे पाँच ही दिन लगे थे। उसी व्यक्ति ने फिर आमिल की हैसियत से जालन्धर के दोआबे में स्थित राहून परगने की यात्रा की जिसे उसने १२ दिनों में पूरा किया था। नक्शे पर नापने पर उक्त दोनों स्थानों के बीच की दूरी लगभग २०० मील आती है, अर्थात् औसतन उसकी दैनिक गति १६–२१३ मील थी। एक दूसरा उदाहरण लीजिए, ११२६ हि० में अब्दुल जलील बिलग्रामी को भक्कर से दिल्ली आने में कुल चार माह का समय लगा था और इन दोनों स्थानों के बीच की दूरी ८५० मील है (ओरियन्टल मिसेलेनी, पृ० १३३-२६५, पत्र संख्या ६)। वह लाहौर से होता हुआ दिल्ली आया था। इस हिसाब से उसकी दैनिक गति केवल सात मील से कुछ ही अधिक थी, परन्तु उसकी गति के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नही कह सकते क्योंकि हमें यह नहीं मालूम कि वह मार्ग में कहाँ कहाँ और कितनी देर तक रुका था।

असाधारण द्रुतगति यात्राएँ—ऐसी यात्राएँ, आवश्यकता पड़ने पर की जाती थी और इन्हें ईलगार कहा जाता था। हार्न ने पृ० २१ पर ऐसी यात्राओं का उल्लेख किया है। अकबर के शासन काल में कुछ ऐसी यात्राएँ उल्लेखनीय तेजी के साथ की गई थी जिनमें सबसे महत्वपूर्ण थी सन् १५७३ में अकबर की गुजरात यात्रा

(एलफिन्सटन, पृ० ४४३) । परन्तु बाद के समय में इतनी तेज यात्राओं का प्रचलन लगभग समाप्त हो गया था और प्रायः मराठे अपनी तेज गति से मुगल सेना को बार बार घेर कर परेशान कर डालते थे । यह सत्य है कि मैसूर के विवरण पत्रों में काफी तेज गतियों का लेखा अवश्य है, परन्तु इन तीव्र गतियों का, मुगलों के सैन्य संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं है और न तीव्र गति का यह लेखा मुगल सेना पर लागू किया जा सकता है । हैदर और टीपू सुल्तान की सेनाएँ कार्य कुशलता की दृष्टि से उस समय की देशी सेनाओं के मुकाबले में अपवाद स्वरूप थी और जो कार्य उस समय की मैसूर की सेनाओं ने कर दिखाया, वह अन्य देशी रियासतों के बूते के बाहर था । १७८१ में हैदर ने ढाई दिनों में, अपनी सेना के साथ १०० मील की यात्रा किया था । नवम्बर १७६० में टीपू की पूरी सेना ने दो दिनों में ६३ मील की यात्रा की थी । भारत में ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक वर्षों में ब्रिटिश सेनाओं ने भी इसी प्रकार आश्चर्य जनक गतियों का प्रदर्शन किया था । १८०५ में जनरल स्मिथ की अश्वारोही सेना ने ४३ दिनों में अमीर खाँ का सात सौ मील तक पीछा किया था (ब्लैकर, पृ० २८१) । १८०३ और १८०४ में लार्ड लेक ने भी कुछ आश्चर्यजनक रूप से तेज यात्राएँ की थी ।

सेना की यात्राएँ और गति—बाद के मुगल बादशाहों द्वारा पूरी सेना के साथ की गई अनेक लम्बी यात्राओं के विषय में हमें विस्तृत वर्णन प्राप्त हैं । जब आलगीर की मृत्यु हुई तो, उसके दो पुत्रों में तख्त प्राप्त करने के लिये संघर्ष प्रारम्भ हो गया । उनके पिता की मृत्यु के समय उनमें से एक भाई जमरूद में था, जो कि पेशावर के थोड़ा सा पश्चिम में स्थिति है; और दूसरा भाई दक्षिण में, अहमदनगर में पड़े हुए शाही कैम्प में था । इस तरह उन दोनों के बीच लगभग बारह सौ मील की दूरी थी; अपने पिता की मृत्यु का समाचार प्राप्त होते ही दोनों भाइयों ने एक दूसरे की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया और अन्त में उन दोनों की मुठभेड़, जून १७०७ में आगरा और धौलपुर के बीच में हुई ।

बड़ा लड़का, शाहजादा मुअज्जम, को आगरा पहुँचने में कुल ६२ दिन लगे थे और उसका मार्ग तथा उसे पार करने में जो समय लगा था, वह इस प्रकार है—जमरूद से सिन्ध आठ दिन; सिन्ध से लाहौर उन्नीस दिन; लाहौर से दिल्ली पचीस दिन; और दिल्ली से आगरा १० दिन । यदि नक्शे पर दोनों प्रमुख स्थानों के बीच की दूरी को नापा जाय और उसमें, सड़कों के मोड़ों को, वास्तविक दूरी का १।२ मानकर जोड़ दिया जाय, तो कुल दूरी होगी ६६० मील । इस गणना के अनुसार शाहजादा मुअज्जम की सेनाने औसतन् लगभग १११ मील की दैनिक गति से यात्रा किया था (जिसमें बीच के पड़ाव समय का भी सम्मिलित है) ।

इधर दक्षिण से चला शाहजादा आजमशाह, जो कि आलमगीर का दूसरा पुत्र था; वह लगातार ६२ दिनों तक यात्रा करता रहा। अहमद नगर से औरंगाबाद तक पहुँचने में उसे १४ दिन लगे; इसके बाद वह औरंगाबाद से बुरहान पुर २२ दिन में बुरहान पुर से सिरौज बीस दिनों में, सिरौज से ग्वालियर उनतीस दिनों में तथा ग्वालियर से धौलपुर ६ दिनों में पहुँचा। नक्शे पर अहमद नगर और धौलपुर के बीच की दूरी ५०५ मील है और इतनी लम्बी यात्रा करने में आजमशाह को कुल ६२ दिन लगे थे, अर्थात् उसकी प्रगति की दैनिक गति औसतन् केवल ५।४८ मील थी जिसमें रास्ते के छोटे बड़े पड़ावों में लगा समय भी सम्मिलित है। इस सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख कर देना अनुचित नहीं होगा। इस यात्रा के वर्णन में हमें बताया गया है कि औरंगाबाद से बुरहानपुर की दूरी ५६।१।२ कोस है, जिसे आजमशाह तथा उसकी सेना ने १८ दिन चलकर और चार दिन पड़ाव डालकर इस दूरी को तय किया और इस प्रकार इस यात्रा का दैनिक औसत ३।१।४ कोस (२६६-८ मील) है जिसे उसकी सेनाने १७ दिनों में पार किया था और इस प्रकार औसत दैनिक गति ६·७ कोस (१७·४२ मील) थी। नक्शे की माप के अनुसार यह दूरी २४२ मील है और इश प्रकार इस सेना की दैनिक यात्रा की औसत गति १४-२ मील थी।

ऊपर जिन यात्राओं का वर्णन किया गया है, उन्हें अत्यन्त नाजुक परिस्थितियों में प्रारम्भ किया गया था और हालात ऐसे थे कि उन दोनों ही शाहजादों को जल्दी से जल्दी दिल्ली पहुँचकर अपना मोर्चा कायम करना था। अतः इन दोनों सेनाओं की गति से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मुगल सेना की अधिकतम सम्भावित दैनिक गति का औसत क्या था। सामान्य अवसरों पर मुगल सेना एक रोज में कभी भी ४।१।२ कोस (११-७ मील) से अधिक का सफर नहीं करती थी और कभी कभी तो यह सेना १।१।४ कोस (३-२५ मील) चल कर ही पड़ाव डाल देती थी। जब बहादुरशाह ने आगरा से दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और फिर अजमेर होता हुआ लाहौर गया तो इतिहासकारों के अनुसार पड़ावों को छोड़ कर उसे कुल ३४० दिन लगे थे; अधिकांश मार्गों में वह एक दिन में ३३।१।२ कोस (७-८ से ६-१ मील) से अधिक नहीं चला था शुक्रवार के दिन बादशाह कतई यात्रा नहीं करता था; रमजान के महीने में भी, रोजे के कारण काफी लम्बे समय तक यात्रा नहीं की गई थी; इस यात्रा से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों को एक तालिका के सहारे काफी सीमा तक स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका अगले पृष्ठ पर देखिये

स्थान का नाम		यात्रा के दिनों की संख्या	पड़ावों की संख्या	दिनों की कुल संख्या	कुल तय की हुई अनुमानित दूरी मीलों में	दैनिक यात्रा की औसत गति (पड़ाव के दिनों को छोड़कर) मीलों में
कहाँ से	कहाँ को					
आगरा	जयपुर	२०	५०	७०	१५५	७-७५
जयपुर	मेड़ता	१६	१२	२८	१४०	८-७५
मेड़ता	अजमेर	१४	१७	३१	४५	३-२१
अजमेर	बुरहानपुर	४०	३६	७६	४२७	१०-६७
बुरहानपुर	हैदराबाद	६१	१४४	२०५	३६०	५-६
हैदराबाद	औरंगाबाद	४४	८७	१३१	३१५	७-१५
औरंगाबाद	बुरहानपुर	१५	३८	५३	१३५	६-०
बुरहानपुर	नर्बदा तट	११	१७	२८	७२	६-५४
नर्बदा तट	अजमेर	५०	१३०	१८०	३५५	७-१
अजमेर	सोनपत	२१	६७	११८	३१८	१५-१४
सोनपत	ज्ञानेश्वर	८	११	१६	६८	८-५
ज्ञानेश्वर	साधौर से आगे	७	८	१५	४८	६-८५
साधौर	लाहौर	३३	२००	२३३	२२०	६-६६
योग		३४०	८५०	११६०	२६५८	७-८१

बहादुर शाह की यह यात्रा १२ नवम्बर १७०७ से आरम्भ हुई थी और वह ११ अगस्त १७११ को लाहौर पहुँचा था; इस तरह इस दौरान में कुल १३६६ दिन लगे जिसमें से ११६० दिनों का हिसाब ऊपर दिया गया है। शेष १७६ दिन, पहले कालम में दिए हुये प्रमुख स्थानों में से कुछ में बिताये गये थे।

सैनिक यात्रा की गति के सम्बन्ध में एक उदाहरण और प्राप्य है, जब कि दारा शिकोह को कन्धार पर पुनः अधिकार करने के लिये भेजा गया था। उसे मुल्तान से कन्धार जाने में कुल ३३ दिन (पड़ावों को छोड़कर) लगे थे, (रैवर्टी, 'नोट्स' पृ० २२)। यदि हम यह मान लें कि वह अपनी इस यात्रा के दौरान में वह बोलन दर्रे से होकर गुजरा, तो अनुमानतः उसकी यात्रा की कुल दूरी १०८ मील रही होगी और इन आँकड़ों के अनुसार उसकी दैनिक औसत गति १८-४ मील रही होगी।

इनके अतिरिक्त भी, ऐतिहासिक ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिससे उस गति का औसत अनुमान लगाया जा सकता है जिससे कि सेना यात्रा करती थी। उदाहरण के लिए हमारे फर्रुखसियर के अभियान का वर्णन मिलता मिलता है जबकि पटना से वह अपने चाचा जहाँदर शाह से जंग लेने के लिये आगरा की ओर जा रहा था। शाहजादा फर्रुखसियर पटना से २२ सितम्बर १७१२ को रवाना हुआ था और चौथी जनवरी १७१३ को आगरा के पूरब में स्थित, समरगढ़ की विपरीत दिशा में स्थित सराय बेगम पहुँचा। पटना से आगरा की दूरी सामान्यतः तीन सौ कोस (७८० मील) मानी जाती थी। खुशहालचन्द, ब्रि० म्यू० (एडीशनल २४०२७, फोलियों २२० ए)। नक्शे पर इन दोनों स्थानों के बीच की दूरी नापने पर ५८५ मील, (जिसमें मोड़ों की दूरी को जोड़ने के लिये कुल दूरी का आठवाँ भाग भी जोड़ दिया गया है) से अधिक नहीं आती। चूँकि फर्रुखसियर ने नीचे मार्ग से यात्रा नहीं की थी, बल्कि माखनपुर में स्थित शाह मदार का दर्शन करने के लिये वह मार्ग से काफी दाहिने हट गया था। इसलिये मेरे अनुमान से उसके द्वारा तय की हुई कुल दूरी ६१८ मील से अधिक नहीं थी। उसकी यात्रा के दौरान में मुख्य पड़ाव के स्थान नीचे की तालिका में दिये गये हैं।

पड़ाव के स्थान		यात्रा के दिनों की संख्या	पड़ाव के दिनों की संख्या	यात्रा में लगे कुल दिनों की संख्या	यात्रा की कुल अनुमानित दूरी	दैनिक यात्रा की औसत गति (पड़ाव के दिनों को छोड़कर)
कहाँ से	कहाँ को					
पटना	बनारस	१६	२३	४२	१८० मील	६-४७ मील
बनारस	एलाहाबाद	५	६	११	६० ,,	१८-० ,,
एलाहाबाद	माखनपुर	१७	११	२८	१८० ,,	१०-५८ ,,
माखनपुर	आगरा	१७	१८	२५	१५७ ,,	६-२३ ,,
आगरा	खिजराबाद दिल्ली के बाहर एक स्थान	१२	८	२०	१३० ,,	१०-८३ ,,
	योग	७०	५६	१२६	७३७	१०.५१

इन उदाहरणों के अतिरिक्ति हमें जहाँदारशाह की दो लम्बी यात्राओं के विवरण उपलब्ध हैं। उसने अपनी पहली यात्रा, अपनी ताजपोशी के पश्चात की थी और लाहौर से दिल्ली आया था और दूसरी बार वह फर्रुखसियर का मुकाबिला करने के लिये दिल्ली से आगरा गया था।

इसके पश्चात् एक और उदाहरण उपलब्ध है, सय्यद हुसेन अली खाँ की यात्रा का। वह अत्यन्त आवश्यक कार्य से, दक्षिण से रवाना हुआ था इसलिये उसकी यात्रा की गति से हमें इस बात का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि उस समय मुगल सेना की तीव्रतम गति क्या थी। उसने ११ नवम्बर १७१८ को औरंगाबाद से प्रस्थान किया और दिल्ली के निकटस्थ एक स्थान पर १७१६ ई० की १६ वीं फरवरी को पहुँचा। इस तरह उसकी इस यात्रा में कुल ९८ दिन लगे। वह अपनी इस यात्रा के दौरान में बुरहानपुर उज्जैन और आगरा से गुजरा था, नक्शे पर इस मार्ग की दूरी का भाप ६९५ मील है जिसमें मोड़ों के लिये कुल दूरी का १।८ भाग भी सम्मिलित है। इस हिसाब से उसकी दैनिक यात्रा की औसत गति (पड़ावों के सहित) ७-१ मील है।

मैं अन्तिम उदाहरण दूँगा मुहम्मद शाह की एक यात्रा का, जब कि वह १७१६ में आगरा से फतहपुर सीकरी होते हुये जयपुर की तरफ स्थित टोडा-भीम नामक स्थान पर गया था। मेरे अनुमान से इन दोनों स्थानों के बीच की दूरी लगभग ९० मील है। टोडा भीम पहुँचने में मुहम्मद शाह को २७ दिन लगे थे, परन्तु इसमें से केवल १२ दिनों तक उसने यात्रा की थी और १५ दिन, स्थान-स्थान पर लगे पड़ावों में समाप्त हुये थे। इस प्रकार उसकी यात्रा की दैनिक गति का औसत लगभग १।२ मील था।

———

बीसवां अध्याय

युद्ध का क्रम

किसी सेना को युद्ध के क्रम के व्यवस्थित करने की क्रिया को (पंक्ति या कतार) कहते हैं। इसी क्रिया के लिए एक दूसरा शब्द पर्राह बस्ताँ (अशाव, फोलियो १३४बी) भी प्रयोग किया जाता था डाक्टर (हार्न पृ० ५६-७०) ने इस विषय में बहुत विस्तृत वर्णन दिया है और इस सम्बन्ध में मेरा वर्णन अधिकांशतः डा० हार्न के वर्णन पर ही आधारित है। हार्न के अनुसार मुगलों की युद्ध कालीन सैन्य व्यवस्था तैमूरन द्वारा निर्धारित नियमों पर ही आधारित थी (डेवी और ह्वइट पृ० २२८; हार्न, पृ० १३६-१५१)। जब किसी गम्भीर युद्ध की तैयारी की जाती थी तो पहले बख्शी, बख्शी-उल-ममालिक का कर्तव्य होता था कि वह आक्रमण की पूर्व योजना की रूप रेखा तैयार करे, पूरी सेना को अलग-अलग भागों में विभाजित करे, हर भाग या टुकड़ी के लिए स्थान एवम् स्थिति निश्चित करे तथा प्रत्येक टुकड़ी के लिए सरदारों का नाम निश्चित करे। इन सारे कार्यों को निपटाने के पश्चात् समस्त सम्बन्धित कागजात को, बादशाह की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए, बख्शी-उल-ममालिक द्वारा बादशाह के समक्ष उपस्थित किया जाता था। युद्ध प्रारम्भ होने के एक दिन पूर्व, बख्शी सभी सैनिकों की नामावली भी तैयार करता था और सेना की वर्तमान संख्या से सम्बन्धित तथ्यों को बादशाह के समक्ष उपस्थित करना था। उदाहरण के लिए दानिशमन्द खाँ (२८वीं शव्वाल, ११२० हि० का लेख) ने लिखा है कि कामबख्श से होने वाले युद्ध के लिए जुल्फिकार खाँ, बख्शी ने युद्ध का एक एक नक्शा तैयार किया था और उस पर स्वीकृति प्राप्त करने के लिये बादशाह के पास उपस्थित किया था।

मोटे रूप से, मुगल काल में युद्ध में, सेना के विभिन्न विभागों का स्थितिक्रम इस प्रकार था। सबसे पहले करावल का स्थान रक्खा जाता था। इसके बाद एक पंक्ति में तोपखाना एवम् तोप चलाने वाले सैनिकों का नम्बर रहता था फिर अग्निबाण चलाने वाले सैनिक रहते थे और इनकी सुरक्षा के लिये एक कृत्रिम मोर्चा बनाया जाता था। सम्भवतः सभी तोपें भी जन्जीरों द्वारा एक दूसरे से जुड़ी रहती थी। तोपखाने के पीछे रक्षक सैनिकों की अगली पंक्ति रहती थी,

और उनसे जरा सा पीछे रहकर बाएँ और दाहिने पार्श्वों को सम्भालने वाली टुकड़ियाँ रहती थीं। इसी स्थान पर हाथी पर सवार बादशाह की स्थिति होती थी जिसके जरा सा आगे बादशाह की निंजी रक्षक पंक्ति रहती थी जिसे 'इल्तमिश' कहा जाता था। इस रक्षक पंक्ति के जरा सा आगे दोनो बगलों में दो टुकड़ियाँ रहती थीं जिन्हें 'तारा' कहा जाता था। मध्यस्थ सेना के पीछे रक्षक पंक्ति रहती थी जिसे 'चन्दावल' कहा जाता था। सेना के इस भाग के उत्तरदायित्व में शाही खानदान की बेगमें, अन्य स्त्रियाँ तथा अन्य सामग्रियाँ रहती थी। युद्धस्थल में, विभिन्न स्थितियों में स्थित सेना के विभिन्न भागो के नामों में प्रर्याप्त भेद दिखाई पड़ता है, जिसे स्पष्ट करने के लिए इस सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक है। बाबर ने अपने शासन काल में बाएं भाग के लिये सालयन और सोलकुल तथा दाहिने भाग के लिये ओगकुल आदि शब्दो को प्रचलित किया था (पी० डी० कर्टील, 'मेम्वायर्स भाग २, पृ० १ब; हार्न (पृ० ६०), परन्तु बाद में ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दो का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

कलावरी इस शब्द का प्रयोग 'मीरात-उल अहमदी' (फोलियो १३६ बी) में किया गया है और उक्त स्थल के प्रसंगानुसार इसका अर्थ है वे व्यक्ति जो किसी सेना के मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। स्टीनगैस (पृ० ९८३) ने इस शब्द के निम्न-लिखित अर्थ दिए हैं :—"मार्ग दर्शक, घुड़सवार जो किसी छोटी टुकड़ी की रक्षा करते हैं, खुफिया, हरकारा (स्काउट)।"

इफ्ताली—जान सरमैन की डायरी (सी० आर० विल्सन० 'अर्ली अनल्स,' भाग २, पृ० २६) के एक अंश के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द अगली रक्षक पंक्ति के लिये प्रयोग किया गया है—"मीर जुमला अटाया (इटावा) पहुँच गया है, और उसकी अफ्ताली, जिसमें १२००० सवार हैं, शासादपुर (शहजादपुर) में है।" स्टीनगैस (पृ० ८०) ने 'इफ्ताल' शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये हैं—"विघटित, बिखरे हुये, लगान, फटा हुआ।"

करावल—स्टीनगैस (पृ० ९९२) के अनुसार इस शब्द के निम्नलिखित अर्थ है :—"संतरी, पहरेदार, जासूस, रक्षक, अगली रक्षक पंक्ति, शिकारगाह का पहरेदार, शिकारी।" शान्ति काल में ये सैनिक शाही शिकारियो का कार्य करते थे, और युद्ध के समय उनको खुफिया के रूप में आगे की खबर लेने के लिये भेज दिया जाता था।

अगली रक्षक पंक्ति—सेना के इस भाग को हरावल कहा जाता था, इसे 'मुकदमा-उल-जैस' भी कहते थे। स्टीनगैस (पृ० १७) ने हरावल का अर्थ दिया है, वानगार्ड (अगली रक्षक पंक्ति), पैदल हरकारे (रनिंग फूटमेन)। मुकदमा-उल-जैस अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है 'सेना का अगला भाग," और प्रायः इस

शब्द का प्रयोग हरावल के स्थान पर किया गया है। हार्न (पृ० ६०) के वर्णनानुसार सेना के कुछ भागों की स्थितियाँ ऐसी थीं जिन पर मुगलों के कुछ परिवारों का पैतृक दावा था अर्थात उस स्थिति का उत्तरदायित्व इन्हीं पर होता था और वे इस भार को सम्भालना अपना अधिकार मानते थे और उस पर गर्व करते थे। भारतवर्ष में उस समय सेना की अगली पंक्ति में लड़ने के अवसर को बहुत गर्वपूर्ण माना जाता था, अकबर के शासन काल से बारह सय्यदों तक, इस गर्वपूर्ण अवसर के लिये सरदार लालायित रहते थे, बाद के समय में भी इस सौभाग्य को सम्मान का एक महत्वपूर्ण प्रतीक माना जाता था। 'बादशाहनामा' (भाग १, पृ० २१४, ८ वीं पंक्ति) में अब्दुल हमीद ऐसे सैन्य दलों का उल्लेख करता है जिन्हें सेना के आगे भेज दिया जाता है, और उनको 'मन्कलह' कहा जाता है। यह शब्द बहुत प्रचलित नहीं है; खुशहाल चन्द ने एक स्थान पर (बर्लिन पाण्डलिपि, फोलियो ११२७ बी) 'मंकाला' शब्द का प्रयोग किया है, 'मआसिर-उल उमरा' (११५५ हिं०, १७४२ में लिखा गया था) ये भी कई स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग मिलता है, उदाहरण के लिये पहले भाग के पृष्ठ संख्या २४३ पर 'तारीख-ए-आलमगीरी' के फोलियो १०५ बी में भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का एक रूप और मिलता है, वह है, 'मँगताई' यह एक मुगल शब्द है जिसका अर्थ हैं 'मस्तक अग्रभाग' (स्टीनगैस पृ० १३३१, १३३३)।

प्रथम रक्षक पंक्ति की अन्तिम चौकी—इसे 'जुज-ए-हरावल' कहा जाता था जिसका शाब्दिक अर्थ, हार्न (पृ० ६१) के अनुसार 'वानगार्ड' (अगली रक्षक पंक्ति) या अगली टुकड़ी हार्न में इस शब्द के सम्बन्ध में बदायूनी, भाग २, पृ० २३१ की चौथी पंक्ति का उल्लेख किया है।

दाहिनी रक्षक पंक्ति—सेना के इस भाग के लिए पाँच शब्द प्रयोग में दिखाई पड़ते हैं जिनमें से दो शब्द अरबी भाषा के हैं, एक चगताई, और दो फारसी के हैं। ये शब्द निम्नलिखित हैं (१) मैमनह (२) अन्सार-ए-मैमनह (दस्तूर उल इन्शा, पृ० २३३), (३) बरनग्राह, (४) दस्त-ए-रास्त, (५) तरफ-ए-यमीन (खाफी खाँ, भाग २, पृ० ८७६)।

बाँई पंक्ति—इसी प्रकार मुख्य सेना के बाँए भाग के लिये भी ५ शब्द प्रचलित थे (१) मैसरह (अरबी भाषा), (२) अन्सार-ए-मैसरह (दस्तूर-उल-इंशा, पृ० २३३) (३) जरनगार (चगताई), (४) दस्त-ए-चाप (फारसी) और (५) जानिब-ए-यसार (खाफी खाँ, भाग २, पृ० ८७६)। हिन्दुस्तान में जरनगार के स्थान पर जवानगार का प्रयोग किया जाता था (हार्न, पृ० ३६ पी डी कर्टाल पृ० १५७, २८६); परन्तु जरनगार शब्द, प्रेस की गलती से नहीं छपा है, इसका प्रयोग भी कुछ ग्रंथों में

मिलत है, और शब्दकोषों में भी इस शब्द को देखा जा सकता है (स्टीन गैस, पृ० ३४६)।

सेना के मध्य भाग की अग्रिम टुकड़ी—इस टुकड़ी के लिये चगताई शब्द 'इल्तंमिश' का प्रयोग किया जाता था (पी० डी कर्टील, पृ० ४३३), इसका शाब्दिक अर्थ होता है ६० वाँ नम्बर। सम्भवतः प्रारम्भ में इस टुकड़ी में ६० सैनिक ही रहते थे और एक बार नाम पड़ जाने पर, बाद में सैनिकों की संख्या बढ़ जाने पर भी नाम नहीं बदला गया (खाफी खाँ, भाग २, पृ० ८७६ में इसे 'यल्तमिश' लिखता है)।

मध्य भाग—सेना के इस भाग के लिये भी अनेक शब्द प्रचलित थे। (१) क़ूल पी० डी कर्टील ने पृ० ४३३ पर इस चगताई शब्द का उल्लेख किया है। (२) कल्ब—यह अरबी भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'हृदय' (३) गोल—(अरबी) इसका अर्थ है टुकड़ी या भीड़। उदाहरण के लिये खाफी खाँ ने, भाग २, पृ० ८७६ में क़ूल शब्द का प्रयोग किया है और 'रिसालह-ए-मुहम्मद शाह' (फोलियो ११३ वीं) में गोल शब्द का प्रयोग किया गया है। क़ूल (चगताई) का एक और अर्थ भी होता है। गुलाम सम्भवतः सेना के इस भाग को उस नाम से इसी अर्थ के अनुसार पुकारा जाता था क्योंकि इसमें, बादशाहों तथा अन्य सरदारों के निजी सैनिक और गुलाम ही अधिक संख्या में होते थे। 'मीरात-ए-अहमदी' (फोलियो १७७ वीं) में सेना के मध्य भाग के लिये 'कमरगाह' का प्रयोग किया गया है। प्रायः इस शब्द का प्रयोग उस घेरे के लिये किया जाता था जिसमें शिकारी सैनिक हाँक कर लगाकर पशुओं को एकत्रित करते थे। यह शब्द किले बन्दी से भी सम्बन्धित है, जैसा कि हम २४ वें अध्याय में देखेंगे। सेना का मुख्य सेनापति, अथवा स्वयम् बादशाह, अपनी पताका के साथ, सेना के मध्य भाग में ही रहता था।

मध्यस्थ सेना के अगल बगल की टुकड़ियाँ—इन्हें 'तरह' कहा जाता था। पी० डि कर्टील ने, बाबर के 'मेम्वायर्स' (भाग २, पृ० १६७, टेक्स्ट, पृ० ३४४) में इस शब्द के प्रयोग का उल्लेख करते हुये, इसका अर्थ दिया है 'सुरक्षित' (रिजर्व)। हार्न भी तरह का अर्थ 'सुरक्षित' ही मानता है और कहता है कि 'तरह' वे टुकड़ियाँ हैं जो सेना के मध्य के भाग के थोड़ा से आगे, दाहिनी और बाईं तरफ स्थित रहती हैं। इस स्थिति में ये टुकड़ियाँ मध्य सेना की सुरक्षित टुकड़ियों के बजाय अगली रक्षक पंक्ति का ही अंग प्रतीत होती थीं। खाफी खाँ (भाग २, पृ० ८७६) ने इसके दो अंगों के अलग-अलग नाम दिये हैं—'तरह-ए-चाप' और 'तरह-ए-दस्त-ए-

पिछली रक्षक पंक्ति—इसे मुगलों की सैन्य व्यवस्था में 'चन्दावल' (पी० डि कर्टील पृ० २८८) कहा जाता था जिसका शाब्दिक अर्थ है, पानी ढोने वाले आदमी, पिछली रक्षक पंक्ति से सम्बन्धित सैनिक (स्टीन गैस, पृ० ४००)। सेना के सामानात (वहीर-ओ-बगाह) इन्हीं लोगों के जिम्मे रहते थे। हार्न (पृ० ६१) ने बाबर के संस्मरणों (पृ० १३१, प्रथम पंक्ति और पृ० १८४, १० वीं पंक्ति) का हवाला देते हुये लिखा है कि इस शब्द का वास्तविक रूप चन्दावल नहीं, बल्कि 'चगदौल' बाद के हिन्दुस्तानी लेखकों के ग्रंथों में इस शब्द के इस रूप का प्रयोग नहीं मिलता और न तो पी० डी कर्टील की डिक्शनरी में ही इसका उल्लेख है। स्टीन गैस ने पृ० ३६५ में इस शब्द का उल्लेख किया है।

साकह—किसी सेना के किसी भाग की पिछली टुकड़ी अथवा कैम्प के पिछले भाग को उसका साकह कहा जाता था (अशाव फोलियों १८२ ए, स्टीन गैस पृ० ६४२)।

नसक्ची—नादिर शाह के ऐतिहासिक आक्रमण के समय से ही नसक्ची शब्द का प्रचलन बहुत सामान्य हो गया। यह शब्द, जो बाद में हिन्दुस्तानी प्रयोग में प्रचलित हो गया, में नसक से बना है, जिसका अर्थ है, सुव्यवस्था, प्रबन्ध। नसक्ची, ऐसे सशस्त्र सैनिकों को कहते थे जो सरकारी कानूनों का पालन कराने के लिये नियुक्त किये जाते थे, नादिर शाह के कैम्प में ये नसक्ची हजारों की संख्या में थे। सभी प्रकार के सैनिक दण्डों को नसक्ची ही क्रियान्वित करते थे। उनके कर्तव्यों में से एक यह भी था कि वे सेना के बिल्कुल पीछे खड़े रहें और इन लोगों को तुरन्त काट डालें जो लड़ना छोड़ कर भागने की प्रवृत्ति दिखावें। हथियारों के रूप में उनके पास एक युद्ध में प्रयोग की जाने वाली कुल्हाड़ी, एक छुरी और एक खन्जर रहता था ('सीर' भाग १, पृ० १४०, नोट २८६)। अशाव, (फोलियों २६३ ए) के अनुसार, उनके पद के प्रतीक के रूप में उनके हाथ में एक दण्ड रहता था और सिर पर पीतल से मढ़ा हुआ, तिकोने आकार का एक 'तबल' रहता था।

तौलकमह या तौलगमह—यह एक चगताई शब्द है जो उन टुकड़ियों के लिये प्रयोग किया जाता है था, जो दुश्मनों पर किसी छिपे स्थान से आक्रमण कर देने के लिये अथवा किसी प्रकार या दुश्मनों की पंक्तियों का रुख मोड़ने के लिये तैनात किये जाते थे (पी० डी कर्टील, पृ० २४३)। हार्न ने अनेक स्थानों पर (पृ० २२, २२, ६०, ७३, ७५) इस शब्द का प्रयोग किया है। यह बाबर द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली एक व्यूहकला थी (पी० डी कर्टील, 'मेम्वायर्स' भाग १, पृ० १६४); स्वयम् बाबर के वर्णन के अनुसार यह एक प्रकार का अचानक

आक्रमण होता था, जिसमें प्रमुख अस्त्र होता था धनुष बाण, जिससे तीरों की वर्षा शत्रुओं पर अचानक की जाती थी और एक झटके के साथ पूरी आक्रामक टुकड़ी पीछे लौट आती थी। बाबर के संस्मरणों के इस अंश से हार्न यह निस्कर्ष निकालता है कि 'तौलकमह' एक प्रकार की युद्ध कली थी, सेना की किसी विशेष टुकड़ी का नाम नहीं था। परन्तु पृ० ७३ में दिये उसके रेखा चित्र में, जिसमें कि उसने पानी पत के युद्ध के प्रारम्भ होते समय बाबर की व्यूह रचना का नक्शा दिया है—दाहिनी और बाइं, दोनों रक्षा पंक्तियों के अगल बगल एक-एक 'तौलकमह' की स्थिति दिखाई गई है। इस प्रकार यह शब्द दोनों ही अर्थों में उचित प्रतीत होता है—अर्थात यह एक प्रकार का युद्ध चातुर्य भी था और, युद्ध कालीन सेना का एक विशेष अंग भी था। खाफी खाँ (भाग २, पृ० ८७६) ने १६ जून १७२० को सैय्यद दिलावर अली खाँ से होने ताले युद्ध के पूर्व निजामुल मुल्क की सेना का जो विभाजन करते हुये कहता है, "फतह उल्ला खाँ खोस्ती और राव बिनालकर को ५०० सवारों के साथ तौलकमह की हैसियत से तैनात किया गया।" इस उद्धरण से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि यह युद्ध के लिये तैयार सेना का एक अंग था। कजा की (११८१) शब्द भी इसी प्रकार के अचानक आक्रमण द्वारा शत्रु को स्तम्भित कर देने के अर्थ में प्रयोग किया जाता था।

———

इक्कीसवाँ अध्याय

युद्ध संचालन

हार्न (पृ० २१) के अनुसार मुगल सेना को अपनी युद्ध-कुशलता तथा शौर्य प्रदर्शन के लिए युद्ध क्षेत्र का हर तरफ से खुला होना आवश्यक था, क्योंकि पहाड़ी, जंगली अथवा अन्य प्रकार से घिरे हुए क्षेत्रों में मुगल सेना के मुख्य अंग, घुड़सवार अपनी कला का समुचित प्रदर्शन करने का अवसर नहीं पाते थे। यदि जमीन झाड़ियों से भी ढकी होती थी, तब भी इन घुड़सवारों को काफी असुविधा उठानी पड़ती थी परन्तु पहाड़ियां और ऊँचे नीचे भाग तो उनके लिए बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण और गति अवरोध करने वाले सिद्ध होते थे। पहाड़ी क्षेत्रों में उन्हें बहुत अधिक कठिनाई उठानी पड़ती थी और जिरह बख्तर से लैस मुगल सैनिक गुरिल्ला युद्ध प्रणाली में जरा भी कुशल नहीं होते थे। जिस समय मुगल अपनी प्रसिद्धि की चरम सीमा पर थे, उस समय भी वे पहाड़ी इलाकों में स्थित पठानों तक पहुँचने में स्वयम् को असमर्थ पाते थे और उनके अन्तिम काल में मराठे उनको बच्चों की तरह नाच नचा-नचा कर तंग करते थे।

प्रायः जब सेना युद्ध के लिए तैयार होती थी, तब सबसे आगे एक लम्बी कतार में तोपें लगा दी जाती थीं और उनकी सुरक्षा के लिए उनके आगे मिट्टी के ढेर इकट्ठा कर दिये जाते थे। ये तोपें भी लोहे की जन्जीरों अथवा चमड़े के फीतों से एक में जुड़ी रहती थीं जिससे कि घुड़सवार दुश्मन इन तोपों की लाइन को पार करके तोपचियों को काट डालने का प्रयत्न न कर सकें। उदाहरण के लिए दारा शिकोह ने १६५८ में समरगढ़ में जंजीरों से बँधी तोपों का प्रयोग किया था (बर्नियर पृ० ४७)। २२ वीं रबी, ११६१ हि० (२१ मार्च, १७४८) को, मच्छीवरन् और सरहिन्द के बीच अहमदशाह अब्दाली के होने वाले युद्ध के पहले शाही सेना ने "अपनी तोपों को, रोम की प्रथा के अनुसार जन्जीरों से बाँध दिया था (आनन्द राम, इन्डिया आफिस मनुसक्रिप्ट १६१२, फोलियो ५८ ए)। इसी प्रकार १७६५ हि० (१७५१–५२) अहमदशाह के दूसरे हमले के समय लाहौर के बाहर, सूबेदार मुईन-उल-मुल्क ने भी तोपों की जंजीर बन्दी का आश्रय लिया था (गुलाम अली खाँ, 'मुकद्दमा-ए-शाह आलमनामा', फोलियो ७६ ए) तोपों की जन्जीर बन्द करने का तरीका बहुत समय बाद तक प्रयोग किया जाता था, उदाहरण के लिए नवम्बर १८०३ में मराठों ने लासवाड़ी में इस तरीके का इस्तेमाल

किया था (थार्न, 'वार' पृ० २१४)। जन्जीर बन्दी का एक बहुत अच्छा उदाहरण अशाब (फोलियो, १८२ बी) द्वारा दिया गया है जिसमें ११५१ हि० (१७३६ ई०) में मुहम्मदशाह के करनाल में पड़े कैम्प का वर्णन है। वह लिखता "है शहर की अन्तिम सीमा पर स्थित दीवाल के पास तोपों को जन्जीर बन्द किया गया, चौकीदारों को शबगारद (रात का पहरा) के वक्त चलने फिरने के लिए खाई के इसी ओर एक या दो गज चौड़ा रास्ता छोड़ दिया गया था। रहकलों (एक प्रकार की तोपें) को एक दूसरे से चार-चार गज की दूरी पर रक्खा गया था, ये तोपें जन्जीरों द्वारा अपनी गाड़ियों (आराब) के पहियों (हल्क) के साथ मजबूती से बँधी हुई थीं। प्रत्येक दो रहकलों के बाद एक-एक जजेर (दीवाल में ज ी तोपें) के साथ पांच-पांच आदमी नियुक्त रहते थे...।"

यदि सेना के पास तोपों की संख्या अधिक नहीं रहती थी, तो प्रायः, जितनी भी तोपें होती थीं, उन्हें किसी गांव के घरों की कच्ची दीवालों के पीछे सुरक्षित रूप से स्थित किया जाता था, या ईंट के किसी ऊँचे भट्ठे पर उन्हें स्थापित किया जाता था, जहां से वे शत्रुदल पर प्रबल रूप से धावा कर सकें। इसके अतिरिक्त तोपों को आड़ में रखने का एक कृत्रिम ढंग भी कभी-कभी अपनाया जाता था। किया यह जाता था कि खांई खोद डाली जाती थी और बाहरी ओर मिट्टी के टीले बना दिए जाते थे, प्रायः ऐसी कृत्रिम खांइयों के लिए ऐसे स्थानों को ही चुना जाता था, जहां आमों के सघन वृक्ष एवम् कुञ्ज हों।* सर्वप्रथम, युद्ध के प्रारम्भ होने की घोषणा के रूप में अग्निबाणों (राकेट्स) की एक बाढ़ छोड़ी जाती थी और तत्पश्चात् तोपें अपना कार्य प्रारम्भ करती थीं। जैसा कि मेरा विचार है, तोपों द्वारा गोलों को फेंकने की क्रिया एवम् गति बहुत तेज नहीं होती थी। उदाहरण के लिए ओर्मी ने (मिलिटरी ट्रान्जेक्शन्स भाग १, पृ० ७४), १८ वीं शताब्दी के लगभग मध्य के समय का वर्णन करते हुए इस तथ्य का उल्लेख किया है कि "तोपें हर पन्द्रह मिनट पर एक गोला फेंकती थीं।" खुशहाल चन्द (बर्लिन पाण्डुलिपि, ४६५, फोलियो १०१६ बी) के अनुसार १७२१ में तोपें सामान्यतया तीन घंटे पर एक गोला फेंकती थीं। वह हैदर अली खां के तोपचियों की इसलिए तारीफ करता है कि वह बहुत ही कुशलता एवम् शीघ्रता से गोलों को फेंकने के बाद तोपों को ठन्डा करते थे, तोपों में फिर से गोला भरते थे और प्रत्येक दो घड़ी (४४ मिनट) पर गोलों की एक बाढ़ फेंकते थे। बाबर के समय में, तोपों के गोला फेंकने की गति अवश्य ही अपेक्षाकृत बहुत कम रही होगी। कन्नौज के निकट हुई लड़ाई में, बाबर

---

* प्लासी की लड़ाई में क्लाइव ने इस तरीके का प्रयोग करके काफी लाभ प्राप्त किया था (ओर्मी, 'मिलिटरी ट्रान्जेक्शन्स' भाग २, पृ० १७२)

अपने संस्मरणों (पी० डी० कर्टोल, भाग ३, पृ० ३३७) में स्वयम् लिखता है : "उस्ताद कुली खां (बाबर का मीर आतश) ने अपने तोपखाने को बहुत कुशलता के साथ संचालित किया। पहले दिन उसने आठ प्रोजेक्टाइल (गोले ?) फेंके, दूसरे दिन यह संख्या १६ तक पहुंच गई और तीन चार दिन तक लगातार इसी गति से वह गोले फेंकता रहा"। इस कार्य के लिए उसने 'गाजी' नामक विशाल तोप का प्रयोग किया था, इस तोप का यह नाम राणा-सांगा के साथ हुए बाबर के युद्ध में बाबर की विजय के पश्चात रक्खा गया था। उसके पास एक तोप इससे भी विशालकाय थी, परन्तु वह तोप पहला गोला फेंकते ही बारूद की गर्मी से फट गई।

चूंकि उस समय तोपगाड़ियां बैलों द्वारा खींची जाती थी, इस लिए प्रायः किसी धावे के लिए जब सेना तेजी से आगे बढ़ती थी तो बैल उनका साथ नहीं दे पाते थे और पीछे ही रह जाते थे। इसलिए जब घुड़सवार तोपों की पंक्ति को लांघ कर आगे निकल जाते थे, तो लड़ाई में तोपखाना कोई विशेष सहायता नहीं पहुँचा सकता था, क्योंकि तोपों के सामने स्वयम् उन्हीं के पक्ष के सैनिक रहते थे। इसी प्रकार जब सेना पराजित होकर पीछे भागती थी, तो तोपखाना पीछे ही रह जाता था और प्रायः शत्रुओं के हाथ में पड़ जाता था। घुड़सवार तोपों का मोह छोड़ने में ही अपनी कुशलता समझते थे (फिट्जक्लेटेन्स, पृ० २५५)। इस सम्बन्ध में ब्लैकर का कथन है कि "किसी भी युद्ध में, हिन्दुस्तानी सेनाओं की तोपें अचल रहती हैं जब कि घुड़सवार सदैव चलायमान और गतिमान रहते हैं, इन तोपों का कार्य ही यही है कि जब तक उन पर दुश्मनों का अधिकार न हो जाय, तब तक वे आग उगलती रहें, जब कि सवारों का कार्य यह है कि युद्ध में वापस भागने की स्थिति आ जाय तो वे बिना किसी रोक-टोक या उत्तरदायित्व के, भाग खड़े हों" ('वार' पृ० १२८)।

जब तक कि दोनों तरफ के तोपखाने द्वन्द युद्ध में व्यस्त रहते थे, तब तक सेना का शेष भाग तोपखाने से कुछ दूर पीछे हटकर ऊपर दिये हुए क्रम के अनुसार खड़ा रहता था, उनके झण्डे फहराते रहते थे, धौंसे, नक्कारे और करनाइयाँ सैनिकों में जोश पैदा करते रहते थे। "जब शेष सेना युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाती थी और युद्ध क्षेत्र में अपनी उपयुक्त स्थिति को ग्रहण कर लेती थी तो पीतल की लम्बी-लम्बी करनाइयां बजाई जाती हैं और एक चारण (नकीब) * उच्च स्वर से युद्ध की घोषणा करता है।' (सीर-उल-

---

* स्टीनगैस (पृ० १४२१ के अनुसार नकीब उन लोगों को कहा जाता है जो अपने मालिक के गुणों एवम् पदों की जोर-जोर से घोषणा करते हैं और ऐसा प्रायः तब किया जाता है जब कोई व्यक्ति उनके मालिक से मुलाकात करने के लिये आता है

मुताखरीन, टेक्स्ट, पृ० ५६, सीर, भाग १, पृ० २०८) चूंकि इसाइयाह कहता है कि "प्रत्येक युद्ध में सैनिकों की जोशपूर्ण और मिली-जुली ललकारें ही सुनाई पड़ती हैं।" इसलिये आवश्यक था कि यहाँ कुछ बहु-प्रचलित ललकारों का उल्लेख कर दिया जाय। हार्न (पृ० २३) हमें बताता है कि बाबर के शासन काल में दुश्मनों और दोस्तों में फर्क करने के लिये कुछ निश्चित शब्द (पासवर्ड) बनाये गये थे जिन्हें, पूछे जाने पर बता देने वालों को दोस्त माना जाता था, परन्तु जिन्हें इन निश्चित शब्दों का ज्ञान नहीं रहता था, उन्हें दुश्मन मानकर कैद कर लिया जाता था और उनकी पूरी जाँच की जाती थी। बाद के शानन-कालों में, लगता है कि यह प्रथा समाप्त कर दी गई थी। परन्तु शोरगुल, जानवरों की मिली-जुली आवाजें, गाली-गलौज, व्यग्यांत्मक तथा उपहासपूर्ण शब्द तथा ललकार के शब्द फिर भी मैदान में गूंजते रहते थे। मुगल सैनिकों की कुछ प्रमुख ललकारें इस प्रकार थीं, "अल्ला हो अकबर, दीन-दीन" इत्यादि। स्वयम् अकबर जोश में आने पर 'या मुईन' की ललकार लगाता था (हार्न, पृ० १०९, बदायूनी भाग २, पृ० १६७ और लोवे पृ० १७० से हार्न द्वारा उद्धृत)। बदायूनी की पुस्तक में, हार्न द्वारा उद्धृत अंश का कुछ भाग इस प्रकार है—

"कमान-ए-कियानी दर आमर व जीह,
एंके गुफ्त 'व सिता' एके गुफ्त दीह।"

अर्थात् 'शाही कमान पूरी खिंची हुई थी जिसकी एक टंकार ललकारती थी, पकड़ो' और दूसरी टंकार ललकारती थी, 'मारो'। एक अन्य स्थान पर बदायूनी कुछ अन्य शब्दों का उल्लेख करता है जैसे 'आवाज-ए-दीह (मारो) सिताँ (पकड़ो) व बकश (कत्ल करो) व ब-जन (काटो)' इत्यादि (बदायूनी, भाग १, पृ० ३३५, पंक्ति ३)। उसके अनुसार ये शैतानी आवाजें अब भी रात्रि में पानीपत की खून से रंगी जमीन में सुनाई पड़ती हैं। स्टीनगैस ने पृ० ५४७ पर 'दीह' (मारो) और पृ० ५४८ पर 'दीहा-दीह' (ललकारना) का उल्लेख किया है। खाफी खां (भाग २, पृ० ५८) "सदाए 'व-कश', 'ब-कश' बुलन्द साख्ताह" ('मारो-मारो' की तेज ललकार) का उउलेख करता है। खाफी खां के इस वर्णन से हमें माइकेल ड्रेरन लिखित 'बैटिल आफ एगिनकोर्ट की ये पंक्तियां याद आ जाती हैं—

अथवा जब उनका मालिक किसी सार्वजनिक स्थान पर जनता के सामने जाता है। १८७० में जब ड्यूक आव एडिनबरा बनारस पहुंचे, उस समय बनारस के राजा देव नरायण शिह उनके साथ जब रेलवे स्टेशन से गंगा नदी की ओर जा रहे थे तो उनके आगे-आगे उनके पदों का जोरों से वर्णन करता हुआ एक दल चल रहा था, इस दृश्य को मैंने स्वयम् देखा था।

"ह्वाइल्स्ट स्कैल्प्स एबाउट लाइक ब्रोकेन पांट ग्रेड्स फ्लाई
ऐंड 'किल' 'किल' 'किल' द कांकरिंग इंगलिश क्राई"

वह लिखता है—"जब कि शत्रुओं के मस्तक मिट्टी के बर्तनों की तरह उड़ रहे थे और अंग्रेज सैनिक 'मारो' 'मारो' की ललकार बुलन्द कर रहे थे।" बाद के समय में 'दीन !' 'दीन !' 'मुहम्मद' की ललकार ही सर्वाधिक प्रचलित थी। अरबी सैनिकों ने १८१७ में नागपुर में इसी ललकार का प्रयोग किया था (फिट्ज क्लेरेंस पृ० १०३)। इसी ललकार के सम्बन्ध में राबर्ट आर्मी (मिलिटरी ट्रान्जेक्शन्स,' भाग २ पृ० ३३६) ने लिखा है—'दींग (दीन) मोहम्मद (मुहम्मद) की ललकार।' 'क्लाइव' भाग १, पृ० ५७ में, २३ अक्टूबर १७६४ में बक्सर में हुए एक युद्ध का वर्णन करते हुए लेखक लिखता है कि "जब हमारे सिपाही शत्रुओं को देखते थे तो वे दींग (दीन) या हुज्ज की ललकार लगाते थे।" मराठों की एक बहुप्रचलित युद्ध की ललकार थी 'गोपाल, 'गोपाल' (अहवाल-उल-खवाकीन, २०७ ए); ग्रान्ट डफ (पृ० १०६) के अनुसार मराठों की एक अन्य सामान्य ललकार थी 'हर हर महादेव'।

सवारों के धावे—जब सेनानायक यह महसूस करता कि तोपखाने का कार्य अब समाप्त हो गया है और दुश्मन गोलों से काफ़ी त्रस्त एवम् भयभीत हो गए हैं तो वह अपने अगल-बगल के सवारों को दुश्मनों पर सीधा हमला करने का आदेश दे देता था। पहले एक दिशा की रक्षक पंक्ति धावा करती थी और तत्पश्चात् दूसरी तरफ की टुकड़ी। इसी प्रकार कई टुकड़ियाँ लगातार आंतकित दुश्मनों के ऊपर चढ़ दौड़ती थी। सर्व प्रथम ये सवारों बन्दूकों की गोलियों और कमानों से तीरों की बौछार करते थे और जब वे शत्रुदल के बहुत नजदीक पहुंच जाते थे और गुत्थमगुत्था होने की नौबत आ जाती थी तो वे तलवारों, लड़ाकू कुल्हाड़ियों और भालों का प्रयोग करते थे। इस गुत्थमगुत्था वाले युद्ध को 'चपकलश' (द्वन्दयुद्ध) कहा जाता था। पी० डि० कटील ने इस शब्द का उल्लेख पृ० २७१ पर किया है। ११६५ हि० में अहमद शाह अब्दाली ने एक प्रकार के युद्ध कौशल का ईजाद किया था जो तौल कमः से मिलता जुलता था; इस प्रकार के धावे में बन्दूकों का भाग महत्वपूर्ण होता था। वह अपने सवारों को एक-एक हजार की अलग अलग टुकड़ियों में बाँट देता था। उनकी बन्दूकों के पलीते में आग लगी रहती थी और वे धावा करने के लिए बिल्कुल तैयार रहते थे। पहला दस्ता पूरी गति से शत्रुओं पर चढ़ दौड़ता था और उन पर गोलियों की बौछार करता था। फिर उसी गति से अपनी सेना की ओर लौट आता था। तत्पश्चात् तुरन्त दूसरा दस्ता रवाना हो जाता था और इसी प्रकार एक के बाद एक दस्ता लगातार धावा करता रहता था (गुलाम अली खाँ 'मुकद्दमा' फोलियों ७६ बी)। ७ वीं जमादी,

दूसरा पक्ष, ११७४ हि० (१३ जनवरी १७६१) में हुई पानीपत की लड़ाई में एक नाजुक अवसर पर अकाली ने इस तरीके का प्रयोग किया था और उसका यह प्रयास बहुत सफल रहा था और इन अप्रत्याशित धावों से मराठा सेना में गड़बड़ी एवम् अव्यवस्था फैल गई थी (तारीख-ए-हुसेन शाही, फोलियो ४४ बी० ४५ ए)। 'मआसिर-उल-उमरा' भाग २, पृ० ६७१ अनुसार दक्षिणी भारत में प्रायः शत्रुदल की पिछली रक्षक पंक्ति पर पहले धावा किया जाता था जिससे आगे बढ़ते हुए दुश्मन घबरा उठते थे और उनमें भगदड़ मच जाती थी।

स्टीनगैस की डिक्शनरी के पृ० ४३० के अनुसार 'खसक' शब्द कैल्ट्राप के अर्थ में प्रयोग किया जाता है जिसका उद्देश्य है शत्रुदल के सवारों की गति को अवरुद्ध कर देना। ऐसा प्रायः लोहे की लम्बी और नुकीली छड़ों या कीलों को मार्ग में गाड़कर या बिछा कर किया जाता है। इस प्रकार के उदाहरण उस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलते। मैंने केवल एक पुस्तक में इस तरह एक उदाहरण पाया है और वह पुस्तक है 'अकबरनामा' (लखनऊ एडीशन, भाग १ पृ० ७५, अन्तिम पांच पंक्तियां) जिसके अनुसार तैमूर ने इनका प्रयोग किया था। परन्तु 'खसक' शब्द का उल्लेख सादी ने भी एक स्थान पर किया है और मुहम्मद मुनीम जफराबादी ने अपने 'फारूकनामा,' फोलियो २७ बी (११२८ हि०) में तथा इशरत सियालकोटी ने अपने 'नादिरनामा' फोलियो ५६ ए (११५१ हि०) में इस अंश को उद्धृत किया है। वह अंश इस प्रकार हैं :—

"अदू रा ब जाए खसक जर ब रेज
कि बख्शीश कुन्द कुनद दँदरन-ए तेज"

अर्थात् शत्रु के सामने लोहे की कीलों (स्पाइक्स) के बजाय सोना बिखेरो क्योंकि बख्शीश या उपहार तेज से तेज दांतों को भी कुन्द या खट्टा कर कर सकते हैं।

यदि मुगल सवारों और यूरोपियन सैनिकों के युद्ध करने के ढंग में भेद करने की दृष्टि से अध्ययन करना हो तो इस सम्बन्ध में कैप्टेन ब्लैकर की कुछ बातों पर ('वार' पृ० १८६) ध्यान देना आवश्यक है। यह दिखाने के लिए कि मुगल सवारों की युद्ध कुशलता, उनके अनियमित (इर्रेगुलर) होने पर भी कितनी ठोस होती थी, ब्लैकर ओर्म के एक अंश का उद्धरण देता है, "जिस किसी ने भी १० हजार सवारों के एक दस्ते को शत्रुओं के ऊपर पूरी गति से एक साथ धावा करते हुए देखा होगा, वह मॉरेकल्स विलर्स और सेक्स की तरह ही यह मामने के लिए तैयार हो जायगा कि उनका स्वरूप बहुत ही भयंकर और आंतकित करने वाला होता है, चाहे इन आक्रामक सवारों में अनुशासन एवम् साहस की मात्रा जितनी भी रहती हो। परन्तु फिर भी यूरोपियन सेनाओं

की कुछ टुकड़ियां ही इन सवारों को हराकर भगा दे सकती हैं। मुगल सैन्य के विभिन्न भागों में न तो विशेष पारस्परिक सम्पर्क ही रहता था और न विशेष सहानुभूति ही, इसलिए एक भाग दूसरे भाग के सहयोग पर प्रायः आश्रित नहीं रहता था। मुगल सेना आकार में बहुत विशाल होती थी और मुगल सवार सेना अपनी एक छोटी टुकड़ी से ही अन्य विरोधी सेनाओं का सामना करने में समर्थ थी परन्तु चूंकि यह सेना बहुत हल्के ढंग से अनुशासित रहती थी, इसलिए अनुशासित एवम् भलीभांति प्रशीक्षित सवारों की एक छोटी टुकड़ी भी उन पर अचानक धावा बोल देती थी, तो मुगल सेना घबरा कर रास्ता छोड़ देती थी। इस तरह बीच में शत्रु सेना के घुस जाने पर मुगल सेना कई टुकड़ियों में बँट जाती थी और इनमें से कोई भी टुकड़ी शत्रुओं के विरुद्ध मोर्चा बांधने के साहस के साथ आगे नहीं बढ़ती थी। जिस टुकड़ी पर शत्रुओं का वास्तविक हमला होता था, वह तो भाग ही निकलती थी, परन्तु शेष बची हुई टुकड़ियां भी सम्मिलित होकर पीछा करने वाले शत्रुओं की पिछली पंक्तियों पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति नहीं दिखाते थे। इसके विपरीत अनुशासित सेना की टुकड़ियां नक्कारों की आवाज के इशारे से ही, कई दलों में बँट जाती थी, फिर एकत्रित हो जाती थी; धावा बोल देती थी या रुक जाती थी। हर क्रिया के लिए इशारे बने रहते थे जिनका पालन प्रत्येक सैनिक करता था। सेनाएँ इसी प्रकार मुगल सेना को अलग अलग दस्तों की बारी बारी से खबर लेते थे, क्योंकि मुगल सेना के दस्ते एक ही धावे में बिखर कर तितर-बितर हो जाते थे। परन्तु यदि प्रशिक्षित टुकड़ियों को मुगल सेना से गुत्थमगुत्था या छोटी लड़ाई लड़नी पड़ती थी तो बड़े युद्धों में इस तरह बिखर जाने वाले सैनिक उन पर हावी हो जाते थे और डट कर मुकाबिला करते थे। विल्क्स (भाग ३, पृ० ३६२) भी इसी मत के पक्ष में हैं कि द्वन्द युद्ध में एक यूरोपियन सैनिक शायद ही कभी एक देशी सवार का सफल प्रतिरोध कर सकता था। यूरोपियन सेनाएँ सामूहिक युद्ध में प्रवीण अवश्य होतीं थी; परन्तु द्वन्दयुद्ध में मुगल सैनिक गजब के पैंतरे दिखाते थे।

मुगल सैनिक युद्ध में, प्रमुख लक्ष्य के रूप में शत्रु पक्ष के सेनानायक के हाथी पर ही नजर रखते थे और उसी के आस-पास गम्भीरतम एवम् भयानकतम युद्ध होता था। उनके आक्रमण का मुख्य केन्द्र होता था विपक्षी सेना का मध्य भाग, जहाँ पहुँचने के लिए वे प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करते थे। भारतवर्ष में, यह एक नियम सा बन गया था कि जब भी दो सेनाएँ युद्ध के लिए तत्पर होती थीं तो सर्वप्रथम प्रायः उनमें छोटे-छोटे कई युद्ध होते थे और दोनों सेनाएँ दूर से ही एक दूसरे का प्रतिरोध करती थीं और अन्त में गुत्थमगुत्था हो जाती थीं। कुछ समय बाद का एक यूरोपियन पर्यवेक्षण लिखता है कि हिन्दुस्तान से जय विजय का निर्णय प्रायः सैनिकों की संख्या से ही होता था और

जिस दिन जिस सेना की सैनिक संख्या विपक्षी सेना की अपेक्षा कम होती थी, वह सहज ही में अस्त्र रख देती थी। हो सकता है कि इस कथन में कुछ सत्यता हो, परन्तु यह एक सर्वमान्य नियम के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। प्रायः देशी सेनाओं में आपसी ईर्ष्या और द्वेष के कारण सरदार एक दूसरे का पूरे दिल से साथ नहीं देते थे और कभी कभी तो विश्वासघात भी कर जाते थे। इस प्रकार युद्ध में जय विजय का निर्णय संयोग द्वारा ही होता था। कभी-कभी बड़ी-बड़ी सेनाएँ भी छोटी सेनाओं से मात खा जाती थीं क्योंकि प्रायः बड़े आकार की सेना के सरदारों में पारस्परिक सहयोग का अभाव रहता था।

परन्तु युद्ध के निर्णय के लिए सबसे महत्वपूर्ण घटना होती थी, किसी एक दल के सेनानायक का मारा जाना, अथवा अदृश्य हो जाना। यदि सेना को किसी प्रकार यह खबर मिल जाती थी कि उनका सेनापति मारा गया है, या वह अपने हाथी पर दिखाई नहीं पड़ता था तो सैनिक युद्ध बन्द कर देते थे और अधिकांश सिपाही भागकर जान बचाने के चक्कर में पड़ जाते थे (इस सम्बन्ध में देखिए डिला फ्लोट, भाग १, पृ० २५८; ओर्मे, हिस्टारिकल फ्रैगमेन्ट्स, पृ० ४१६; कैम्ब्रिज, 'वार', भूमिका, पृ० ६)। अपनी सेना के सामने सदैव दिखाई पड़ने के उद्देश्य से ही सेनापति हमेशा हाथी पर सवार होता था और उसके आगे-आगे अनेक सिपाही पताकाएँ फहराते रहते थे। "यह एक बहुत सामान्य घटना थी कि ज्योंही सिपाही अपने सेनापति के आसन को खाली देख लेते थे, वे तुरन्त ही शत्रु दल को पीठ दिखाकर भाग निकलते थे; परन्तु जब यूरोपियन सेनाओं ने, बीते हुए ४० वर्षों (१७४५-१७८५) में, केवल देशी सेनाओं के सेनापतियों के हाथियों पर गोले फेंककर ही कई मैदान मार लिए तो देशी सेनापतियों ने इस प्रथा का परित्याग कर दिया है और अब घोड़ों पर सवार होकर युद्ध में आने लगे हैं। साथ ही उन्होंने अपनी सेना को अनुशासित रखना और तोपखाने को सक्षम और कार्य कुशल बनाए रखना भी सीख लिया है।" (सीर, भाग १, पृ० १०, नोट २०)। उस काल में सेनापति के अदृश्य होते ही सेना घबरा जाती थी और युद्ध क्षेत्र छोड़कर भाग निकलती थी। ऐसी घटनाएँ इतनी अधिक संख्या में होती थीं कि यह एक कहावत ही बन गई थी, "लश्करी गरेजद व लश्करे सर शव्वद" (वदायूनी, भाग २, पृ० १६६, चौथी पंक्ति), अर्थात् 'एक सिपाही भागता है और पूरी सेना पराजित हो जाती है।"

उपरोक्त रिवाज के फलस्वरूप हिन्दुस्तान की सेनाओं ने कितने ही युद्ध में मात खाई। उदाहरण के लिए १६५८ में समरगढ़ के युद्ध में दाराशिकोह की सेना केवल इसलिए भाग खड़ी हुई थी, कि वह हाथी पर से उतरकर घोड़े पर सवार हो गया था। उस समय तक मैदान उसी के हाथ में था और विपक्षी सेना भाग रही थी। इसी समय

उसके एक परादर्शदाता खलीमुल्ला खाँ ने उसे राय दी कि वह हाथी पर से उतरकर घोड़े द्वारा शत्रुओं का पीछा करे। दारा ने ऐसा ही किया, परन्तु जब उसके सिपाहियों ने हाथी पर उसे नहीं देखा तो वे पीछे मुड़कर भाग चले, फलस्वरूप दारा जीती हुई गाजी हार गया (बर्नियां पृ० ५४)। सेनापति के घायल होने, भाग जाने अथवा पकड़े जाने के कारण भी कितनी ही सेनाओं के हाथ से मैदान जाता रहा है; उदाहरण के लिए जाजऊ का युद्ध (१८ जून १७०७), हैदराबाद का युद्ध (१३ जनवरी १७०६), लाहौर का युद्ध (१५ से १८ मार्च १७१२), आगरा का (१० दिसम्बर १७१२) और हसनपुर का युद्ध (१३ नवम्बर १७०२०)। जाजऊ के युद्ध में शाहजादा आजम शाह और उसके दोनों लड़के मारे गए थे और हैदराबाद के युद्ध में शाहजादा कामबख्श बुरी तरह से घायल होने के बाद कैद कर लिया गया था। लाहौर के युद्ध में शाहजादा जहाँदार शाह ने अपने तीन भाइयों को बारी-बारी से हराकर मार डाला था। आगरा के युद्ध में जहाँदारशाह ने युद्धक्षेत्र छोड़ दिया था और वेष बदल कर दिल्ली की ओर भाग निकला था। हसनपुर के युद्ध में शाहजादा इब्राहीम और उसका मददगार, बागी वजीर अब्दुल्ला खां दोनों को शाही सेना द्वारा बन्दी बना लिया गया था। इस सम्बन्ध में अन्य उदाहरणों को देखने के लिए देखिए हार्न (पृ० ४६) को, जिसने बादशाहनामा' भाग १, पृ० ५१२; अंतिम पंक्ति और 'अकबरनामा', भाग ३, पृ० ५४ से उदाहरण लिया है। सर आयर कूट ने मिनट्स अव सेलेक्ट कमिटी', (३० अप्रैल १७७२) में प्लासी के युद्ध में क्लाइव की विजय का एक कारण मीरनूदूर का मर जाना बताया है, यह सिराजुद्दौला का प्रमुख सेनापति था। अंग्रेजी तोप के एक गोले की चोट से मीरनूदुर के हाथी की मृत्यु हो गई और वह स्वयम् हाथी पर से गिर जाने के कारण मर गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् अंग्रेजी सेना के तोपचियों ने नवाब की तोपगाड़ियों खींचने वाल बैलों को मार डाला, जिसके फलस्वरूप नवाबी सेना मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुई।

बिना पूर्ण विजय के लूटपाट करना—मुगल सेना में एक दोष यह भी था कि सैनिक बिना पूर्ण रूप से विजय पाये ही शत्रुओं की पंक्तियों को कोड़कर लूटपाट मचाने का प्रयास करने लगते थे, इस बुरी आदत के लिये कभी-कभी उन्हें बहुत महँगी कीमतें चुकानी पड़ती थीं और वे जीते हुये युद्धों को भी अपनी अनुशासनहीनता और जल्दबाजी के कारण हार बैठते थे।

द्वन्द युद्ध—इस सम्बन्ध में हार्न (पृ० ४६) ने 'अकबर नामा' से उदधृत करते हुए कई उदाहरण (भाग ३, पृ० ६७, ६८) दिए हैं, उसने कुछ उदाहरण खाफी खां (भा ग २, पृ० ३०४, ३०५ से भी दिये हैं। 'अकबर नामा' से दिये गये पहले उदाहरण

के अनुसार अकबर ने अपने विरोधी दाऊद लोदी को द्वन्द युद्ध के लिये चुनौती दिया था, दूसरा उदाहरण (खाफी खां (१०६५ हि० का है जब हैदराबाद की सेना के एक सेनापति मुहम्मद इब्राहीम ने आलमगीर के ज्येष्ठ पुत्र शाहजादा मुअज्जम को द्वन्द युद्ध के लिए आमंत्रित किया था। हम इसमें अन्य उदाहरणों को भी जोड़ सकते हैं जैसे कि १११६ हि० में (१७०७) में इसी शाहजादा मुअज्जम (बाद में बादशाह शाहआलम बहादुर शाह) ने अपने छोटे भाई शाहजादा मुहम्मद आजम शाह के पास द्वन्द युद्ध का प्रस्ताव भेजा था, क्योंकि वे दोनों ही शाही तख्त के दावेदार थे, जो कि उनके पिता की मृत्यु के कारण उस समय खाली पड़ा था। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि ये द्वन्द युद्ध वास्तव में हुये ही हों- परन्तु अन्तिम द्वन्द युद्ध (मुअज्जम और आज़मशाह के बीच) तो निश्चित रूप से नहीं हुआ था। द्वन्द युद्ध के अधिकतर प्रस्ताव, प्रस्ताव ही रह जाते थे।

नीचे ओहदों के सरदारों व सैनिकों में भी आपसी द्वन्द युद्ध की चुनौतियां भेजने की प्रथा असामान्य नहीं थी। इस सम्बन्ध में खाफी खां (भाग ३, पृ० ६३३, पंक्ति १४) ने एक उदाहरण दिया है जिसके अनुसार पापरा नामक एक शराब बेचने वाले के एक डाकू साथी, सरवा और पापरा के एक अन्य साथी सरदार पुरदिल खां में अपनी-अपनी युद्ध कुशलता के लिये बहुत गम्भीर विवाद और झगड़ा हुआ और अन्त में उन्होंने एक आपसी द्वन्द युद्ध (जंग-ए-यकयंगी) द्वारा इस झगड़े को समाप्त करने का निश्चय किया, जैसा कि उस समय दक्षिण में रिवाज था।' द्वन्द युद्ध का एक अन्य उदाहरण १७८२ में मिलता है जब कि सर आयर कूट के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना मैसूर के हैदर अली की सेना से युद्ध कर रही थी। हैदर की सेना के कुछ सवार एक-एक करके काफी दूर से घोड़े दौड़ाते हुये और युद्ध के जोश से भरपूर, ललकारते हुये अंग्रेजी सेना के सम्मुख आये और उन्होंने द्वन्द युद्ध के लिये पूरी सेना को चुनौती देना शुरू किया। अनेक बार और काफी सफलता के साथ अंग्रेजी सैनिकों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और उनसे द्वन्द युद्ध किया। अंग्रेजी सेना के एक लेफ्टिनेन्ट डलस ने, जो कि ६ फुट ऊँचा जवान था, उनमें से कई एक के साथ द्वन्द युद्ध किया। वह एक कोयले से भी काले घोड़े पर सवार था और उसने स्वयम् को इस नियम का अपवाद सिद्ध कर दिया कि यूरोपियन सैनिक द्वन्द युद्ध व तलवारबाजी में देशी सैनिकों का मुकाबला नहीं कर सकते (विल्क्स, भाग २, पृ० ३६२)।

उतारा—घोड़े पर से उतर कर (हिन्दी के 'उतरना' शब्द से) या पैदल होकर लड़ना हिन्दुस्तानी सैनिकों का एक विशेष गुण था जिसके लिये वे स्वयम् पर गर्व करते थे। बारह सैय्यदों के समय में हिन्दुस्तानी मुसलमानों में इस प्रथा का प्रचलन बहुत अधिक हो गया था। एच० एम० ईलियट (हिस्ट्री आफ इन्डिया, महोमडन पीरयड'

भाग १, अपेन्डिक्स, पृ० ५३७) ने भी विभिन्न हिन्दू जन जातियों में इस प्रथा के प्रचलन की बात कही है। १६६५ के लगभग लिखे गये सिन्ध के एक इतिहास, 'बेगलर नामा' (इलियट, भाग १, पृ० २६३) में अमरकोट के राणा कुम्भा का निम्नलिखित बयान उद्धृत है। जिसके अनुसार उस समय उनकी जाति में यह एक बहुत पुरानी प्रथा हो गई थी कि युद्ध करने वाले दोनों दल युद्ध करते समय घोड़ों से उतर जाते थे और पैदल युद्ध करते थे। इलियट की मुस्लिम इतिहास के अपेन्डिक्स में इस सम्बन्ध में कुछ अन्य उदारहण भी दिये गये हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि हार्न ने पृ० २१ पर इसी प्रथा का उल्लेख किया है, जब कि वह यह कहता है कि मुगल सवारों को कभी-कभी पैदल सेना की हैसियत से भी कार्य करना पड़ता था। इस सम्बन्ध में उसने 'आलमगीरनामा' (पृ० ६७, ८ वीं पंक्ति) से जो उदाहरण दिया है । वह निश्चित रूप से इस 'उतारा' की प्रथा के प्रचलन का ही एक प्रमाण है। यह प्रमाण यशवन्त सिंह राठौर के साथ हुये युद्ध से सम्बन्धित है, उसी स्थान पर यह बात विशेष रूप से लिखी गई है कि हिन्दुस्तान में अपनी वीरता एवम् साहस द्वारा यश प्राप्त करने के लिये इस प्रथा को एक मुख्य साधन माना जाता था।" ११११ हि० (१७४८) में लिखते हुये आनन्द राम (आई० ओ० एल० नम्बर १६१२ फोलियो ८७ बी) ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि यह उस समय की राजपूती युद्ध चातुर्य एवम् वीरता के प्रदर्शन का एक सर्व प्रमुख साधन था। यह तो पूर्ण रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि राजपूतों में, घोड़े से उतर कर युद्ध करने की प्रथा अत्याधिक प्रचलित थी। प्रमाण के लिये देखिये बदायूनी (टेक्स्ट, भाग १, पृ० ३६८) और रैंकिंग (पृ० ४७८), जिन्होंने १६५२ में अजमेर के निकट शेरशाह और मालदेव राठौर के बीच हुये युद्ध का वर्णन करते समय राजपूतों द्वारा इस तरीके के अख्तियार किये जाने की बात कही है। ११५१ हि० (१७३९ ई०) में करनाल में हुए एक अन्य युद्ध में भी इस प्रथा के प्रचलन का प्रमाण मिलता है जिसमें खान दौरान शामशमुद्दौला घायल हो गया था और मुजफ्फर खाँ मारा गया था। अशाब (फोलियो २२७ ए) हमें बताता है कि जब 'उन्होंने मिरजा अकील बेग कमलपोश तथा अन्य लोगों के मृत शरीर को पाया, उन सभी मृतकों के दामन एक दूसरे से बँधे हुये थे।'

जब युद्ध की हालत अत्यन्त नाजुक हो जाती थी, प्रायः तभी घोड़ों पर से उतर कर युद्ध करने का तरीका अख्तियार किया जाता था और जब सवार घोड़ों पर से उतरते थे तो वे अपने लम्बे-लम्बे कुरतों के दामन एक दूसरे से बाँध लिया करते थे। विभिन्न युद्धों के वृत्तान्तों में, विशेषकर १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में, इस तरीके की युद्ध-शैली के विषय में कई प्रमाण मिलते हैं। हिन्दुस्तानी सेना में जो फारसी थे वे इस

तरीके का मजाक उड़ाते थे; वे इसे वीरता नहीं, बल्कि सवारों की युद्धकला का एक दोष मानते थे। परन्तु एक अज्ञात पारसी लेखक लिखता है : "जब हिन्दुस्तानी अश्वारोही सैनिक युद्ध में जाते हैं, तो उनके लिए यह असम्भव हो जाता है कि वे बिना शारीरिक कष्ट सहन किए, अपनी स्थिति को कायम रख सकें; जब वे किसी युद्ध में घिर जाते हैं, तो उनके पास इसके अलावा दूसरा चारा नहीं रहता कि वे घोड़ों पर से उतर कर घोड़ों को मुक्त कर दें। यद्यपि वे दोनों तरह से मारे जा सकते हैं (चाहे घोड़े पर हों, अथवा पैदल), परन्तु पैदल हो जाने पर जीवन की आशा और सम्भावना अधिक होती है। यदि वे घोड़ों पर ही बैठे रह जायँ, तो उनके लिए जान बचा कर भागना असम्भव हो जाता है क्योंकि प्रायः युद्ध में घोड़े ही सवारों को मार डालते हैं और शत्रुओं को हाथ लगाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। जो भी हो, परन्तु 'उतारा' की युद्ध शैली वीरता की प्रतीक है और वे इस पर गर्व करते हैं (मेम्वायर्स आफ डेलही'—'तारीख-ए-फरह-बख्श' का डब्ल्यू होय, एम० ए० डी० लिट द्वारा अनुवाद, भाग १ अपेन्डिक्स पृ० ८)।

ऊपर यह बात कही गई है और इलियट ने भी इसका उल्लेख किया है कि सैनिक लड़ते समय अपने कुरतों के दामन को एक दूसरे से बांध लिया करते थे। इस सम्बन्ध में मुझे केवल एक उदाहरण प्राप्त हो सका है। ११६५ हि० (१७५२) में लाहौर में अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध लड़े गए युद्ध में नाजिम, मुईन उल मुल्क और उसके सहकारी सरदार भिकारी खां ने एक दूसरे के घोड़ों की जीनों पर पैर रखकर, घुटने से घुटना जोड़े, एक साथ तलवार चलाते हुए अब्दाली की सेना के बीच से अपना मार्ग निकाल लिया था और भाग कर लाहौर के किले में शरण लिया था (गुलाम अली खां, 'मुकदमा,' फोलियो ७६ की)।

<u>युद्ध से सम्बन्धित कुछ अन्य शब्द</u>—विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों के युद्धों के वर्णनों में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं, जो प्रसंगानुसार तत्कालीन युद्ध-विज्ञान के पारिभाषिक शब्द प्रतीत होते हैं। इन शब्दों को नीचे दिया गया है और मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनकी परिभाषा भी दी है।

हरकत-ए-मजबूही—इसका शाब्दिक अर्थ है, किसी मरते हुए पशु की मरणान्तक वेदना, परन्तु युद्ध के सम्बन्ध में सम्भवतः इसका अर्थ है, एक अत्तय और संशयपूर्ण आक्रमण, जिससे सैनिकों के वापस लौटने की आशा नहीं रहती थी। वे सर पर कफन बाँध कर निकलते। बदायूनी (भाग २, पृ० २३४) इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो अपने मूलरूप में इस प्रकार है, "व सरे चन्द अज फिदैयान-ए-राना कि महल-ए-अरा मुहाफजत मी करदंद, व सरे चन्द-ए-दीगर, सुक्तह-ए-मुआबाद कि मजमू बिस्त कस बशन्द बिनाबए-ए-रसम इ-कदीम-ए-हिन्दुस्तान, कि वक्त-ए-खाली

साख्त-ए-शहर, ब जिहात-ए रमात-ए-नामूस, कश्तह मी शब्बन्द, अज अन्दरून-ए खानहा व बख्तानहा वर आमदह, हरकत-ए-मजबूही करदह, व जख्म-ए-शमशोर-ए-जन सितांन जान ब मालिकान-ए-दोजख सिपुर्दन्द।'' लोवे ने पृ० २४० पर इसका निम्नलिखित रूपान्तर किया है : "राणा के कुछ स्वामिभक्त सेवक, जो उसके महल के रक्षक थे और मन्दिर के निवासी, कुल मिला कर २० आदमी—इस प्राचीन हिन्दू नियम के अनुसार कि 'जब उन्हें शहर छोड़ने के लिए मजबूर हो जाना पड़े तो अपने आत्म सम्मान की रक्षा के लिए उन्हें मर जाना चाहिए', अपने घरों और मन्दिर से बाहर निकल आए, उन्होंने आत्म बलिदान की रस्मों को पूरा किया और अपनी घातक तलवारों से अपनी आत्माओं को उन्होंने नरक के रक्षकों के हवाले कर दिया।'' मैं इस अंश का विपरीत अर्थ निकालता हूं, अर्थात् इन आदमियों ने शत्रुओं पर एक कमजोर तथा व्यर्थ का आक्रमण किया और वे अपनी ही तलवारों से नहीं मारे गए, बल्कि अपने मुसलमान शत्रुओं से युध्द करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। इस प्रकार हरकते-मजबूह का अर्थ हुआ, निर्बल पड़ने पर आत्मोत्सर्ग करने के लिए शत्रुओं पर बची-खुची शक्ति से टूट पड़ना।

म-आसिर-आलमगीरी (पृ० २६६) में भी इस सम्बन्ध में एक वर्णन मिलता है। यह घटना है २४ वीं जूल-कदह १०६८ हि० (६ सितम्बर १६८७) की, जबकि गोलकुण्डा पर अधिकार करने के लिए घेरा डाला गया था। वहां भी यह शब्द उपरोक्त अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। जब आक्रमणकारियों ने किले के अन्दर प्रवेश किया, तो उनके सेनापति ने वहां के बादशाह को पकड़ लिया, "वे आन कि ऊ व हमरा हान-अश हरकते-मजबूही नमायन्द'' अर्थात् "इसके पहले कि बादशाह तथा उसके अन्य साथी आत्मोत्सग के लिए लड़ने को तत्पर हो सकें।'' चूँकि जो लोग इस प्रकार पकड़े गए थे वे मुसलमान थे, इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि लेखक का मतलब है कि वे 'आत्म बलिदान के लिए रस्मों को पूरा' करने जा रहे थे, अर्थात् जौहर करने जा रहे थे। इस प्रकार 'हरकत-ए-मजबूही' का सीधा अर्थ हुआ, निर्बल परन्तु खुला प्रतिरोध करके जान दे देना और अपनी इज्जत की रक्षा करना। 'म-आसिर उल उमरा' (भाग १ पृ० ८४४ ११५३ हि० में (१७४०) में बंगाल के नाजिम सरफराजखाँ ने अपहरण कर्ता हमलावर अलीवर्दी खां, महावत जंग का जिस प्रकार मुकाबला किया था, उसी का वर्णन करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया गया है। बिल्क्स ने (भाग २, पृ०५२) इस शब्द का प्रयोग टीपू सुल्तान द्वारा उसके शत्रुओं की चालों का वर्णन किए जाते समय घृणासूचक रूप में किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, कि इस अर्थ में यह शब्द घृणा का भाव व्यक्त करता है, परन्तु यह तो एक सामान्य अभिव्यक्ति है जिसका प्रयोग अनेक लेखकों ने सेना की गतियों का वर्णन करते समय किया हैं। खुशहालचन्द (बर्लिन मैन

सरक्रुप्ट ४६५, फोलियो १०१० वी) ने राजा रतन सिंह की हत्या (११३३ हि०) का वर्णन करते समय इसका प्रयोग इस शब्द के शाब्दिक अर्थ के अनुसार ही किया है। फोलियो १०१५ वी में वह एक बार फिर इस शब्द का प्रयोग करता है, परन्तु इस स्थान पर इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं लगाया जा सकता।

कजाकी—स्पष्टतः इस शब्द की उत्पत्ति कजाक शब्द से हुई है स्टीनगैस (पृ० ६६८) के अनुसार इसके ये अर्थ हैं 'अनुयायी' 'एक सशस्त्र सैनिक', एक 'दुर्दान्त डाकू', 'कजाकिस्तान का निवासी।' उसके अनुसार 'कजाजी' के निम्नलिखित अर्थ हो सकते हैं—सैनिक आक्रमण, गुरिल्ला युध्द प्रणाली, लूट, ठगी या चोरी इत्यादि। परन्तु मेरे विचार से हिन्दुस्तानी ग्रन्थों में इसका अधिक उचित एवम एक निश्चित अर्थ में प्रयोग किया गया है। इस शब्द का अभिप्राय एक ऐसे ढीले ढाले और खुले आक्रमण से है, जिसमें आक्रामक, हमला करते ही तुरन्त वापस लौट आएँ; संक्षेप में यह 'तौलकमह' की तरह ही, और वैसा ही प्रभाव डालने वाली एक युध्द शैली है। आधुनिक लेखकों ने कजाक का अर्थ माना है, ज्वालामुखी के उद्गार की तरह का आक्रमण, जिससे उपरोक्त 'तौलकमह' वाला आशय ही व्यक्त होता है। कुछ लोगों ने 'कजाकी' का अर्थ किसी विशेष सैन्यदल का नाम माना है, परन्तु हार्न (पृ० ६४) इस अर्थ का खरडन करता है, यद्यपि वह स्वयम् भी इस शब्द का कोई दूसरा अर्थ नहीं दे सका है। डाक्टर आस्कर मैन इसे 'कजाकी' के बदले 'फरागी' पढ़ते हैं, परन्तु मेरे विचार से यह शब्द वास्तव में 'कजाकी' ही, है और यह एक प्रकार की युध्द प्रणाली है।

तलाकिए फरीकैन—इसका अर्थ है 'दो दलों का मिलन' और इससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि सेनाएँ एक दूसरे के नजदीक हैं और वे अपनी वर्तमान स्थितियों से एक दूसरे पर आक्रमण प्रत्याक्रमण कर सकती हैं।

सियाह नमूछान—इसका शाब्दिक अर्थ है 'काला रंग दिखाना।'' यह शब्द तब प्रयोग किया जाता था जब कि काफी दूरी पर शत्रु सेना के आने का हलका सा आभास मिलने लगता था।

हल्ला—स्टीनगैस (पृ० १५०६) के अनुसार यह शब्द 'हमला' से बना है और इसका अर्थ है शत्रु पर पूरी शक्ति से धावा करना।

यूरिश—स्टीनगैस (पृ० १५३७) और पी० डि० कर्टील (पृ० ५३५ के अनुसार यह शब्द तुर्की जवान का है और 'हल्ला' का समानार्थी है।

हयात-ए-मजमूई—यह शब्द भी किसी प्रकार के सामूहिक धावे के अर्थ में प्रयोग किया जाता था। शाब्दिक रूप में हयात का अर्थ है—ढंग, तरीका, रूप और मजमूई

का अर्थ है सामूहिक या योग। मेरे विचार से यह पारिभाषिक शब्द है, परन्तु मैं इसकी यथार्थ परिभाषा के विषय में सन्तुष्ट नहीं हो सका हूँ।

चपकुची--हार्न (पृ० २१) के अनुसार इस शब्द का अर्थ है पूर्व निरीक्षण; मैंने इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं पाया है।

तुर्कताजी—यह शब्द तेज या साहसिक घुड़सवारी के लिए प्रयोग किया जाता था। हार्न (पृ० २१) और ब्लाकमैन (फाईन, भाग १, पृ० ३७१, टिप्पणी) ने एक और शब्द दिया है, उद्माक या ऐमाक; ये शब्द बाद में प्रचलित नहीं रह गए थे।

सिपाही-ए-फालेज—इसका शाब्दिक अर्थ है 'तरबूज के खेत के सिपाही; मैं इस शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं समझ सका हूँ। प्रयोग तथा प्रसंग के अनुसार इसका अर्थ निकलता है हारी हुई, या प्रतिरोध न करने वाली टुकड़ियां। सम्भवतः यह एक उपमा है जिसका अर्थ है कि ऐसे सिपाहियों का सिर उतनी ही आसानी से काटा जा सका है जिस प्रकार कि खेत में से तरबूज इकठ्ठे किए जा सकते हैं। मिर्जा हैदर (रास और एलियास पृ० ३२३) ने इसी प्रकार की एक अभिव्यक्ति एक शाहजादे के मुँह से कराया है जो एक अप्राशिक्षित एवम् अनुशासनहीन सेना का निरीक्षण कर रहा है; इन ढीले ढाले और अधकचरे सैनिकों को देखकर शाहजादा कहता है, "इस प्रकार के दस्ते के बल पर तो शाक-सब्जियों के बगीचे पर भी हमला करना भी खतरनाक साबित हो सकता है।"

पराजय—प्रायः जब कोई सेना हार कर भागने लगती थी, तो भारी तोपें युद्ध-क्षेत्र में ही छोड़ दी जाती थीं, क्योंकि उनको जल्दी में खींच कर ले जाना लगभग असम्भव ही था। अक्सर ऐसे वर्णन मिलते है कि भागते समय सेनाएँ इन तोपों को तोड़-फोड़ कर जाती थीं ताकि दुश्मन उनका इस्तेमाल न कर सके (ब्लैकर, 'वार' पृ० १२८)। १०६७ हि० में गोलकुण्डा में आलमगीर ने यही किया था (खाफी खाँ, भाग २, पृ० ३५५, अन्तिम पंक्ति, "मीख जदह नाबूद साख्तन्द")। प्रायः जब कोई सेना मैदान छोड़कर भागने लगती थी, तो इतनी गड़बड़ी पैदा हो जाती थी कि कई दिनों तक यही पता नहीं लगता था कि सेना का मुख्य भाग किस दिशा की ओर निकल गया है। अपनी पराजय का तुरन्त बदला लेने की बात वे सोचते ही नहीं थे; अपने भागने के रास्ते की जानकारी शत्रुओं को न होने पाए, इसका वे कोई उपाय नहीं करते थे और न तो वे यही सोचते थे कि वे फिर से मोर्चा लें, या रास्ते में शत्रु को फँसाने के लिए कृत्रिम मोर्चे बनावें या पीछा करने वालों को बहका कर किसी विपत्ति में डाल दें। उनके जो भी सामान उनके भागने में अवरोध उत्पन्न करते थे, उन्हें वे तुरन्त वहीं छोड़ देते थे और केवल अपनी जान लेकर भागते थे। इसके दो कारण थे, पहला, अनुशासन हीनता, तथा दूसरा, दोष पूर्ण नेतृत्व, जिसके फलस्वरूप प्रत्येक सैनिक, अपने

सेनापति की मर्जी से चलने की अपेक्षा, अपनी ही बुद्धि से कार्य करने के लिए स्वयम् को स्वतंत्र अनुभव करने लगते थे (ब्लैकर 'वार', पृ० १६२)।

जौहर—हिन्दुओं में, विशेषकर राजपूतों में यह प्रथा प्रचलित थी कि जब वे अपनी पराजय को निश्चित समझते थे तो दुश्मनों के हाथ से अपनी स्त्रियों एवम् बच्चों को अपमानित होने से बचाने के लिए वे उन्हें स्वयम् मार डालते थे या जला देते थे और स्वयम् शत्रुओं से लड़ते हुए मर जाते थे। जब मुबारिज खाँ का लड़का ख्वाजा असद खाँ कुछ मुगल सैनिकों के एक छोटे से दस्ते के साथ, मराठों की एक विशाल सेना द्वारा घेर लिया गया था तो उसने भी यही तरीका अख्तियार करने का इरादा किया था (अहवाल-ए खवाकीन, फोलियो, १६४ ए)।

विजय की घोषणा—जब कोई सेना किसी दिन जीत जाती थी तो उनका विजयी सेनापति नक्कारे पीटने और करनाइयां बजाने का आदेश देता था जिससे उसके सैनिकों में नया जोश जागे और शत्रुओं के हृदय में भय छा जाय और वे हतोत्साहित हो जांय। कभी-कभी अपने हतोत्साह सैनिकों को जोश दिलाने के लिए भी सेनापति नक्कारों को जोरों से बजवाता था जिससे कि उसके सैनिक यह समझें कि उस दिन के युद्ध में विजय, श्री उन्हीं को मिली है और इस जोश से वे दूसरे दिन इतनी वीरता से लड़ें कि वे भ्रम जनित सफलता को वास्तविक सफलता में बदल दें।

सिरों के स्तम्भ—कुछ सेनाओं में यह रिवाज भी प्रचलित था कि उनका कोई सहायक सेनापति जब राजधानी में कोई सन्देश या पत्र भेजता था, तो अपनी सफलता के प्रतीक के रूप में, अधिक से अधिक संख्या में दुश्मनों के कटे हुए सिरों को भी एकत्रित करके भेजता था। मध्य एशिया में पहले यह प्रथा प्रचलित थी कि मरे हुए शत्रुओं के सिरों से विजय स्तम्भ बनवाए जाते थे। हिन्दुस्तान में भी इस प्रथा का आगमन मध्य एशिया से ही हुआ था। बदायूनी ने इस सम्बन्ध में दो उदाहरण दिया है (भाग २, पृ० १७ और पृ० १६६)। ६६४ हि० (१५५६–५७) में अकबर ने पानीपत में मृतकों के सिरों को जोड़कर एक पिरामिड बनवाया था और ६८१ हि० (१५७३–७४) में अहमदाबाद के निकट उसने ऐसा ही एक पिरामिड और खड़ा कराया था। बहादुरशाह और आलमगीर के शासन काल में कटे हुए सिरों को भेजने की प्रथा के भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए दानिशमन्द खां के अनुसार (१८ वीं रमजान, ११११ हि० अर्थात् १२ दिसम्बर १७०७ का वर्णन) एक शाही अफसर ने मथुरा के निकट जाटों के एक किले सनसनी पर अधिकार करने के बाद १० बैलगाड़ियों में १००० कटे हुए सिर और उनके अस्त्र-शस्त्र बादशाह के पास भेजा था। मनूची (फिलिप्स, १६४५, भाग १, पृ० ८५) ने लिखा है कि उसने स्वयम् कटे हुए सिरों के अनेक ढेर देखे थे और एक बार तो १०००० सिरों का ढेर एक ही स्थान पर देखा था। दिल्ली और

आगरा के बीच अपनी यात्राओं के दौरान (१६५६–१६८०) में उसने अनेक खम्भों में बने हुए ताखों में सदैव ताजे कटे हुए सिरों को देखा था; ये खम्भे इसी उद्देश्य से खड़े ही किए गए थे। ११२२ हि० (१७११) में सरहिन्द पर अधिकार हो जाने की घोषणा करते हुए मुहम्मद अमीन खाँ ने ६ बैलगाड़ियों को कटे हुए सिरों से भर कर भेजा था और रिपोर्ट दिया था कि अन्य सिरों से एक मीनार बनवा दी गई है (कामराज, 'इबारत नामा, फोलियो ४३ बी)। १७१५ में, फर्रुखसियर के शासन काल में, गुरुदास पुर की विजय के प्रतीक के रूप में सेना ने दो तीन सौ सिरों को लाठियों में टाँग कर दिल्ली म प्रवेश किया था। 'अकबर-ए-मुहब्बत' (फोलियो २७६) के अनुसार जफर खां ने, ११२४ हि० (१७१२) में रशीद खां को पराजित करने के पश्चात् मुर्शिदाबाद के पास ही, हिन्दुस्तान को जाने वाली शाही सड़क पर सिरों के अनेक स्तम्भों को निर्मित करवा दिया था। अशाव (फोलियो १११ बी) के अनुसार सआदत, बुरहान उल मुल्क ने ११४८ हि० (अक्टूबर १७३५) में भगवन्त सिंह, खीचर को पराजित करने के पश्चात् शाही दरबार में मृत शत्रुओं के कटे हुए सिरों को भेजा था। 'म आसिर-उल-उमरा' भाग २, पृ० ७८८ के अनुसार अब्दुल्ला खां, फीरोज जंग (जिसकी मृत्यु १०५४ हि० (१६४४–४५) में हुई) यह ढींग मारा करता था कि उसने अपने जीवन काल में दो लाख व्यक्तियों के सिर काटे थे और आगरा से पटना तक, दोनो ओर, सड़क पर सिरों के स्तम्भ निर्मित करवाए थे।

———

बाईसवाँ अध्याय

विशेष युद्ध, युद्ध की चालें, एवम् हानियाँ

डाक्टर हार्न में लगभग ३५ पृष्ठों (७१–१०५) में अनेक ऐतिहासिक युद्धों का विवरण एकत्रित किया है। इनमें से मुख्य युद्ध इस प्रकार हैं—२१ अप्रैल १५२६ को बाबर का पानीपत का युद्ध; १६ मार्च १५२७ को बाबर तथा राणा सांगा का युद्ध, ५ वीं नवम्बर १५५६ में अकबर का पानीपत का द्वितीय युद्ध, ३ जनवरी १६५६ को कोड़ा में शाहशुजा और आलमगीर का युध्द और अजमेर के पास की एक पहाड़ी पर अधिकार करने के लिए किया गया आक्रमण। इनमें से अधिकांश युध्दों के वर्णन में, इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है कि इन युध्दों में कौन घटना कैसे हुई, बल्कि विरोधी सेनाओं की युध्द शैली को अधिक महत्वपूर्ण मानकर ही ये विवरण दिए गए हैं। इनमें से पहले युध्द के वर्णन को छोड़कर, जो २१ अप्रैल १५२६ को हुआ था और जिसे स्वयम् बाबर ने लिखा है, शेष सभी युध्दों के वर्णन उस अतिशयोक्ति पूर्ण शैली में किए गए हैं जिसे हिन्दुस्तानी और फारसी लेखक गर्व करने के योग्य मानते हैं, इन वर्णनों में शब्दों की ध्वनि को आकर्षक बनाने के लिए यथार्थता का बलिदान कर दिया गया है और साधारण से साधारण घटना के वर्णन को भी उपमाओं और अलंकारों में इस प्रकार बांध दिया गया है, कि उनको समझने में सारी बुध्दि लगा देनी पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे दुरूह और अत्युक्ति पूर्ण वर्णनों का अनुवाद करते-करते अनुवादक निराशा से भर उठा है और उसके यूरोपियन पाठक इन वर्णनों को समझने के लिए माथापच्ची करते-करते थक जाते हैं। ऊपर दी हुई युध्दों की सूची से स्पष्ट है कि हार्न ने जितने भी युध्दों का वर्णन किया है, उनमें से सभी आलमगीर के शासन काल के प्रथम वर्ष में, अथवा उसके पहले ही लड़े गए थे। आलमगीर के शेष शासन काल में तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में अनेक लड़ाइयां लड़ी गईं थीं, अतः यदि बाद के इतिहास कारों की मदद से इस सूची को और आगे बढ़ाया जाय, तो यह सूची बहुत लम्बी हो सकती है। मेरे विचार से इस सूची में जाजऊ (१७०७) आगरा (१७१२) और हसनपुर (१७२०) की लड़ाइयों को जोड़ देने मात्र से ही हमारे अध्ययन का क्षेत्र काफी विस्तृत एवम् लाभदायक हो जायगा।

इन लड़ाइयों में से जाजऊ की लड़ाई के वर्णन के लिए नियामत खां (बाद में दानिशमन्द खां) अली (यह उसका तखल्लुस था) ही सर्वश्रेष्ठ स्रोत है। उसकी मृत्यु ३० वीं रबी, प्रथम पक्ष, ११२२ हि० अर्थात् २८ मई १७१० ई० को हुई थी। यह सुप्रसिध्द कवि और विख्यात साहित्यिक प्रतिभा से पूर्ण व्यक्ति बहादुरशाह द्वारा इतिहास लेखक के रूप में नियुक्त किया गया था। उसने जाजऊ के युध्द के विषय में दो वृत्तान्त लिखे हैं जिसमें उसके आश्रयदाता ने अपने ही भाई आजमशाह को परास्त किया था और दिल्ली का तख्त प्राप्त किया था। उसने 'बहादुरशाह नामा' में इस युध्द का जो वर्णन दिया है, वह अत्यन्त साधारण है, परन्तु युध्दों के सम्बन्ध में उसने एक ग्रन्थ 'जंगनामा', अलग से लिखा है जिसमें युध्दों के वर्णन उस खुली और विस्तृत शैली में लिखे गए हैं, जो इस प्रकार के वर्णनों को लिपिबध्द करने के लिए उपयुक्त समझी जाती थी। यह ग्रन्थ अत्यन्त चातुर्थ पूर्ण ढंग से लिखा गया है और घृणास्पद घटनाओं के लिपिबध्द करने का यह एक प्रशंसनीय नमूना है। जब मैंने इसको आद्योपान्त पढ़ लिया और मैंने प्रमुख तथ्यों को संग्रहीत करना चाहा तो मैंने अनुभव किया कि जितने पृष्ठों में यह किताब लिखी गई है, उसमें के केवल पांचवें भाग में ही इसका तथ्यपूर्ण वर्णन किया जा सकता था।

डाक्टर हार्न के उदाहरण का अनुसरण करते हुए, मैं हसनपुर की लड़ाई का वर्णन करूँगा जो १३ नवम्बर १७२० में लड़ी गई थी। २८ वीं सितम्बर १७१९ ई० को मुहम्मदशाह सैय्यद भाइयों—अब्दुल्ला खाँ और हुसेन अली खाँ की मदद से तख्त पर बैठ चुका था। इसके लगभग एक वर्ष बाद ही, ८ अक्टूबर १७२० को मुहम्मदशाह की स्वीकृति से छोटे सैय्यद भाई हुसेन अली खाँ को कत्ल कर दिया गया। इस पर अब्दुल्ला खाँ मुहम्मदशाह से खटक गया और उससे बदला लेने के लिए उसने शाही परिवार के एक अन्य शहजादे को उभाड़ कर उसे तख्त पर बिठाने का वादा किया और उसके साथ मुहम्मदशाह से युद्ध करने के लिए दिल्ली से चल पड़ा। मुहम्मदशाह उस समय दक्षिण पूर्व से राजधानी की तरफ लौट रहा था। जिस समय यह निर्णयात्मक युध्द प्रारम्भ हुआ, उसके कुछ समय पहले बादशाह का कैम्प हसनपुर में पड़ा हुआ था, जब कि अब्दुल्ला खाँ इस समय तक बिलूचपुर आ पहुँचा था, जो हसनपुर से लगभग ६ मील उत्तर की तरफ स्थित था। ये दोनों ही स्थान, दिल्ली और मथुरा के बीच में, पलवल परगने में, यमुना नदी के किनारे स्थित हैं। नीचे दिया गया हसनपुर के युध्द का वर्णन निम्नलिखित लेखकों पर आधारित हैं—(१) कामबर खाँ, (२) शिवदास, (३) खाफी खाँ, (४) मुहम्मद कासिम लाहौरी, (५) मुहम्मद शफी वारिद (६) ख्वाजा अब्दुल करीम काश्मीरी और मुहम्मद उमर, खिज्र खाँ का लड़का था।

हसनपुर का युद्ध—बुधवार, १३ वीं मुहर्रम ११३३ हि० (१३ नवम्बर १७२०) को सबेरे सूर्योदय के पूर्व ही, मुहम्मदशाह अपने 'बादशाह पसन्द' नामक हाथी पर सवार हुआ और अपनी सेना के मध्य भाग में, अपने निश्चित स्थान पर खड़ा हो गया। हैदर कुली को मजबूत तोपखाने का नेतृत्व देकर उसे पहले ही आगे भेज दिया गया था। * बांई तरफ से तोपखाने की रक्षा करने के लिए खान दौरान और साबित खाँ को तैनात किए जाने का हुक्म दिया गया। मुहम्मद खाँ बंगश और सआदत खाँ को पिछली रक्षक पंक्ति का उत्तरदायित्व सौंप कर नदी की ओर भेजा गया। स्वयम् बादशाह की सवारी के अगल बगल ये लोग खड़े थे—नया वजीर मुहम्मद अमीन खां, वजीर का लड़का कमरुद्दीन खाँ, दिल दिलेर खाँ, शेर अफकन खां, हिजबर खां तथा कुछ

---

* यदि हम खुशहाल चन्द (बर्लिन मन्सुक्रिष्ट ४६५, फोलियो १०14 बी का शब्दशः अनुवाद करें तो हमें मालूम होगा कि हैदर कुली खाँ दुश्मनों की गतिविधियों का निरीक्षण करने के लिए दूरबीन का प्रयोग करता था। वह कहता है कि हैदर कुली खाँ दुश्मन से एक 'फरसख' (३ मील) दूर था तभी उसने दूरबीन की आँख के जरिए शत्रुओं को देख लिया था। हो सकता है कि लेखक का अर्थ हो कि उसने अपनी दूरबीन जैसी दृष्टि वाली आँख (चश्मे दूरबीन) से दुश्मन को देखा हो। बाद का (१७६०) एक लेखक, रुस्तम अली बिजनौरी 'हिस्ट्री आव दि रुहेलाज' में कहता है कि १७६१ में पानीपत के युद्ध में मराठों की गति विधियों का निरीक्षण करने के लिए अहमदशाह दुर्रानी ने दूरबीन का इस्तेमाल किया था। चूंकि रुस्तम ने वास्तविक घटना के तीस वर्ष बाद यह ग्रन्थ लिखा था, इसलिए मेरे विचार से उसका यह बयान विवादास्पद हो सकता है। इमामुद्दीन चिश्ती द्वारा लिखित 'हुसेन शाही' फोलियो ६५ वीं में भी हमें अहमदशाह अब्दाली के लड़के तैमूर शाह द्वारा दूरबीन के प्रयोग का वर्णन मिलता है : "बादशाह अपने हाथी पर चढ़ा और धीरे-धीरे सेना का निरीक्षण किया। वह बार-बार दूरबीन को अपनी आंख के पास ले जाता था (करीब-ए-चश्म-ए-मुबारिक गजाश्त)। इन दूरबीनों के कारण कुछ सेनानायकों को अप्रत्याशित विपत्तियों का सामना करना पड़ा। उदाहरण के लिए, बादशाह के द्वारा उनके पास भेजे गए नसक्चियों ने अपनी छड़ियों से कुछ नायको को पीटना शुरू कर दिया। बादशाह के पास एक व्यक्ति खड़ा था जो इस दण्ड पर बहुत आश्चर्य कर रहा था। उसने जब बादशाह से इसका कारण पूछा तो उत्तर मिला, 'अपनी दूरबीन से मैंने देखा कि ये नायक अपने घोड़ों की छाया के नीचे बैठे हुए थे जब कि उनके सिपाही सूर्य की खुली धूप में भुन रहे थे। कल हम सान्त्वना देने के लिए उन्हें खिलअत (सम्मना जनक पोशाक) अता (प्रदान) करेंगे।'"

अन्य सरदार । जफर खां, फखरूद्दीनखां उसका भाई, किशन गढ़ का राजा बहादुर, नुसरत यारखां, जगराम (जयसिंह का दीवान), अजोजखां, मीर मुशरिफ और राजा गोपाल सिंह भदौरिया को मुख्य शिविर की रक्षा का उत्तरदायित्व दिया गया, जो कि बादशाह की वर्तमान स्थिति से एक कोस की दूरी पर स्थित था । इतनी व्यवस्था कर लेने के पश्चात अब्दुल्ला खां के गिरफ्तार दीवान रत्न चन्द को पेश करने का हुक्म दिया गया । वह बादशाह के सामने एक हाथी पर बैठाकर लाया गया । बादशाह के पास पहुँच जाने पर उसे हाथी से उतारा गया और तुरन्त उसका सिर उड़ा दिया गया । इस घृणित सिर को बादशाह के हाथी के पैरों के नीचे डाल दिया गया जिसने तुरन्त इसे रौंद डाला ।

चूड़ामन जाट, जो पश्चिम की तरफ से शाही सेना पर मँडरा रहा था, बहुत से नायकों की आंखों में धूल झोंकता हुआ सीधे शाही कैम्प में घुस गया परन्तु उपरोक्त राजाओं और सरदारों ने तुरन्त उसे खदेड़ दिया । इसके पश्चात् जाटों ने दक्षिणी दिशा से शाही सेना पर धावा किया जहां से वे कुछ युद्ध सामग्रियां एवम् शाही सम्पत्ति का कुछ भाग लूट ले गए । जफर खां, मुजफ्फर खां और मुहम्मद खां बंगश ने एक बार फिर उन्हें खदेड़ दिया । तत्पश्चात् जाटों ने पूर्वी दिशा से शाही सेना में धँसने का प्रयास किया । इस तरफ उनकी मुठभेड़ मीर मुशारिफ और लखनऊ के आलवी खाँ तारीन से हुई, जिन्होंने जाटों के इस धावे को नाकाम कर दिया । परन्तु जाटों के चौतरफा धावों से काफी घबराहट उत्पन्न हो गई और कैम्प के सेवक तथा व्यापारी, अत्यधिक भयभीत होकर जमुना नदी में कूद पड़े, और तैर कर नदी को पार करने का प्रयत्न किया; इस प्रयास में अनेक व्यक्ति डूब कर मर गए । तीन बजे तक युद्ध एवम् खाद्य सामग्रियों से भरे शिविर को एक अधिक सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दिया गया, परन्तु फिर भी जब घबराहट एवम् आंतक का वातावरण समाप्त न हुआ तो इस शिविर को और दूरी पर ले जाया गया ।

जब सय्यद अब्दुल्ला खां की प्रथम रक्षक पंक्ति के सेनापति नज्मुद्दीन अली खां को नदी की तरफ से आगे बढ़ता हुआ देखा गया तो शाही सेना के मीर आतश हैदर कुली खां ने अपनी बड़ी तोपों को खिंचवा कर खुले मैदान में कर लिया और सय्यद की सेना की तरफ तोपों का मुँह घुमाकर छोटी और बड़ी तोपों के गोलों की भरपूर बौछार करते हुए उसने नज्मुद्दीन अली खाँ का जोरदार स्वागत किया । हैदरकुली खां की तोपें इतने जोर से एवम् अनवरत गति से आग उगल रहीं थी कि शत्रु पक्ष की आवाज ही बन्द हो गई । गोलों की प्रत्येक बाढ़ के बाद हैदर कुली खां अपने तोपचियों को इनाम के तौर पर सोने चांदी देकर उन्हें उत्साहित करता जा रहा था । ज्यों ज्यों तोपखाना आगे बढता गया, सेना भी पीछे पीछे अपने कदम जमाती हुई आगे बढ़ती

रही। अपने नायक की उदारता से प्रेरित होकर तोपची पूरे जोश से गोलाबारी कर रहे थे और तोपों के एक समूह के खाली होते होते, तोपों का दूसरा समूह आग उगलने के लिए तैयार हो जाता था। खान दौरान के दस्ते शाही तोपखाने की मदद के लिए आगे बढ़ते गए, विशेषतः संजरखां और दोस्त अली खां ने, जो खान दौरान के तोप-खाने के नायक थे असाधारण पराक्रम और बहादुरी का प्रदर्शन किया। इस साहसपूर्ण प्रयास में दोस्त अली खां का एक पैर भी जख्मी हो गया। सैय्यद नुसरत यार खां और साबित खां ने भी काफी शौर्य एवम् पराक्रम दिखाया, इसी बीच सआदत खां और मुहम्मद खां बंगश बांए से काटते हुए आगे निकल गए। इसी दौरान में शाही सेना की तरफ से एक अग्निबाण (राकेट) फेंका गया जो सय्यद अब्दुल्ला खाँ बारुद वाले शिविर में जा कर गिरा तथा विस्फोट के फलस्वरूप अनेक सिपाहियों को जान से हाथ धोना पड़ा।

तेरहवीं तारीख को दिन भर के युध्द में मुख्य भाग तोपखाने ने ही लिया, सेना के शेष अंग लगभग क्रिया हीन रहे। सैय्यद अब्दुल्ला खां की अगली रक्षक पंक्ति की कमान उसके भाई नाजिमुद्दीन अली खां के हाथ में थी और उसी के दस्तों को इस भयानक गोलाबारी का सामना करना पड़ा। प्रारम्भ में सैय्यद भाइयों की योजना यही थी कि शाही सेना पर सीधा धावा किया जायगा। शाही पक्ष से असन्तुष्ट होकर राजा मुकाम सिंह सैय्यदों से आ मिला था। शाही तोपखाने की प्रबल गोलाबारी से त्रस्त होकर, उसने अब्दुल्ला खां को राय दी कि ऐसे सशक्त तोपखाने वाली सेना के विरुध्द सीधा आक्रमण करने का मतलब स्वयम् को जानबूझ कर मौत के मुँह में झोकना है। उसने कहा कि उनकी सेना में तोपों की जो भी थोड़ी बहुत संख्या है, उन्हें किसी खण्डहर आदि में मोर्चा बना कर स्थित किया जाय और वहीं से वे अपनी विजय के उचित अवसर की प्रतीक्षा करें। यद्यपि वह अपने युध्द कौशल तथा सैनिक गुणों के कारण दक्षिण में काफी विख्यात हो चुका था, परन्तु अब्दुल्ला खां ने उसके इस परामर्श पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। सैय्यद भाइयों ने अपने तोपखाने को एक ऊँचे टीले पर स्थित किया, जहाँ चारों ओर वृक्ष लगे हुए थे और पास ही में एक गांव था जो वीरान पड़ा था। सय्यदों के तोपखाने ने भी अपनी सामर्थ्य भर शाही गोलाबारी का जवाब देना शुरू कर दिया। युध्द क्षेत्र, में छिट पुट युध्द, धावे और प्रतिरोध होते रहे और एक बार तो ऐसा प्रतीत हुआ कि शाही पक्ष अब हार मान लेगा। परन्तु खान दौरान सैय्यद नुसरत यार खां, साबित खां, दोस्त अली खां, सैय्यद हामिद खां व असद अली खां ने अनवरत प्राक्रम एवम् उत्साह प्रदर्शित करके किसी प्रकार शाही सेना को पुनः पूर्व स्थिति पर कायम कर दिया। अन्त में शाही सेना ने सय्यदों की कुछ तोपों पर अधिकार कर लिया और उन्हें पेड़ों के नीचे के अपने सुरक्षित स्थान से भागना पड़ा। निजामुद्दीन

अली खां काफी बुरी तरह से घायल हो गया; एक तीर उसकी आँख के पास धँस गया था * और उसका घुटना एक गोले की चोट से टूट गया था। उस दिन के युध्द में सैय्यद पक्ष के मारे गये सरदारों के नाम इस प्रकार हैं—लखनऊ का शेख सिबगतुल्ला, उसके तीन लड़के और ७५ सिपाही; अब्दुल कादिर खां, (काजी मीर, बहादुर शाही, का भतीजा); अब्दुल गनी खां (अब्दुर्रहीम खां, आलमगीरी का लड़का) गुलाम मुहीउद्दीन खाँ और शुजा खां पलबली का बेटा। सिपाही भी काफी संख्या में मारे गए थे।

अब्दुल्ला खाँ ने निश्चय किया था कि वह सर्व प्रथम सैय्यद नुसरत यार खाँ के अधीनस्थ दस्तों पर धावा करेगा, जो कि बादशाह के समीप ही प्रथम रक्षक पंक्ति की कमान सम्भाले हुये था। इस सरदार के प्रति सैय्यदों के हृदय में बहुत जलन थी क्योंकि वह उनके ही रक्त का था, साथ ही उनका रिश्तेदार भी था, परन्तु वह उनके विरुद्ध लड़ रहा था। अब्दुल्ला खाँ ने सोच रक्खा था कि सैय्यद नुसरत यार खाँ को एक तरफ से दबा देने के पश्चात् वह शाही सेना के मध्य भाग (कल्ब) पर सीधा आक्रमण कर सकेगा जहाँ स्वयम् बादशाह मुहम्मदशाह हाथी पर सवार स्थित था। सर्वप्रथम उसने अपने बाएँ से काट कर अपने लक्ष्य केन्द्र तक पहुँचने के लिये रास्ता पाने का प्रयत्न किया, परन्तु उस रास्ते में नदी एक अवरोध के रूप में बह रही थी, इससे वह मार्ग छोड़ कर, उसने दिशा बदल दिया और अपनी सेना के आगे निकलते हुये दाहिनी तरफ बढ़ा। ज्योंही दुश्मनों ने उसको इस प्रकार अपनी तरफ बढ़ते देखा, मुहम्मदशाह ने हर तरफ की टुकड़ियों को मध्य की ओर सिमट आने का आदेश भेजा, क्योंकि वह अनुभव कर रहा था कि मध्य की स्थिति बहुत कमजोर और आरक्षित हो गई है। सभी नायक अपने-अपने स्थानों पर व्यस्त थे, इस लिये उन्होंने अपने स्थानों को छोड़ना उचित नहीं समझा और बादशाह के पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचने के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया। इस पर बादशाह ने अपने निजी जिन्सी तोपखाने को नदी की ओर का रास्ता अवरुद्ध करने के लिये भेज दिया और बादशाह की अगली रक्षक पंक्ति के कुछ दस्तों को भी उसी तरफ रवाना कर दिया गया।

उधर अब्दुल्ला लाँ द्वारा इस प्रकार अचानक मार्ग परिवर्तितकर दिये जाने के कारण दुर्भाग्यवश उसकी सेना नदी के तट से कई मील दूर हट गई जिससे उन्हें पर्याप्त असुविधा उठानी पड़ी। इस समय युद्ध करते-करते दोपहर हो गई थी और अभी तक अब्दुल्ला खाँ के चेहरे पर हतोत्साह होने का कोई भो चिन्ह नहीं दिखाई पड़ रहा था।

---

* इस चोट से उसकी एस आँख जाती रही थी और वह उसके स्थान पर कांच की जो आँख लागता था, उसे देखकर सामान्य जन बहुत ही आश्चर्य चकित होते थे। म-आसिर-उल उमरा, भाग २, पृ० ५०८)।

परन्तु उसके सिपाही विशेष कर नए रंगरूट बेचैनी प्रकट करने लगे थे और कुछ समय बाद ही उनकी मति एक दम से भ्रष्ट हो गई। अपने ऊंटों और घोड़ों को नदी में पानी पिलाने का बहाना लेकर वे बारी-बारी से नदी की तरफ खिसक गए, परन्तु वहां पहुँचाने पर उन्होंने देखा कि नदी के तट पर शाही तोपें मोर्चा बांधे खड़ी हैं। उधर पानी लेने के बहाने से सैय्यद सेना के दस्ते, एक के बाद एक करके, युद्धक्षेत्र से नदी की ओर खिसकते रहे। रात्रि तक सैय्यद सेना के सिपाही इसी प्रकार सेना को छोड़कर भागते रहे और रात भर में, सैय्यदों के कैम्प से दिल्ली के पास बने बारहपुल तक सारी सड़क इन भगोड़े सिपाहियों से भर गई। रात्रि के समाप्त होते होते सैय्यद की सेना में केवल कुछ हजार सैनिक ही बचे रह गये, दिल्ली से चली इस विशाल सेना के अधिकांश सैनिक युद्ध की भयानकता से घबरा कर मैंदान छोड़-छाड़ कर चुपचाप भाग निकले।

अपने खड़े होने के ही स्थान तर सर्वप्रथम अब्दुल्ला खां ने अपना रात्रिकालीन शिविर गड़वाने का इरादा किया परन्तु कुछ सोचविचार के पश्चात् उसने अनुभव किय कि वह स्थान शत्रुओं की तोपों के मार के अन्दर है, इसलिये उसने कुछ और दूर हट कर अपना शिविर गड़वाया। रात चांदनी थी और हर तरफ चांद की किरणें प्रकाश फैलाए हुये थी, दूसरी विपत्ति यह थी कि शाही सेनाएँ निरन्तर गोलाबारी कर रही थीं। यदि सैय्यद सेना का कोई भी सिपाही या अफसर चन्द्रमा के प्रकाश में नजर आ जाता था तो शाही तोपें तुरन्त उस स्थान पर गोले फेंकने लगती थीं। समय-समय पर शाही तोपो को खींच कर आगे बढ़ा लिया जाता था और बैल हमेश जुते रहते थे ताकि अवसर पड़ने पर तोपों को तुरन्त आगे बढ़ाया जा सके। इस युद्ध में दोनों विशाल-काय तोपों—'गाजीखां' और 'शाहपसन्द'—का इस्तेमाल किया गया था। ये तोपें असाधारण गति से गोले फेंक रही थीं और सेना के बुजुर्ग सरदारों का कहना था कि इन तोपों ने कभी भी इस गति से गोलबारी नहीं किया था। लगातार उपहार तथा इनाम देकर हैदरकुली खां अपने तोपचियों को उत्साहित करता जा रहा था जब कि अब्दुल्ला खां के सिपाही छोटे छोटे समूह बना कर कैम्प छोड़ कर भागते जा रहे थे। मुहम्मद शाह ने अपनी अगली रक्षक पंक्ति के पास, हाथी पर बैठे-बैठे रात बिता दी।

जब १४ वीं मुहर्रम (१४ नवम्बर १७२० को सूर्य ने युद्धक्षेत्र पर रक्तिम किरणें फेंकना प्रारम्भ किया तो अब्दुल्ला खां ने पाया की उसके लगभग सभी सिपाही भाग चुके थे और अब उसके पास उसकी स्वयम् की निजी सेना तथा उसके कुछ घनिष्ठ मित्र और रिश्तेदार ही शेष रह गये थे जिनकी कुल संख्या एक हजार से अधिक नहीं थी। परन्तु फिर भी अब्दुल्ला खां ने हिम्मत नहीं हारी और उतने ही सैनिकों के साथ पूरे उत्साह से युद्ध प्रारम्भ किया। इस समय उसके पास केवल निम्नलिखित व्यक्ति शेष बचे थे—उसके दोनों छोटे भाई नज्मुद्दीन अली खां और सैफुद्दीन अली खां, सैय्यद अफजल

खां, राय टेक चन्द (एक बाली खत्री, जो उसका विश्वस्त नायक था), गाजीउद्दीन खां (अहमद बेग), नवाब अल्लाहयार खां शाहजहानी और रुहल्ला खां। उसके इन सभी विश्वस्त साथियों ने हाथियों की पीठ पर ही, जागते हुए पूरी रात बिताई थी और कई घन्टों से उन्होंने अन्न जल का दर्शन भी नहीं किया था। नदी के घाट के मार्ग को जाटों ने घेर लिया था, जो कि शत्रुओं और मित्रों में कोई भेदभाव किए बिना, उधर से गुजरने वाले सभी लोगों की धन सम्पत्ति छीन लिया करते थे। सूर्योदय के कुछ देर पहले राजा मुकामसिंह के हाथी के हौदे में शाही सेना की ओर से फेंका गया एक गोला लगा, जिससे उसका हाथी चिंघाड़ने लगा। राजा तुरन्त हाथी पर से उतरा और अपने घोड़े पर सवार होकर चुपचाप किसी अज्ञात दिशा की ओर निकल गया और वर्षों तक यही पता नहीं लगा कि वह जीवित है या मर गया।

सवेरे सवेरे, पिछले दिन की योजनानुसार अब्दुल्ला खाँ ने, नज्मुद्दीन अली खाँ तथा अनेक सरदारों के साथ, पूरे-जोर से शाही सेना पर आक्रमण किया और शीघ्र से शीघ्र बादशाह के हाथी के पास पहुंचने का प्रयत्न करने लगा। शाही सेना के बांए दस्ते ने उसके इस प्रयास का प्रबल प्रतिरोध किया। परन्तु सैय्यदों ने अभी तक निराश होना नहीं सीखा था; वह अपने साथियों समेत घोड़े पर से उतर गया और शाही सेना से पैदल गुत्थमगुत्था युद्ध करने लगा। इस दुस्साहस पूर्ण प्रयास में उसके कई विश्वस्त सरदार मारे गए, जिनमें से मुख्य थे—शहमत खाँ और उसका लड़का, फतह मुहम्मद खाँ, तहव्वर अली खाँ (जो बहादुर अली खाँ के नाम से अधिक विख्यात है) आदि उसके पक्ष के अनेक सैनिक भी इस मुठभेड़ में मारे गए। शाही पक्ष के भी कम लोग नहीं मारे गए, मारे जाने वाले लोगों में से प्रमुख थे, दरवेश अली खाँ (खान दौरान के तोपखाने का नायक), अब्दुल-नबी खाँ और माया राम (दोनों ही हैदरकुली खाँ के विश्वस्त अफसर थे) और मुहम्मद जफर (हुसेन खाँ का पौत्र)। दोस्त अली खाँ और नुसरत यार खाँ बुरी तरह से घायल हो गए। सआदत खाँ और शेर अफगन खाँ ने भी काफी वीरता से युद्ध किया, परन्तु उन्हें कोई विशेष जख्म नहीं लगे।

कुछ समय बाद खान दौरान, हैदर कुली खाँ, सआदत खाँ और मुहम्मद खाँ बगश तथा उनकी टुकड़ियों ने भूतपूर्व वजीर को चारों तरफ से घेर लिया। इसी समय अब्दुल्ला खाँ के माथे में एक तीर लगा जिससे उसके माथे का चमड़ा काफी भीतर तक छिल गया। उसके घायल हो जाने पर सिपाहियों ने उसे बन्दी बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु अब्दुल्ला खां इस प्रकार गिरफ्तार होना नहीं चाहता था। यद्यपि वह जिरह बख्तर आदि वजनी चीजें पहने हुए था फिर भी वह एक हाथ में तलवार लेकर वह जमीन पर चिपक गया, और मृत्युपर्यन्त लड़ने का इरादा किया। यद्यपि अब्दुल्ला खां के सिपाही यह जानते थे कि वह नाजुक अवसरों पर पैदल ही लड़ने का अभ्यस्त है,

फिर भी जब उन्होंने उसे हाथी पर नहीं देखा तो उन्होंने कल्पना कर लिया कि उनका सेनापति भाग निकला है; और यही सोचते हुए उन्हें भी अपने जान की फिक्र होने लगी। इसी समय तालियार खां ने अपने दस्ते के साथ, अब्दुल्ला खाँ के तोपखाने के नए नायक शेख नाथू को काट डाला। राजपूतों ने उसके मृत-शरीर को अपने अधिकार में कर लिया और उसे शाही शिविर में ले गए। इधर अब्दुल्ला खां की सेना में भगदड़ मच चुकी थी। नज्मुद्दीन अली खां और गाजिउद्दीन खां ने अपने भागते हुए सैनिकों को रोकने का बहुतेरा प्रयत्न किया, परन्तु किसी ने भी उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। यहां तक कि शुजा अताउल्ला खां जुल्फिकार अली खां और अब्दुल्ला खां तारीन भी भाग चले। यही नहीं, स्वयम् अब्दुल्ला खाँ का भाई सैफुद्दीन अली खाँ भी, यह सोचकर कि उसकी सेना पराजित हो गई है, अपने दो तीन सौ आदमियों के साथ मैदान से भाग खड़ा हुआ। वह अपने साथ शाहजादा इब्राहीन को भी लेता गया। शाहजादे ने अपना हाथी और शाही छत्र वहीं छोड़ दिया था जो बाद में मुहम्मदशाह के सैनिकों द्वारा अधिकृत कर लिया गया। सैय्यदों की सेना का प्रतिरोध कितना कमजोर एवम् हल्का था, इसका अनुमान हम केवल इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि दो दिन की लड़ाई के बाद भी यदि हम वारिद खाँ का विश्वास करें तो युद्ध क्षेत्र में कुल मिलाकर उनके पक्ष के चालीस सिपाही मरे हुए पाए गए थे।

नज्मुद्दीन अली खाँ, हाथ में नंगी तलवार लिए, हाथी पर सवार होकर अपने बड़े भाई अब्दुल्ला खाँ की खोज खबर लेने के लिए शाही सेना की ओर रवाना हो गया। उसने देखा कि अब्दुल्ला खाँ एक स्थान पर पैदल और बिल्कुल अकेला खड़ा है, और यद्यपि उसका हाथ घायल हो गया है, वह अब भी शेर की तरह लड़ रहा है, जब कि हर तरह से उसके ऊपर आक्रमण करने वाले उभड़े आ रहे हैं। इतने पर भी, नज्मुद्दीन ने देखा कि किसी में भी यह साहस नहीं हो रहा था कि उसके निकट पहुँच कर उससे जंग ले। खान दौरान के एक सैनिक ने उसके दाहिने हाथ के एक उँगली पर जरा सी चोट पहुंचा दी, परन्तु उसे अपने इस दुस्साहस की कीमत अपनी जान से चुकानी पड़ी; सैय्यद अब्दुल्ला खां ने पलटकर तलवार का एक ऐसा सधा हाथ मारा जिससे उसका पैर तथा उसके घोड़े की गर्दन एक साथ उड़ गई। इतना देखते ही नज्मुद्दीन अली खाँ अपने हाथी पर से उतरा और तलवार चलाते हुए अपने भाई के पहुंच गया। अब्दुल्ला खां ने जोर से उससे कहा, "देख लो तकदीर की चंचलता और दुनियावी महानता का अन्त।' साथ ही उसने सादी, शीराजी का एक समयानुकूल शेर भी कहा।*

---

*खिज्र खां ने भी सैय्यद की तरफ से इस युद्ध में भाग लिया था वह इस समय काफी नजदीक था और अब्दुल्ला द्वारा नज्मुद्दीन से कही गई बात को सुन सकता था, परन्तु शोर गुल के कारण वह सुन नहीं पाया। इस घटना के कुछ समय बाद (१११८

इधर हैदर कुली खाँ ने जब देखा कि अब्दुल्ला खां के हाथी का हौदा खाली पड़ा है, तो उसने भी उसके विषय में पूछताछ करना प्रारम्भ कर दिया। उसे अपने ही सिपाहियों से पता लगा कि वह घायल हो गया है और पैदल ही लड़ रहा है। यह खबर पाते ही ही हैदर कुली खाँ एक हाथी लेकर वहाँ पहुंचा और बहुत ही नम्रतापूर्ण ढंग से सैय्यद अब्दुल्ला खां को सम्बोधित करते हुए उसकी बहुत तारीफ की और कहा, कि क्या वह हम लोगों का शुभचिन्तक नहीं था और क्या उसका जीवन हमारे जीवन के साथ एक में नहीं बँधा था; इसके अलावा अब दूसरा रास्ता ही क्या था कि वह स्वयम् ही बादशाह के हुजूर में पेश हो जाय।" नज्मुद्दीन अली खाँ ने तुरन्त हैदर कुली खाँ को मारने के लिए पैतरा बदला परन्तु अब्दुल्ला खाँ ने झटके से अपने भाई को पीछे खींच लिया। तत्पश्चात वह बड़े ही गर्वपूर्ण भाव से शान-के साथ खड़ा हो गया, उसने अपने भाई नज्मुद्दीन अली खां का हाथ पकड़ा और हैदर कुली खाँ द्वारा लाए हुए हाथी पर सवार हो गया। हैदर कुली खाँ भी पीछे-पीछे अपने हाथी पर चला और अपने कैदियों को सम्मानपूर्ण ढंग से बादशाह मुहम्मदशाह के पास पहुंचा दिया।

जब अब्दुल्ला खाँ को बादशाह के हुजूर में पेश किया गया तो उसके हाथ हैदरकुली खाँ की शाल से बँधे हुए थे। बादशाह ने उससे कहा, "सैय्यद, तुमने स्वयम् अपने ही हाथों अपने को इस हालत में पहुंचाया है।" अब्दुल्ला खां ने बादशाह के इस वाक्य से स्वयम् को अपमानित अनुभव किया, फिर भी उसने केवल यही कहा, "यह तो अल्लाह की मर्जी है।" इस पर मुहम्मद अमीन खाँ आपे से बाहर हो गया, और उछल कर कहा, 'इस गद्दार को, गद्दारी का मजा चखाने के लिए इस पुराने खादिम के हवाले कर दिया जाय' परन्तु खान दौरान ने; अत्यन्त सम्मानपूर्ण ढंग से हस्तक्षेप करते हुए कहा, "नही; नहीं! सैय्यद को मुहम्मद अमीन खाँ के सिपुर्द मत कीजिए अन्यथा वह अत्यन्त क्रूरतापूर्वक ढंग से उसे अभी कत्ल कर देगा और ऐसा कार्य बहुत ही अनुचित और अशोभनीय होगा। या तो उसे हैदरकुली खां के पास ही रहने दीजिए या अपने निजी सैनिकों के सिपुर्द कर दीजिए।" खान दौरान की बात मान ली गई और उसे हैदर कुली खां की सिपुर्दगी में दे दिया गया। नज्मुद्दीन अली खां भी अपने भाई के साथ ही था, यद्यपि वह बहुत बुरी तरह घायल हो गया था और उसके जिन्दा बचने की उम्मीद बहुत कम थी। हामिद खाँ तूरानी को भी कैद कर लिया गया था। उसे नंगे सिर और नंगे पांव, उसके चचेरे भाई मुहम्मद अमीन खां और खान दौरान के सामने पेश किया गया। वजीर ने उसके भय को मीठी-मीठी बातों से समाप्त कर दिया

हि०) में वह अहमदाबाद के मार्ग में नज्मुद्दीन से मिला और तभी उसे पूरे घटनाक्रम का ज्ञान हुआ। इसके विपरीत खाकी खां, भाग २, पृ० ६३३ के अनुसार अब्दुल्ला खां ने अपने सैय्यद होने की बात कह कर अमन (अभयदान) के लिए प्रार्थना किया था।

और उसे आश्वासन दिया कि उसके साथ नरमी का बर्ताव किया जायगा। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सरदार भी बन्दी बनाये गये थे जिनमें से मुख्य थे सैय्यद अली खां (अबुल मुशीन खां, बख्शी का भाई) और अब्दुन नबी खाँ।

सैय्यदों के पक्ष की सेना के कुछ सिपाही गाजिउद्दीन तथा कुछ अन्य सरदारों के नेतृत्व में अपने मोर्चे पर डटे रहे और अब्दुल्ला खां के पकड़े जाने के समय से एक घन्टे बाद तक वे पूर्ण उत्साह के साथ लड़ते ही रहे। जब अन्त में उन्हें निश्चित रूप से यह खबर मिल गई कि पक्ष हार गया है, तो उन्होंने भी युद्ध करन बन्द कर दिया। गाजिउद्दीन, अल्लहयार खां तथा कुछ अन्य सरदार, बचे खुचे सामानों के साथ सीधे दिल्ली की तरफ निकल गए। इसी बीच 'बारह सैय्यदों, ने काफी साहस से काम लेकर यमुना नदी को पार कर लिया और अपने घरों की तरफ रवाना हो गए। सैफुद्दीन अली खां युद्ध क्षेत्र से शाहजादा इब्राहीम को सुरक्षित रूप से निकाल तो लाया परन्तु आगे सवारी का कोई साधन न प्राप्य होने के कारण उसने शाहजादे को नेकपुर गांव के निकट-स्थित कुतुबुद्दीन खां के बगीचे में छोड़ दिया। इस कार्य से निपट लेने के पश्चात सैफुद्दीन खां स्वयम् अपने घर, जनसभ, चला गया परन्तु उसने बाकिर अली खां और खिज्र खां को दिल्ली भेज दिया, ताकि वहां से सैय्यद परिवार की स्त्रियों एवम् अन्य आश्रितों को सुरक्षित रूप घर से ले आया जा सके। ये दोनों व्यक्ति तेजी से चलकर, बादशाह के पहुंचने से पहले हीं दिल्ली पहुँच गए और स्त्रियों तथा अन्य आश्रितों को बिना किसी बाधा के सैय्यदों के क्षेत्र में पहुँचा दिया।

अब युद्धक्षेत्र में शाही सेना का हाल देखिए, अपनी आदत के अनुसार मुगल सैनिक लूटपाट में व्यस्त हो गए और जो भी ऊँट घोड़े खच्चर या अन्य पशु लावारिश दिखाई पड़े, उन्होंने चट अपने अधिकार में कर लिया। उधर चूड़ामन जाट ने भी लूट-पाट में काफी रुचि दिखाई और शत्रु मित्र में कोई भेद न करके समान भाव से उसने दोनों के युद्धक्षेत्र में पड़े सामानों को लूटा, और लूट के सारे माल के साथ वह अपने राज्य की ओर रवाना हो गया। उसके लूट के माल में लगभग १००० से अधिक भार-वाहक बैल और ऊँट थे, जो उपेक्षापूर्वक एक ऊँचे रेतीले टीले पर, जो कि नदी के पास ही था, छोड़ दिए गए थे। साथ ही सामानों से लदे अनेक ऊँट तथा सदर-उस-सदर के मुहकमे के अनेक कागजात भी उसके हाथ लगे थे।

युद्धों के सरकारी विवरण (रिपोर्ट)—जिस प्रकार अंग्रेजी सेनाओं में युद्ध के बाद, किसी सेना का सेनापति अपने उच्चाधिकरियों के पास युद्ध सम्बन्धी आवश्यक विवरण प्रेषित करता है उसी प्रकार उस काल में भी मुगल सेनानायक युद्ध का विवरण (अर्जदाश्त) तैयार करके बादशाह के पास भेजता था। कभी कभी वह अपने मित्रों सहयोगियों में वितरित करने के लिए अलग से युध्द का विवरण तैयार करता था और

उसकी कई नकलें तैयार कराके बाँट दिया करता था। इन विवरणों को 'तूमार' कहा जाता था। यह शब्द अर्थविभाग में एक पारिभाषिक शब्द के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। यदि बादशाह किसी सेनापति के कार्यों से विशेष सन्तुष्ट हो जाता था, तो वह हुक्म देता था कि उक्त सेनापति की विजय को सरकारी डायरी (वाकिया) में लिपि-बध्द कर दिया जाय। यह वाकिया हमारे अंग्रेजी गजट की तरह ही होता था, जिसमें सभी महत्वपूर्ण घटनाओं को दर्ज कर लिया जाता था। साहिब राय द्वारा संकलित 'खुजिस्तह-कलाम' में मुहम्मद खाँ बंगश द्वारा बुन्देलखण्ड से बादशाह के पास भेजे गए युध्दों के कई विवरणों को संकलित किया गया है। इसी ग्रन्थ में, एक 'तूमार' भी संकलित है जिसे निजाम-उलमुल्क ने सैय्यद दिलावर अली खाँ, राजा भीमसिंह हाड़ा और अन्य लोगों पर प्राप्त विजयों के उपलक्ष्य में लिखवा कर वितरित करवाया था।

युध्द सम्बन्धी कपट एवम् चालें—डाक्टर हार्न (पृ० ७०) के अनुसार मुगलों की युध्दप्रणाली में कपटों एवम् चालों को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। सम्भव है कि कभी कभी किसी चाल का प्रयोग किया गया हो, परन्तु उस सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। कभी कभी यह चाल अवश्य चली जाती थी कि अपने पक्ष से झगड़ा करने एवम् मतभेद होने का बहाना करके शत्रुपक्ष के भेदों का पता लगाने के लिए उनका विश्वास प्राप्त किया जाय। रूमी खां ने १५३८ में चुनार में इस तरह की चाल का प्रयोग किया था (हार्न पृ० ७१, अर्सकिन भाग २, पृ० १४०, टिप्पणी का उध्दरण देते हुए)। एक बार निजामुलमुल्क ने इस प्रकार के कपट का आश्रय लिया था। १७२० ई० के मध्य में उसने औरंगाबाद के सूबेदार सैय्यद आलिम अली खां के सूबे को हड़पने के लिए एक योजना बनाई। उसने अपने एक मुख्य सरदार को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वह तनख्वाह के विषय में निजाम से झगड़ा करने का दिखावा करे और बदतमीजी से पेश आए और अपनी तनख्वाह पा जाने पर वह यह प्रदर्शित करे कि उसक निजाम का साथ छोड़ दिया है और आश्रय के लिए सैय्यद आलिम अली खां के यहाँ जाकर उसके यहाँ नियुक्त होने का प्रयत्न करे। इसी योजना के अनुसार पूरी सावधानी से सारा कार्य किया गया। एक दिखावटी विवाद के पश्चात् निजाम ने उसका सारा हिसाब चुकता करके उस सरदार को अपने यहाँ से बर्खास्त कर दिया। जब वह वहां से सैय्यद के कैम्प में पहुंचा तो वहां उसका बहुत सम्मान किया गया और औरंगाबाद के सूबेदार ने उसे अपनी सेना में एक उच्चपद पर नियुक्त कर लिया। परन्तु जब निजामुलमुल्क और सैय्यद आलिम अली खां में युध्द प्रारम्भ हो गया तो, जैसा कि पहले से ही निश्चित किया गया था, उस सरदार ने अपने सैनिकों के साथ सैय्यद की पिछली रक्षक पंक्ति पर धावा बोल दिया। आगे से निजामु-लमुल्क और पीछे से उस सरदार की सेनाओं के बीच में पड़कर सैय्यद की सेना दोन

ओर से भूनी जाने लगी और अन्त में वह बुरी तरह पराजित हुआ। (शिवदास-फोलियो ४२ बी)।

छिपे धावे—(एम्बुश)—इसे मुगलों की सैन्य भाषा में 'ब कमीनगाह-निशिस्तन' कहा जाता था और मुगल सेना प्रायः इस प्रकार के धावे किया करती थी। मुगल सेना के बन्दूकची किसी लम्बी, खड़ी फसल के खेत में या किसी खण्डहर या नाले आदि की आड़ में पिछे रहते थे, जहाँ से, उन्हें शत्रु सेना के सरदारों के गुजरने की आशा रहती थी। उचित अवसर पाते ही, वे उधर से गुजरती हुई शत्रु की टुकड़ियों पर गोलियों की वर्षा सी करते थे जिससे असावधान शत्रुओं को प्रायः बहुत अधिक हानि उठानी पड़ती थी। इसी प्रकार के अप्रत्याशित आक्रमण की चपेट में आकर १२ वी जूल हिज्जह, ११६२ हि० (२२ नवम्बर १७४६) को फर्रूखाबाद के नवाब कायम खां और उसके कई मुख्य सरदार मौत के शिकार हो गए थे (विशेष विवरण के लिए देखिए 'जनरल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल' १८७८ ई० पृ० ३८१)। प्रायः ऐसे छिपे धावों में भाग लेने वाले सिपाही शत्रुओं को फँसाने के लिए, गोलियों की एक बाढ़ छोड़कर भाग निकलते थे और जब उनके शत्रु उनका पीछा करते हुए कुछ दुर तक चले आते थे तो उनकी दूसरी सहायक टुकड़ी उन पर अचानक आक्रमण करके उन्हें भून डालते थे १६ जून १७२० को बरार में निजामुलमुल्क और सैय्यद दिलावर अली खां के बीच हुए युध्द में इस तरह की घटना के घटित होने का विवरण मिलता है। इन दोनों सेनाओं के बीच में कई बड़े बड़े नाले थे जिनमें पूरी की पूरी सेना आसानी से छिप सकती थी। इन गहरे नालों के बीचो बीच एक सड़क थी और केवल यह सड़क ही एकमात्र ऐसा मार्ग था जिससे कि शत्रुसेना आगे बढ़ सकती थी। निजामुलमुल्क ने अपने तोपखाने तथा प्रथम रक्षक पंक्ति की टुकड़ियों को सड़क के दोनों ओर नालों में छुपा दिया। तत्पश्चात् अपनी ही उम्र वाले तीन व्यक्तियों को अपने ही वेष में सजा दिया। ये तीनों व्यक्ति अपनी दाढ़ियों और छद्म वेष में हूबहू निजाम जैसे प्रतीत हो रहे थे। निजाम ने इन तीनों हम शक्लों को हाथियों पर बैठा कर सेना के मुख्य भाग का संचालन करने के लिए भेज दिया जो रक्षक पंक्ति से भी आगे, सड़क पर मोर्चा बांधे खड़े थे। दिलावर अली खां के सैनिकों को छिपे हुए दुश्मनों के विषय में कोई भनक नहीं मिली थी। उन्होंने सीधे, नकली नवाबों द्वारा संचालित निजाम की सेना पर धावा बोल दिया। निजाम की सेना पीछें हटने का बहाना करती गई और दिलावर अली खां के सैनिक उत्साहित होकर उन्हें खदेड़ते हुए आगे बढ़ते रहे। नकली निजाम को पकड़ लेने या मार डालने के इरादे से वे तेजी से आगे बढ़ते गए, और मार्ग में उन्होंने अनेक व्यक्तियों के नवाब के छदमवेष में रेखा, जब काफी देर तक पीछा करने के पश्चात सैय्यद शेर खाँ अपने हाथी को ईवाज खां के हाथी के समीप ले

जाने में सफल हो गया। उसी समय उस मुगल सरदार ने अचानक एक इशारे से अपने हाथी को घुटनों के वल बैठा दिया और इस चाल से, शेर खां के वार से उसने अपनी जान बचा ली। जब दिलावर अली खा की सेना नालों के पास पहुँच गई, जहाँ कि निजाम की तोपें और प्रथम रक्षक पंक्ति के सैनिक छिपे हुए थे, तो मुगल तोपों ने आग उगलना शुरू कर दिया। इस दोतरफा मार से दिलावर अली खां के लगभग सभी सरदार मारे गए और शेष सैनिकों ने जिधर भी मार्ग पाया, सर पर पैर रखकर भाग निकले (शिवदास, ३७ बी; कासिम लाहौरी पृ० ३१४ तारीखे मुजफ्फरी फो० १८३)।

इस प्रकार युद्धक्षेत्र में कई छदमवेषी सेनापतियों के प्रयोग की चाल असामान्य नहीं थी; यह चाल स्वयम् एक बार, कम्पनी के शासनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में अंग्रेजी सेना के साथ चली गई थी जब कि वे दक्षिण में लड़ रहे थे (आर-ओ-कैम्ब्रिज, 'वार' भूमिका पृ० ११)।

इसी शताब्दी के प्रारम्भ में ही, अवध के नवाब परिवार के संस्थापक सआदत खां बुरहानुमुल्क द्वारा भी एक बार इस चाल का प्रयोग किया गया था। यद्यपि इलाहबाद सूबे के कड़ा सरकार के अन्तर्गत गाजीपुर परगना के खीचर जमीन्दारों को दबाने के लिए बादशाह ने कई बार प्रयत्न किया, परन्तु उनका पूर्णतः दमन नहीं किया जा सका और काफी समय तक ये जमीन्दार बादशाह के लिए दर्द सर बने रहे। अन्त में कड़ा सरकार को बुरहानुमुल्क की सिपुर्दगी में दे दिया गया और दूसरी जमादी, दूसरा पक्ष ११४८ हि० (१७ अक्टूबर १७३५) को एक अमीर ने अवध से दिल्ली जाते समय उस समय के जमीन्दार भगवन्त सिंह को काबू में कर लेते का संकल्प कर लिया। वर्तमान जमीन्दार भगवन्त सिंह, उदारू का पुत्र था। जब दोनों पक्षों की सेनाएँ अपने सामने आई, उसी बीच बुरहानुमुल्क ने अपने एक गुलाम को अपने कीमती लिवास में सजाकर, तथा अपना प्रतिरूप बनाकर स्वयम् अपनी हाथी पर बिठा दिया। नवाब उसके पीछे एक हाथी पर सवार होकर चला। नकली नवाब पर कई भयानक आक्रमण किए गए परन्तु इन सभी धावों को असफल कर दिया गया। अन्त में, उस राजपूत जमीन्दार के लगभग ७०० सिपाहियों को एकत्रित किया और निश्चय कर लिया कि या तो वह मुगलों पर विजय प्राप्त करेगा अथवा युद्धक्षेत्र में लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त करेगा। इस दृढ़ निश्चय के साथ उसने मारते काटते मुस्लिम सेना के बीच से अपना मार्ग निकाल लिया और उनकी सेना के मध्य भाग तक पहुँच गया जहाँ नवाबी वेष में नकली नवाब हाथी पर बैठा हुआ था। उस समय तक उसके लगभग सभी सैनिक कट चुके थे, और मुश्किल से चालीस-पचास सैनिक ही उसके पास शेष बचे थे। भयंकर रूप से मार काट करता जब वह अपने लक्ष्य पर पहुँचा तो उसके साथ केवल सात या आठ सैनिक रह गए थे। भगवन्त सिंह नवाब की पोशाक से ही उसे पहचान सकता था, इसलिए उसने जब हाथी पर

सवार नकली नवाब को देखा तो उसने समझा कि बुरहानुमुल्क के सामने खड़ा जब तक कि मुसलमान उसे उसके घातक इरादे में बाधा देने के लिए झपटे, तब तक उसने नकली नवाब का पैर पकड़ कर उसे हाथ पर से खींच लिया और तुरन्त उसे मार डाला। उस सफलता से वह अत्यन्त आह्लादित हुआ, परन्तु उसे क्या पता था कि वह कितनी गलतफहमी में था। बुरहानुलमुल्क अलग खड़ा तमाशा देख रहा था। छद्मवेषी गुलाम के मारे जाते ही, नबाब ने अपने एक अफसर को हुक्म दिया कि वह पाँच सौ सैनिकों के साथ भगवन्तसिंह को घेर ले। भगवन्तसिंह चारो ओर से घिर गया और कुछ ही क्षणों में मारा गया। उसके मरने के बाद उसकी खाल खींच ली गई और उसमें भूसा भरवा दिया गया और बागी जमीन्दार और उसके बेटे के सिरों को, इस भूसा भरे खाल के साथ ही दिल्ली भेज दिया गया। उसी वर्ष के शबान महीने में रुस्तम अली शाहाबादी ने इन सिरों और खाल को राजधानी की मुख्य थाना चौकी के पास, सड़क के किनारे टँगा देखा था (नादिर उज जमानी, ब्रि० म्यू० ओरिजिनल, संख्या १८४४, फोलियो १५२ ए, १५२ बी, और रुस्तम अली, फोलियो २६८ बी)।

जब भी कभी कोई सरदार अपने हाथी के साथ भाग निकलता था तो वह प्रायः पीलवान को अपने स्थान पर बैठा कर स्वयम् उसके स्थान पर बैठकर हाथी को हाँकने लगता था ताकि यदि दुश्मन पीछा भी करे तो वे असली सरदार को न पहचान सकें और उसकी दुर्दशा न कर सकें (फिट्जक्लेरेन्स, पृ० १३२)।

उस समय रात्रिकालीन धावों का भी, एक चाल के रूप में प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के धावों को 'शब खून' (रात्रि का खूना) या 'शब गीर' (रात्रि कालीन घेरे) कहा जाता था। इसी प्रकार की चाल से मुहम्मद खाँ बंगश ने, १ अगस्त १७५० को नवल राय की, अपेक्षा कृत शक्तिशाली सेना पर धावा किया था, और उस पर विजय प्राप्त की थी। उस समय नवल राय की सेना खुदागंज के पास काली नदी के किनारे विश्राम कर रही थी (यह स्थान फर्रूखाबाद से १३ मील पूरब में स्थित है)। जिस समय पठानों की यह टुकड़ी सूर्यास्त के तीन घन्टे बाद रवाना हुई, वर्षा खूब जोरों से हो रही थी और हाथ को हाथ नहीं सूझता था। उन्होंने नवलराय की सेना के पिछले भाग पर आक्रमण करने के इरादे से, काफी लम्बा चक्कर लगाया और नदी के तट पर स्थित, नवल राय की पिछली रक्षक पंक्ति तक पहुँच गए। सूर्योदय के लगभग डेढ़ घन्टे पहले, घोर अन्धेरे रात्रि में जब कि एक हाथ की दूरी पर खड़े आदमी का भी आकार नहीं पहचाना जा सकता था और न शत्रु मित्र में पहचान की जा सकती थी, पठानों ने नवलराय की सेना के पिछले भाग पर धावा बोल दिया। इस अप्रत्याशित आक्रमण से भौंचक्के होकर नवलराय के तोपचियों ने गोले फेंकना शुरू कर दिया, परन्तु चूंकि उनकी सारी गोले बाजी बिना किसी लक्ष्य के हो रही थी, इसलिए उससे पठानों

को कोई हानि नहीं पहुंची। अन्त में नवलराय मारा गया और उसकी सेना तितर-बितर हो गई।

हताहतों के आँकड़े—हार्न ने अपनी पुस्तक के एक अंश (पृ० ११३–११५) में युध्द के फलस्वरूप होने वालों नुकसानों का वर्णन विस्तार से किया है। जिस तरह कि मुगल सेना के वर्तमान सिपाहियों की सही गणना, था विभिन्न टुकड़ियों की सैनिक संख्या ज्ञात करना लगभग असम्भव था, उसी प्रकार, हार्न के अनुसार (और मैं भी उसकी बात का समर्थन करता हूँ) यह ज्ञात करना भी आसान कार्य नहीं था कि किसी विशेष युध्द में कितने सैनिक मारे गए, या कितने घायल हुए। किसी भी तत्कालीन ग्रन्थ में विशेष युध्दों में हताहतों की संख्या के विषय में निश्चित विवरण नहीं मिलता। कुछ इतिहास लेखकों ने तो इस सम्बन्ध में कोई संकेत ही नहीं किया है और जिन लोगों ने हताहतों की संख्या दी भी है, उनमें आपस ही में मतभेद है। युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् अधिकारी और सरदार यह जानने की कोशिश नहीं करते थे कि युध्द में उनके कितने सैनिक मारे गए या घायल हुए। इसलिए हमें जो भी आँकड़े उपलब्ध हैं, वे मुख्यतः अनुमानों पर आधारित हैं और यदि हम यह मान लें तो अनुचित नहीं होगा कि प्रायः हारी हुई सेना के हताहतों की संख्या को वास्तविक से बढ़ा कर और विजयी सेना के हताहतों की संख्या को वास्तविकता से बहुत कम प्रदर्शित किया जाता था। इन कारणों से ये उपलब्ध आँकड़े एकदम व्यर्थ माने जा सकते हैं और हताहतों की प्रतिशत संख्या निकालने के लिए, अथवा किसी अन्य प्रकार की सही गणितात्मक गणना करने में उनका कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। कुछ निश्चित प्रमाणों से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि युध्द तथा युध्द के पश्चात कितनी अधिक संख्या में सैनिक मारे जाते थे और स्थानीय लुटेरों द्वारा लूटे भी जाते थे। उदाहरण के लिए जाजऊ की लड़ाई (जो १८ जून १७०७ को लड़ी गई थी) के पश्चात् जब हारे हुए सिपाही ग्वालियर की ओर भाग निकले तो उनमें से 'कितने ही सैनिक लुटेरे जाटों और धौलपुर के रुहेलों के हाथ से मारे गए जिनकी संख्या इतनी अधिक थी कि चम्बल नदी में मिलने वाले कितने ही गहरे-गहरे नाले मृतक शरीरों से भर गए थे" (कामवर खां)। एक अन्य लेखक खुशहाल चन्द (फोलियो ३७३ ए) हमें बताता है कि एक विशेष युध्द में, कहा जाता है कि लगभग १०००० सिपाही मारे गए थे, यह संख्या दोनों सेनाओं के मृतक सैनिकों की है। जहां तक किसी विशेष टुकड़ी या विशेष नगर के सिपाहियों की संख्या का प्रश्न है, हमें 'तब्सीरात-उन-नजिरीन' में एक उदाहरण मिलता है। यह किताब सैय्यद मुहम्मद बिलग्रामी द्वारा लिखी गई है जिसके अनुसार ११६३ हि० में नवलराय के पक्ष में बिलग्राम के ३७ सिपाहियों ने वीर गति प्राप्त किया था जब कि खुण्डागंज के पास मुहम्मद खां बंगश ने नवलराय पर अचानक आक्रमण कर दिया था। इस तरह

के कुछ बिखरे हुए तथ्यों एवम् आंकड़ों को एकत्रित किया जा सकता है। परन्तु उससे हमें क्या लाभ ही मिल सकता है? उनसे हम केवल यही अनुमान लगा सकने में समर्थ हो सकते हैं कि अमुक युध्द भयंकर हुआ था, अथवा नहीं। परन्तु जब हमें इस सम्बन्ध में कोई सही जानकारी नहीं मिलती कि अमुक युध्द में किसी पक्ष की सेना की सैनिक संख्या कितनी थी और न तो हताहतों की संख्या का कोई सही आंकड़ा ही उपलब्ध है, तो हम किस प्रकार कोई सूक्ष्म गणना करने में सफल हो सकते हैं? सही या गलत जो भी हो, परन्तु डाक्टर हार्न की पुस्तक के पृ० ११५ पर हमें बाबर तथा अकबर के शासनकाल में हुई नौ लड़ाइयों के सम्बन्ध में, कुछ आंकड़े देखने को मिलते हैं। डिला फ्लोट को दक्षिणी भारत के कुछ युध्दों के विषय में कुछ जानकारी थी क्योंकि वह लगातार दो वर्षों (१७५८–१७६०) तक दक्षिण में रहा था। उसके मतानुसार (भाग १ पृ० २५८) मुगल काल की लड़ाइयों में उतना खून नहीं बहता था जितना कि यूरोप की लड़ाइयों में।

मृत और घायल—घायलों व मृतकों के लूटने की प्रथा तो लगभग सम्पूर्ण विश्व में सामान्यतः प्रचलित थी, ऐसा कार्य प्रायः वे ही करते थे जो कैम्प के पीछे-पीछे चलते थे, परन्तु लड़ने वाले सिपाही भी इस प्रकार की लूट खसोट में भाग लिया करते थे। कर्नल स्किनर (जो कि जन्म से आधा, तथा शिक्षा के प्रभाव से पूरा भारतीय था) के संस्मरणों के इस अंश को पढ़कर कोई भी व्यक्ति आश्चर्य चकित हो सकता है कि हताहतों की लूट खसोट को सिपाहियों की ऊपरी आमदनी का एक खास जरिया माना जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि जो सिपाही युध्दस्थल में मारे जाते थे, उनको प्रायः दफनाया नहीं जाता था। वे जिस प्रकार गिरते थे, उसी प्रकार पड़े रहने के लिए छोड़ दिए जाते थे। परन्तु एकाध स्थानों पर हमें ऐसे वर्णन मिलते हैं कि मृत सैनिकों को, एक बड़ा सा गढ़ा खोद कर, उसी में डाल कर पाट दिया जाता था। ऐसे गढ्ढों को गन्ज-ए-शहीद कहा जाता था। उदाहरण के लिए देखिए रुस्तम अली, 'तारीखे-हिन्दी', (फोलियो २७१ बी)। अक्सर घायल सिपाहियों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाता था, उनको युध्द-क्षेत्र से हटा ले जाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया जाता था और न उनके इलाज का ही कोई प्रबन्ध था। यह कार्य उनके सम्बन्धियों और मित्रों के जिम्मे छोड़ दिया जाता था।

———

तेईसवाँ अध्याय

किले और कड़ा पहरा

ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि सिकन्दर के काल में भी भारतीयों के पास चौतरफा दीवालों से घिरे नगर और किले होते थे। (मैक क्रिन्डिल 'इनवेजन आव इंडिया' (पृ० ११६)। इस प्रकार के मजबूत एवम् सुरक्षित नगरों को बनाने की प्रथा भारत से कभी समाप्त नहीं हुई और १६ वीं शताब्दी के लगभग जब मुगल साम्राज्य की नींव पड़ी तो उस समय देश भर में हिन्दू अथवा मुस्लिम शासकों के अनेक छोटे बड़े किले बिखरे हुए थे। १८ वीं शताब्दी के अन्त में, मराठों की स्थिति का वर्णन करते हुये कर्नल ब्लैकर (पृ० ३०५) यह विश्वास प्रकट करता है कि उस समय मराठों के राज्य में जितने गढ़ या किले थे, उतने किले क्षेत्रफल के अनुपात में, पूरे हिन्दुस्तान के किसी भी राज्य क्षेत्र में नहीं थे।

गंगा और सिन्ध के मैदानी क्षेत्र में, प्राकृतिक पहाड़ियों या ऊँचे टीलों का का अभाव होने के कारण इस भाग के सभी किलों को कृत्रिम रूप से ऊँचे टीले बनाकर उन्हीं पर निर्मित किया गया था। प्रायः इन टीलों को बनाने के लिये, किलों के लिये निश्चित स्थान के आगे पीछे की ही मिट्टी का प्रयोग किया जाता था जिसके फलस्वरुप किले की एक या अधिक दिशाओं में गहरी गहरी खाँइयाँ बन जाती थीं जो सुरक्षा की दृष्टि से किलों के लिये बहुत उपयोगी होती थीं। प्रायः ये किले चार ऊँची ऊँची दीवालों से घिरे होते थे, जिनके हर कोने पर एक ऊँची मीनार बनी होती थी। इन किलों में प्रवेश करने के लिये केवल एक बड़ा फाटक होता था जो बहुत मजबूती से बना होता था और पूर्ण सुरक्षा की दृष्टि से बनाया जाता था। किले के भीतर जाने वाली सड़क सीधी नहीं होती थी, बल्कि थोड़ी थोड़ी दूरी पर यह सड़क दाहिनी ओर ही घूमती जाती थी, इस प्रकार किले के भीतरी केन्द्र तक पहुँचने में सड़क अनेक मोड़ लेती थी और लगातार ऊँची ही होती जाती थी। इस पतली और कष्टसाध्य सड़क के दोनों ओर प्रायः तोपें लगी रहती थीं और स्थान स्थान पर छिपी हुई तोपों की नाल के लिये खुले छिद्र बने होने होते थे। आर्मी ('मिलटरी ट्रान्जेक्शंस' भाग १, पृ० ३२०) में इन किलों के पेचेदे और उलझे हुये मार्गों का काफी अच्छा वर्णन किया है। दक्षिणी भारत के किलों की बनावट का वर्णन करते हुये लेक

('सीज,' पृ० ५६) लिखता है कि हिन्दुस्तानी किलों का सबसे मजबूत अंग होता था उनका फाटक जिन्हें तोड़ने में शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे। बाहरी दीवालें प्रायः यिट्टी से बनाई जाती थीं, परन्तु वे बहुत ही मोटी होती थीं। दीवालों के भीतरी भाग से बाहर की ओर बन्दूकों का प्रयोग करने के लिये दीवालों में छिद्र और झरोखे बने होते थे, इस उद्देश्य के लिये मिट्टी के बने गोल पाइपों को दीवाल में धँसा दिया जाता था (फिट्ज़क्लेरेन्स पृ० २४५, ओर्मे, 'मिलिटरी ट्रान्जेक्शंस,' भाग २, पृ० २०३, २५५)। यदि गढ़ का स्वामी समृद्धिशाली होता था और उसके पास दीवालों पर स्थित की जाने वाली तोपें रहती थीं तो उनको किले के भीतरी दीवाल के पास बनी इमारतों की खुली छतों पर चढ़ा दिया जाता था। इन बाहरी दीवालों की ऊँचाई प्रायः २०-३० फीट तक होती थी। इस प्रकार से बनाया गया गढ़ किसी मी साधारण सेना के आक्रमण से सुरक्षित रहता था और ऐसे किलों को जीतने का केवल एक ही जरिया था कि किसी प्रकार उनकी रसद आदि का मार्ग बन्द कर दिया जाय; ऐसा होने पर जब किलेबालों की सुरक्षित रसद समाप्त हो जाती थी तो वे भुखमरी से पस्त होकर आत्मसमर्पण कर देते थे। अधिक महत्वपूर्ण स्थानों पर दो दो खाँइयाँ बनाई जाती थीं और सामान्य समय में आने जाने के लिये इन पर छोटे मोटे पुल)भी बना दिये जाते थे (लेक 'सीजेज' पृ० ११), दक्षिणी भारत में तथा अन्य पहाड़ी क्षेत्रों में किलों की बनावट कुछ भिन्न ही होती थी। इन किलों की बनावट का यर्णन आगे किया जायगा।

<u>सघन वन और काँटेदार झाड़ियाँ</u>—सुरक्षा को और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिये, ऐसे स्थानों में प्रायः घने वृक्ष लगा दिये जाते थे; ये पेड़ कांटेदार होते थे या बाँसों की कोठियाँ लगा दी जाती थीं जिनमें से मार्ग निकालना बहुत ही कठिन था। कहीं कहीं तो बाँस की इतनी सघन कोठियाँ रहती थीं कि आँख के आगे परदा सा छा जाता था। १८५७ के भयंकर विद्रोह के समय में अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी, विद्रोहियों को दबाने के लिये रुहेल-खण्ड गई थी। वहाँ एक स्थान पर बाँस की इतनी सघन कोठियाँ थी कि तोप से फेंका हुआ गोला भी उन्हें पार नहीं कर सका और उलझ कर बीच में ही रह गया। यह कोई नई बात नहीं थी। इस प्रकार के कई प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए खुशहालचन्द (फोलियो १७७ ए) हमें बताता है कि जब मुहम्मदशाह, ११५८ हि० (१७४५) में अली मुहम्मद खाँ रुहेला को दबाने के लिये बनगढ़ पहुँचा तो उसने किले के चारों ओर बाँसों का एक भयंकर वन देखा, जिसमें से हवा भीं मुश्किल से ही गुजर पा रही थी। इस वन को जड़ से साफ कर देने के लिये मुहम्मदशाह ने असंख्य आदमियों को एक साथ इस कार्य में लगा दिया था। इसी प्रकार थार्न ('वार' पृ० ४३५) के अनुसार १८०५ में रुहेल खण्ड में ही स्थित रामपुर का गढ़ चारों तरफ से लगभग ३० फीट की चौड़ाई में बाँस के वनों से घिरा

हुआ था। बाँस के बनों की तरह ही, बुन्देलखण्ड में गढ़ी और किलों के चारो ओर कांटेदार वन लगाये जाते थे। ११४० हि० (१७२८ ई०) में मुहम्मद खाँ बगंश ने बादशाह के पास भेजी गई अपनी रिपोर्ट में उल्लेख किया है कि ऐसे कांटेदार जंगलों ने स्थान स्थान पर उसका मार्ग अवरुद्ध किया था।

अब भारत के अन्य भागों के किलों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। अहमदनगर के किले से सटे हुये नगर में, एक नीची दीवाल के भीतरी तरफ, लगभग २० फुट ऊँची एक बहुत ही कँटीली किस्म की झाड़ी लगी गई थी। जो बहुत ही घनी थी। कोई भी मनुष्य विना इनको काटे, इन्हे पार नहीं कर सकता था, इन झाड़ियों व वृक्षों को काटना आसान नहीं था क्योंकि इनकी साधन और कँटीली झाड़ियाँ हर प्रकार से बाधा पहुँचाती थी। अत्याधिक नमी के कारण इन वनों पर अग्नि का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। यदि कोई दुश्मन इन वनों को साफ करने का प्रयास करता था तो किले पर से उन पर गोलियों की बौछार की जाती थी, इस प्रकार यह कँटीला वन किसी भी प्रकार की सुरक्षात्मक योजना से बेहतर था (फिट्ज़ क्लेरेन्स पृ० २४१)। इस प्रकार की प्रति रक्षात्मक आड़ों का एक अन्य उदाहरण मिलता है। बोविली के किले में, जो विजगापट्टम से १४० मील उत्तर पूर्व में स्थित था, यहाँ भी घने किले के चारों ओर घने वन लगे हुये है थे। इस किले पर बुशी ने १७५७ ई० में आक्रमण किया था, "५०० गज या इससे अधिक चौड़ाई का क्षेत्र सुरक्षित रूप से खुला छोड़ दिया गया है और इसके चारों ओर लगभग इतने ही क्षेत्र में ऊँचे वन लगे हुये हैं जो बहुत ही घने हैं। इस सुरक्षित क्षेत्र के चारों ओर ३-४ मील की चौड़ाई में ये वन लगे हुये हैं। इनमें से कुछ ही किलों में वन में से होकर जाने के लिये एक से अधिक मार्ग हैं। वन में से हो कर जाने वाला मार्ग केवल इतना चौड़ा होता है कि उस पर तीन आदमी मात्र, एक साथ चल सकते हैं।" स्थान-स्थान पर मार्ग के दोनों ओर झाड़ियों में गुप्त खोहें है जिनमें उनके आदमी, सशस्त्र छिपे रह कर मार्ग को नियंत्रित करते हैं, मार्ग में स्थान-स्थान पर बहुत पेचीदे मोड़ हैं जिनमें आदमी बहक सकता है, फाटक और किले की तरह ही इन घुमावदार मार्गों पर भी पूर्ण प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था की गई है ('राबर्ट ओर्मो' मिलिटरी ट्रान्जेक्शन्स' भाग २, पृ० २५६)। प्रारम्भिक भारतीय इतिहास लेखकों ने (उदाहरण के लिये बिल्क्स, भाग ३, पृ० २१७) इस प्रकार की वनस्पति से बने हुये प्रतिरक्षात्मक अवरोधों के लिये 'बाउन्ड-हेज' शब्द का प्रयोग किया है।

पहाड़ी किले—भारत के उस भागों में, जो बहुत टूटे फूटे और ऊँचे नीचे हैं, किलों के लिये ऐसे स्थानों को चुना जाता था, जो आस पास की भूमि की अपेक्षा काफी ऊँचे होते थे। उत्तरी भारत में इस प्रकार के निम्नलिखित किले बनाये गये

थे जो अपनी मजबूती और ऊँचाई के लिये उल्लेखनीय थे। दो किले रोहतास में, एक बिहार में, एक बुन्देल-खण्ड के कलिन्जर में, और एक मेवाड़ के चित्तौड़ में। थोड़ा और दक्षिण की तरफ बढ़ने पर खान-देश में असीर गढ़, औरंगाबाद के निकट दौलता-बाद❀ के किले तथा कुछ अन्य किले भी उल्लेखनीय थे। दक्षिण में पहाड़ियों की चोटियों पर अनेक किले बनाये गये थे। देश के इस भाग में प्रायः नगर किलों की तलहटी में स्थित होते थे और उनके चारो तरफ ऊँचे-ऊँचे परकोटे खिंचे रहते थे। स्वयम् किले के आस पास भी कई छोटी-छोटी गढ़ियाँ बनाई जाती थीं। दक्षिण में पत्थर की दीवालें अधिक दिखाई पड़ती थीं क्योंकि इस तरफ का लगभग समस्त क्षेत्र पहाड़ी होने के कारण वहाँ पत्थरों और चट्टानों का अभाव नहीं था। लेक (पृ० २०५) के मतानुसार ये पत्थरों से बने किले इतने मजबूत होते थे कि अस्त्र-शस्त्र द्वारा उन पर अधिकार कर लेना बहुत कठिन था। ऐसे किलों को हस्तगत करने का केवल एक साधन था कि कड़ा घेरा डाल कर उनकी रसद के मार्ग को बन्द कर दिया जाय ताकि वे भुखमरी से तंग आ कर हार मान लें। इसके विपरीत उनके विचार से (पृ० २०८) मैदानों के मिट्टी से बने किले बहुत कमजोर होते थे।

शरण पाने के स्थान—अनेक अर्ध स्वतंत्र राजे महाराजे अपने को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखने के ध्येय से अपने लिये, अपनी राजधानी से कुछ दूर हट कर ऐसे स्थानों पर किले बनवाते थे जहाँ तक पहुँचने का मार्ग बहुत पेचीदा और दुर्गम होता था। इन्ही किलों में संकट पड़ने पर वे सिर छुपाते थे और यहीं वे अपने खजाने और युद्ध सामग्रियों को सुरक्षा की दृष्टि से छुपा कर रखते थे। इन किलों पर पहरे की बड़ी कड़ी व्यवस्था रहती थी। जयपुर के राजाओं ने इसी कार्य के लिये रणथम्भौर नामक किले का निर्माण करवाया था। बनारस के राजाओं ने भी इसी उद्देश्य से मिर्जापुर के दक्षिण पूर्व की पहाड़ियों में लतीफपुर और बिजय गढ़ के किले बनवाये थे।

दीवालों से घिरे नगर—उत्तरी भारत के पश्चिमी भाग में प्रायः चार दीवारियों से घिरे हुये नगर बनाये जाते थे। यहीं नहीं, प्रत्येक महत्व पूर्ण इमारत भी ईंटों की ऊँची दीवालों से घिरी होती थी। देश के इस भाग में प्रत्येक गाँव प्रत्येक प्रकार की प्रतिरक्षात्मक तैयारियों से सज्जित रहता था। उनमें मिट्टी के बने चौरस छतों वाले मकान बहुत सटे हुये बनाये जाते थे और उनके घरों के बीच में आने जाने के लिये जो रास्ता छोड़ा जाता था, वह बहुत सँकरा होता था। कुछ बहुत बड़े-बड़े नगर भी, किलों की तरह चौतरफा ऊँचे परकोटों से घिरे होते थे, उदाहरण के

❀ फिट्ज क्लारेन्स की 'जरनल' के मुख पृष्ठ पर दौलताबाद के किले का एक बहुत सुन्दर चित्र दिया हुआ है।

लिये दिल्ली और लाहौर। ऐसे नगरों में किसी एक कोने में किला बनाया जाता था और नगर की बाहरी दीवाल किले की एक तरफ की दीवाल का काम भी दे जाती थी। मजबूती से बने इन नगरो में प्रायः किला और महल एक ही स्थान पर बनाये जाते थे और वे काफी स्थान में फैले होते थे। कुछ अन्य नगर, जिनमें मजबूत किले बनाये गये थे, उनमें नगर के चारो तरफ कोई भी दीवाल नहीं खींची गई थी, यद्यपि उनमें बने किले प्रथम श्रेणी के थे और उनका ऐतिहासिक महत्व था। इस प्रकार के नगरों के उदाहरण है आगरा और इलाहाबाद। उन नगरों में किले, आबादी से काफी दूर हट कर बनाये जाते थे।

पारिभाषिक शब्द—किलों एवम् किले बन्दी के विषय में अध्ययन करते समय जितने भी पारिभाषिक शब्द मेरी दृष्टि में आये हैं, अब मैं उनका उल्लेख करूँगा। उस समय किले के समानार्थी के रूप में निम्नलिखित शब्द प्रचलित थे। 'हिसार' (स्टीन गैस, पृ० ४२१), 'हसीन,' (स्टीन गैस पृ० ४४२), 'कल, या किलः' (स्टीन गैस पृ० ६८४) और हिन्दी शब्द 'गढ़'। छोटे किलों को, ज मुख्य किले के आस पास या मार्ग में बनाये जाते थे, 'कलाचः' (स्टीन गैस पृ० ६८५) या गढ़ी कहा जाता था। जो गढ़ घेरा जाता था उसे महसूर मह सुन शुदन तथा घेरा डालने को मुहासिरा कर्दन कहते थे। दीवालों को सामूहिक रूप 'बुर्ज व बारः' कहा जाता था, 'बुर्ज' मीनार को कहा जाता था (स्टीन गैस पृ० १७०), और बारः या बाडा का अर्थ पीछे समझाया जा चुका है (बाड़ा=दीवाल या परदा)। किले की चार दीवारी के लिये मध्य एशिया में 'बदन' शब्द का प्रयोग किया जाता था। (देखिये 'मुजमिल-उत-तारीख बाद नादिरियर', पृ० ७६, १३ वीं पंक्ति)। किलों में युद्ध कालीन प्रयोग के लिये बुर्जों पर जो एक स्थान बनाये जाते थे उन्हें 'कंगूर' या कंगूरा कहा जाता था (स्टीन गैस, पृ० १०५६)। किले के चारो तरफ बनी खाँई के लिये 'खन्दक' शब्द का इस्तेमाल किया जाता था, यह शब्द इस अर्थ में अब भी प्रचलित हैं। स्टीन गैस की डिक्शनरी (पृ० ६३१ के) अनुसार 'फसील' शब्द का अर्थ है, किसी किले के भीतर बना हुआ मोर्चा, दीवाल, परन्तु मेरे विचार से इस शब्द का प्रयोग उस प्लेट फार्म के लिये किया जाता था जो किले की भीतरी दीवाल के चारों ओर बना रहता था और जिस पर तोपें रक्खी जाती थीं। या जिस पर से भीतरी सेना प्रति-रक्षा के लिये गोलियाँ छोड़ती थी (जान शेक्सपियर, पृ १४६४)। लेंक (पृ० ११३) और वायल (पृ० ४२८) के अनुसार यह शब्द यूरोपियनों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले शब्द का सामानार्थी है। शेक्सपियर (पृ० १२६२) के अनुसार 'सफील' शब्द इसी फसील शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है। अशाब ने फोलियो २८४ ए० ये शाहजहानाबाद के 'छत किला' का उल्लेख किया है। मैं इस शब्द का कोई भी अर्थ निकालने में असफल रहा हूँ। सम्भव है कि यह

शब्द छत के लिये ही प्रयोग किया गया हो। 'मुजमिल-उत तारीख बाद नादिरिया' (पृ० ७८, १२ वीं पंक्ति) में एक शब्द 'खाफरेज' का उल्लेख किया गया है जिसका अर्थ है 'दीवाल का पैर' या निचला सिरा। ऐसा प्रतीत होता कि हिन्दुस्तान में इस शब्द का प्रचलन नहीं हुआ था।

गूँगा—मैं इस शब्द का सही रूप बता पाने में असमर्थ हूँ क्योंकि देशी लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है, केवल यूरोपीय लेखकों ने अपनी पुस्तकों में इस शब्द का उल्लेख किया है। हो सकता है कि यह शब्द 'कंगूर' का ही अपभ्रंश हो। 'मिलिटरी मेम्वायर आव कर्नल स्किनर (भाग १, पृ० २३०) में 'दिसम्बर १८०७ में हाँसी के किले के युद्ध का वर्णन करते समय लेखक ने एक स्थान पर इस प्रकार लिखा है, "हमने खोदना शुरू किया और उस स्थान से १० गज की दूरी पर पहुँचे जिसे हिन्दुस्तानी में गूँगास कहा जाता है।" इसी पुस्तक में पृ० २६६ पर उसी शब्द को गुन्जू लिखा गया है। उक्त अंश इस प्रकार है, "मैंने उन बहादुर सिपाहियों को पूरे घन्टे भर 'गुन्जुओं' पर खड़े रहते देखा है जब कि चारो ओर से बन्दूके एवम् बड़ी तोपें अग्निवर्षा कर रहीं थीं (यह उस समय का वर्णन है जब १८०३ में लेक ने अली गढ़ पर घेरा डाला था)।

<u>कमर गाह</u>—ब्लैकट ('वार', पृ० ४२०) ने इस शब्द का प्रयोग दक्षिण : स्थित असीर गढ़ की सेना की पिछली रक्षण पंक्ति के लिये किया है। यह सम्भवत उपमा के रूप में प्रयोग किया गया है, वैसे इसका शाब्दिक अर्थ है, वह स्थान जहाँ पेटियाँ बांधी जाती हैं (स्टीन गैस पृ० १०४६)। जैसा कि लेक (पृ० १५६) लिखता है, 'इसे उचित रूप से' 'कुमुर गाह' (अर्थात् पेटी) कहा जाता है। (अर्थात् पेटी)।

<u>रौनी रैनी या रेन्री</u>—फिट्ज़क्लेटेन्स (पृ०११०) लिखता है कि उसने दीवाल के निचले भाग को ढकने वाले 'बरागदानुमा स्थान' की एक खूबसूरत कारीगरी' देखा, जिसे कि "मेरे विचार से इस देश में 'रैनी' कहा जाता है, वह फासीब्रायी ❀ की तरह की ही कोई चीज है, "इसी पुस्तक में पृ० २४५ पर वह फिर लिखता है।" यद्यपि वे नहीं जानते कि (फसीले) की बनावट कैसी होती है और इससे क्या लाभ होते हैं, परन्तु इतना तो वे जानते थे कि दुश्मनों की गोलाबारी से बचने के लिए दीवाल के निचले हिस्से को ढँके रहना जरूरी है और इसलिये वे प्रतिरक्षा के लिये एक प्रकार का मोर्चा बनाते थे, जो कि बहुत अंशों में यूरोपियन से मिलता जुलता

❀ यूर ('नैरेरिव' ग्लासरी, पृ० ५०४) खाई और दीवाल के बीच की दीवाल थी, आधुनिक इन्जीनियरों ने इसकी रचना से कुछ ग्रहण नहीं किया है विशेष विवरण के लिये देखिये पृ० २१६, 'सीजेज'। उसे लेक ने लिखा है।

है, इसे 'रैनी' कहा जाता था। थार्न (पृ० ४००) हाथरस के किले (जो कि अलीगढ़ जिले में है) का वर्णन करते हुये कहता है, "एक 'रैन्नी' दीवाल, जिसके पीछे एक गहरी, चौड़ी और सूखी खन्दक है, किले को घेरे हुये है।" जान स्किनर ने अपने 'मिलिटरी मेम्वायर्स' (भाग १, पृ० १७२) में इसे 'रौनी' लिखा है और फ्रेजर ने भ्रमवश इसका अर्थ वताया है—सामना करने वाला, जो कि यूल के अनुसार "उतना ही गलत है जितना मूर्खता पूर्ण।" मेरे विचार से उसने इन शब्दों में रोनी' या 'रैनी' की ओर संकेत किया है। उसने प्लेट ३१ पर मल्ली गाँव की बनावट की योजना का जो नक्शा दिया है, उसमें इस प्रकार की एक दीवाल प्रदर्शित की गई है। इसकी उँचाई लगभग २० फीट की और मुख्य दीवाल से लगभग ५० फीट की दूरी पर स्थित थी। यह एक समस्या है कि किस शब्द से 'रौनी' की उत्पत्ति हुई है। यूल (पृ० ५८३) के अनुसार यह शब्द हिन्दी के 'रावनी' शब्द से निकला है, परन्तु वह इसका कोई अर्थ नहीं। वह इसे स्वीकार करता है कि शेक्सपियर और विल्सन में से किसी ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है। जान शेक्सपियर ने पृ० ११८१ में 'रुँधना' (किसी वन अथवा अन्य तरीके से मार्ग अवरुद्ध करना) शब्द का उल्लेख किया है। हो सकता है 'रौनी' या 'रैनी' शब्द 'रुँधने' से ही सम्बन्धित हो। फैलन ने स्पष्टतः इस शब्द के प्रयाग को नहीं समझा क्योंकि उसने इसका हिन्दुस्तानी अर्थ दिया है "धुस, या मिट्टी का पुश्तह" इन समानार्थी शब्दों से ज्ञात हो जाता है कि वह स्वयम् नहीं जानता था कि यह कौन सी बला है।

संग-अन्दाज—बदायूनी (भाग २, पृ० १४६) ने सूरत के किले का वर्णन करते समय इस शब्द का प्रयोग किया है। स्पष्टतः प्रसंगानुसार इसका अर्थ है सूराख और यही अर्थ लोबे (पृ० १५०) ने भी दिया है। स्टीन गैस (पृ० ७०३) के अनुसार 'संग अन्दाज' या 'संग-अफकन' किलों में बने हुये छेदों को कहा जाता था, जिनमें से बन्दूकची और तोपची भीतर से गोलाबारी करते थे। परन्तु 'मआसिर-उल-उमरा' (भाग १ पृ ७६) के एक अंश (जिसमें, शाहजहाँ के शासन काल में दक्षिणी भारत के धारवाड़ पर हुये आक्रमण का वर्णन है) से 'प्रसंगानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि 'संग अन्दाज' एक ऐसे सुरंग का नाम नाम था जिसमें से किले के बाहर शत्रुओं पर पत्थर फेंके जाते थे।

<u>दमागह</u>—'जब हम (अंग्रेजों) ने सिन्धु पर अधिकार किया तो हमने पाया कि कराची एक लम्बी दीवाल से घिरा हुआ था जिसमें खूबसूरत पत्थर जड़े हुये थे और उसमें लम्बाकार रूप में थोड़ी-थोड़ी दूर पर नाक के आकार की रचना की गई थी

(जिसे पारसी लोग 'दमागहे' कहते हैं। जिनमें से गरम तेल या उबाला हुआ पानी दुश्मनों पर फेंका जाता था।" लाइफ आफ कैप्टन सर आर० बर्टन' भाग १, पृ० १२६)।" सम्भवतः दमागेह' की उत्पत्ति 'दगागह' शब्द से हुई है जिसका अर्थ, स्टीन गैस (पृ० ५३४) के अनुसार या इसी प्रकार के किसी अन्य पक्षी का है। अकबर द्वारा किये गये असीर गढ़ के घेरे में, हमें गरम और उबाला हुआ तेल फेंके जाने का एक उदाहरण मिलता से (वान नोयर फ्रांसीसी अनुवाद, भाग २, पृ० ३३६, हार्न, (पृ० १२८)।

छोटे किलों का वर्णन— डब्ल्यू-एच-रसल की 'माह डायारी इन्डिया' (भाग २, पृ० ३१८ में एक छोटे राजा के किले का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। यद्यपि यह डायरी १८५८ में लिखी गई थी, फिर भी इसे पहले के समय के लिये भी सही माना जा सकता है। "जमीन का टलुआँ छोर, अमेठी (अवध के उत्तर पूर्व में) के किले का बाहरी भाग था, जिसके साथ ही एक गहरी खन्दक खोदी गई थी जो इसे मैदान से अलग करती थी। फाटक तक पहुँचने के लिये पानी से भरी खन्दक के ऊपर एक मिट्टी की यह बँधी हुई थी, जिसकी रक्षा के लिये रोक बना हुआ था जिनके झरोखों का मुँह बाँधकी ही तरफ था। खाई को पार करने के बाद हम एक प्रकार के मार्ग पर पहुँचे जिस पर चलते हुये हमने मिट्टी से बने हुये एक बहुत ऊँचे फाटक में से भीतर प्रवेश किया। किले के फाटक के चारो तरफ बनी हुई दीवालों पर भी प्रति-रक्षा की दृष्टि से बन्दूकें चलाने के लिये बन्द झराखों की व्यवस्था की गईं थी। सभी इमारतों की दीवालें बहुत ही टेंढ़ी मेंढ़ी और सभी फाटक लकड़ी के थे, परन्तु उनमें लोहे के बड़े-बड़े काँटे जड़े हुये थे।"

इसी प्रकार फिटजक्लेटेन्स (पृ० ५६) ने एक साधारण देशी किले का वर्णन दिया है जो बुन्देल खण्ड में स्थित था। वह इस क्षेत्र के किलों का सामान्य वर्णन करते हुये कहता है, "ये किले साधारणतः मिट्टी के बने होते हैं परन्तु दीवाल के निचले भाग में १०-१२ फीट की उँचाई तक का काम रहता है। ये किले एक गहरी खन्दक द्वारा घिरे होते है और प्रतिरक्षात्मक मोर्चों के रूप में कुछ मीनारें बनी होती हैं, जो परस्पर दीवालों से जुड़ी होती हैं। कुछ किलों में दीवालों और मीनारों की एक से अधिक कतारें भी होती हैं। पर प्रायः ऐसे बने होते हैं जिनमें अन्न सचित किया जाता है, परन्तु इनका प्रयोग केवल शुष्क मौसम में किया जाता है। मिट्टी की दीवालों पर गोलाबारी होने से उनकी कोई हानि नहीं होती और उन दीवालों को तोड़ सकना आसान काम नहीं है।" विल्क्स (भाग २, पृ३ ६५) ने भी भारत के दक्षिणी छोर पर के किलों के सम्बन्ध में कुछ इसी प्रकार का विवरण दिया है।

ब्लैकर ने 'वार' (पृ० २२६) में दक्षिण के छोटे किलों की बनावट के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर वर्णन दिया है। वह कहता है, "लगभग १५० गज व्यास के और ६०-७० फीट ऊँचे एक मिट्टी के टीले की कल्पना कर लीजिये। इस टीले को सभी दिशाओं को काट छाँट दिया जाता है और तत्पश्चात् महत्व पूर्ण और मुख्य इमारतें, मीनार के आकार की बनाई जाती है।"

कुछ विशेष किलों के वर्णन—मैंने विभिन्न यूरोपीय लेखकों की पुस्तकों में से अनेक हिन्दुस्तानी किलों का विवरण एकत्रित किया है और मुझे इसमें कोई शंका नहीं है कि इस सम्बन्ध में विभिन्न पुस्तकों में अन्य किलों के वर्णन भी मिल सकते हैं। परन्तु जिन पुस्तकों में मैंने इन किलों के वर्णन को स्वयम् पढ़ा है, उनकी एक सूची नीचे दे रहा हूँ :—

अहमद नगर—फिट्जक्लेरेन्स, पृ० २४१, यह वर्णन पर्याप्त विस्तृत है।

अजय गढ़—'फिट्ज क्लेरेन्स' 'जनरल', पृ० ६२, पागसन 'बुन्देलाज', पृ० १३६, इस पुस्तक में इस किले की एक योजना भी दी गई है जिसमें इस किले के पूर्वी द्वार का दृश्य दिखाया गया है, उत्तरी पश्चिमी फाटक का काफी हिस्सा भी इसमें दिखाई पड़ता है।

अलीगढ़—४ सितम्बर १८०३ को इस किले पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया था। यह किला यूरोपियन ढंग पर बना था। इसका वर्णन थार्न ने 'वार' (पृ० १०२) में दिया है और प्लेट ३ पर इसका एक चित्र भी दिया है।

असीरगढ़—ब्लैकर ('वार') ने पृ० ४१४ पर इसका वर्णन दिया है और उत्तरी और पूर्वी दिशाओं के चित्र भी दिया है, ३८ वीं प्लेट पर सेक्शन्स एवम् किले की रचना से सम्बन्धित अन्य चित्र भी दिये गये है।

भरतपुर—लार्ड कम्बरमेयर ने अपने 'मेम्वायर्स' (भाग २, पृ० २३६) में इस नगर और इसकी किले बन्दी का विवरण दिया है।

चिंगलपेट कैम्ब्रिज ('वार') ने अपेन्डिक्स में मद्रास के मुख्य इन्जीनियर जान काल द्वारा दिया गया वर्णन उद्धृत किया गया है -

दौलताबाद—इस किले का विस्तृत विवरण फिट्ज क्लेरेन्स (पृ० २१६); और एन्क्वेटिल डुपरन ('जेन्द अवेस्ता' भाग १,)। एन्क्वेटिल स्वयम् १८ अप्रैल १७५८ में गया था जब कि इस किले पर फ्रांससियों का अधिकार था।

धारवाड़—मूर ('नैरेटिव' पृ० ३६) ने इसका चित्र भी दिया है और वर्णन भी।

हाथरस—फिट्ज क्लेरेन्स के 'जरनल' में पृ० १८ के सामने की प्लेट पर इसका एक चित्र दिया गया है।

कलिन्जर—पागसन ने 'बुन्देलाज' (पृ० १४८-१५७) में इस किले का विस्तृत वर्णन दिया है। १८१२ के प्रसिद्ध कलिन्जर के घेरे का भी उसने विस्तृत एवम् रोचक वर्णन दिया है (पृ० १३६-१४७)।

नागपुर—इसका वर्णन फिट्ज क्लेरेन्स ने 'जरनल' (पृ० ११०) में और लेक ने 'सीजेज' (पृ० ३५) में किया है।

त्रिचनापल्ली—आर० ओ० कैम्ब्रिज ('वार' पृ० १५) इस किले के सम्बन्ध में कर्नल स्ट्रिन्जर लारेन्स द्वारा दिये गये वर्णन को उद्धृत किया है।

शाही किले—सरकारी कागजात में ऐसे स्थानों की कई सूचियाँ मिलती हैं जहाँ किले बनवाये गये थे। इनमें से अधिकांश किले दक्षिण में स्थित थे और मुगल काल के प्रगतिशील वर्षों में इन किलों की रक्षा का उत्तरदायित्व कुछ शाही अफसरों के हाथ में रहता था जिन्हें किलेदार कहा जाता था। इन किलेदारों की नियुक्ति सीधे राजधानी से की जाती थी और वे सूबे के सूबेदारों से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं रहते थे। इन किलों के महत्व को दृष्टि में रख कर ऐसी व्यवस्था की गई थी कि इन्हीं किलों के जरिये पूरे साम्राज्य को नियन्त्रित किया जाता था, साथ ही इन्हीं किलों में खजाने तथा अस्त्रशस्त्र आदि तथा युद्ध के महत्व पूर्ण सामान रक्खे जाते थे और इसीलिये उस काल में इन किलों को बहुत महत्व दिया जाता था और उनकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था की जाती थी इसीलिये किलेदारों को सूबेदार के अधीन न रख कर, उन्हीं के हाथ में किले की व्यवस्था दे दी जाती थी। एक भय यह भी था कि यदि किलों को सूबेदारों के हाथ में दे दिया जाता तो वे स्वयम् स्वतंत्र होने का लोभ करने लगते और बगावत फैलाते, क्योंकि यदि किले उनके हाथ में होते तो उनकी सफलता के अवसर अधिक दृढ़ हो जाते।

आलमगीर के शासन काल की एक सूची (ब्रिटिश म्यूजियम, ओरिजिनल संख्या १६४१, फोलियो ५२ वीं) के अनुसार कुल शाही किलों की संख्या ८२ थी। मैं इस सूची के सभी नामों को पढ़ व समझ पाने में सफल नहीं हो सका हूँ परन्तु जिन किलों का नाम मैं स्पष्टतः पढ़ व समझ पाया हूँ, वे निम्नलिखित :—(१) शाहजहानाबाद, (२) अकबराबाद (३) लाहौर, (४) काबुल, (५) कश्मीर (६) अटक, (७) इलाहाबाद, (८) अजमेर, (६) झाँसी, (१०) ग्वालियर (११) कलिन्जर (१२) सीतापुर, (१३) तारागढ़, (१४) बरगढ़, (१५) चाँदू, (१६) उज्जैन, (१७) रायसेन, (१८) रानीगढ़, (१६) दोहद (२०) कारकून, (२१) रणथम्भौर, (२२) रोहतास गढ़, (२३) सूरत, (२४) काँगड़ा (२५) भंगर (२६) जोधपुर (२७) मेड़ता (२७) साँभर (२६) गजनैन (३०)

पेशावर, (३१) जफराबाद, (३२) शेरगढ़ (३३) लकरकोट इनमें से १२,१३,१४,१८, ३२, और ३३ नंबर के गढ़ों के विषय में मुझे कुछ शंका है, परन्तु अन्य किलों के नामों से हम सभी लोग परिचित है और प्रत्येक तत्कालीन ऐतिहासिक ग्रन्थ में उनका उल्लेख मिलता है। यद्यपि इस सूची में ४२ किलों का उल्लेख है, लेकिन फिर भी यह सूची अपूर्ण ही है। इस सूची में दक्षिण के अनेक शक्तिशाली किलों में से किसी का भी उल्लेख नहीं किया गया है यद्यपि दक्षिणी भारत में उतने ही मजबूत किले थे और उतनी ही संख्या में थे, जितने कि हिन्दुस्तान(उत्तरी भारत) में।

—~—

चौबीसवां अध्याय

घेरे

भारत वर्ष में किलेबन्दी का वही ढंग अन्त तक प्रचलित रहा, जैसा कि यूरोप में उस समय तक प्रचलित था जब तक कि वहाँ आधुनिक ढंग का प्रचार नहीं हो पाया था। वास्तव में हिन्दुस्तानी शासक किले की किसी सुनिश्चित योजना को उतना महत्वपूर्ण नहीं समझते थे जितना कि किले की मजबूती और दुर्गमता को। उन्होंने कभी भी इस सिद्धान्त के महत्व को समझने का प्रयास कभी नहीं किया कि किले का प्रत्येक भाग किसी दूसरे भाग की मजबूती और सुरक्षा पर आधारित होना चाहिये (लेक पृ० ११)। ब्लैकर का मत है कि वे किलों पर आक्रमण करने में या किले की प्रतिरक्षात्मक तैयारी करने में सदैव अहम् भाव तथा गर्व से उद्वेलित रहते और स्वयम् को अपने दुश्मनों से शक्तिशाली मानते थे और इसी कारण प्रायः उन्हें असफलता का मुँह देखना पड़ता था। यदि कोई देशी सेना किसी किले पर आक्रमण करती थी और घेरा डालती थी, तो प्रायः असफल और निराश होकर ही लौटती थी। यदि किलों पर उनका अधिकार हो भी जाता था, तो केवल इसीलिये कि किले के बाहर घेरा डाले हुए सैनिक आस-पास के इलाकों में लूट पाट मचाते थे और विध्वंसात्मक कार्रवाइयाँ करते थे जिनसे किले की सेना अपने क्षेत्र को नष्ट होने से बचाने के लिये आत्मसर्पण कर देती थी। इसके विपरीत कुछ किलों में कुछ बहुत ही सुदृढ़ मोर्चे बनाये गये थे और किले की बाहरी दीवाल और खाईं के बीच के क्षेत्र की रक्षा के लिये हर सम्भव प्रयत्न किया जाता था। किले की दीवालों के नीचे सुरंग खोदने का प्रचलन पूरे देश में तो नहीं, परन्तु कुछ भागों में अवश्य हो गया था, परन्तु सफलतापूर्वक इस उपाय के प्रयोग किये जाने के कुछेक उदाहरण ही मिलते हैं (ब्लैकर 'वार' पृ० २३)। 'मुजमिल-उल-तारीख बाद नादिरिया' पृ० ७८, सातवीं पंक्ति में अफगानों द्वारा प्रयोग की जाने वाली एक विचित्र प्रथा का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार जब अफगान किसी किले पर घेरा डालते थे तो वे एक कुत्ते को मार कर उस किले की दिशा में फेंक देते थे। मैंने इस प्रकार की किसी घटना का उल्लेख अन्यत्र नहीं पाया है और न यही समझ सका हूँ कि यह प्रथा किस चीज का प्रतीक थी।

मजबूत किलों को हराने के लिये प्रायः सभी मार्गों पर कड़ा घेरा डाल दिया जाता था और किलों के रसद आदि का मार्ग बन्द कर दिया जाता था जिसके फलस्वरूप भुखमरी से पीड़ित होकर किले वाले आत्मसमर्पण कर दिया करते थे। (फिट्ज-क्लारेन्स पृ० २४५)। 'सर-ए-सवारी' द्वारा किलों पर अधिकार किये जाने के इने गिने उदाहरण ही मिलते हैं, प्रायः किले की दीवालों को तोड़ने का प्रयास नहीं किया जाता था और शायद ही कभी प्रबल आक्रमण द्वारा किले बन्दी का विध्वंस किया जाता था। प्रायः किलों पर शत्रुओं का, किले पर अधिकार हो जाने का एक मुख्य कारण यह भी होता था कि स्वयम् किले के रक्षक ही विश्वासघात कर जाते थे। जब मुगल सेना किसी किले को घेर कर बैठ जाती थी और सब तरफ के मार्गों पर इतने बड़े पहरे का प्रबन्ध करती थी कि न तो कोई किले के भीतर जा पाता था और न कोई व्यक्ति किले के बाहर ही जा सकता था। इस प्रकार घिरे हुए किले के लोगों का बाहर से सम्पर्क टूट जाता था। जैसा कि ग्रान्ट डफ (पृ० १६५) कहता है—"वे समझते थे कि किसी किले पर तब तक अधिकार नहीं किया जा सकता जब तक कि घेरने वाली सेना उतनी विशाल न हो कि यह किले को चारों तरफ से पूर्णतः घेर कर किले वालों का बाहर से सम्पर्क तोड़ सके।" 'मूरचाल' बना लिये जाते थे, जिनमें बड़ी-बड़ी तोपों को स्थापित कर दिया जाता था। दीवाल में छेद करने और नकब लगाकर सुरंग बनाने का तरीका मुगलों में प्रचलित था और कम से कम उत्तरी भारत में इसका प्रयोग किया जाता था। इसमें कोई शक नहीं है कि लेक (पृ० १४) इससे विपरीत मत प्रकट करता है। उसके अनुसार "ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानी लोग, किले की दीवाल को खोदकर या फाड़कर किले में प्रवेश करने के तरीके से अनभिज्ञ हैं और सामान्यतः वे किलों में सुरंग खोदने की कला के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं रखते।" लेक के इस मत को हम केवल दक्षिणवासियों पर लागू कर सकते हैं; उत्तरी भारत में नकब लगाने व सुरंग बनाने की प्रथा का पर्याप्त प्रचलन था।

किलों पर अधिकार करने के लिये एक अन्य उपाय भी प्रचलित था, जिसका सहारा कभी कभी लिया जाता था। इस उपाय के अनुसार पेड़ों की डालियों के सहारे ऊँचे ऊँचे बुर्ज बना लिए जाते थे और जब ये अस्थाई बुर्ज इतने ऊँचे हो जाते थे कि उन पर से किले के भीतरी भाग को नियंत्रित किया जा सके, तो उन पर तोपों को चढ़ा दिया जाता था। इन अस्थाई बुर्जों को 'सीबा' कहा जाता था। बाँस के डन्डों से बनी सीढ़ियों (नर्दुबान) का भी प्रयोग किलों में प्रवेश करने के लिए किया जाता था। किलों के लकड़ी से बने मजबूत फाटकों को धक्के देकर तोड़ने के लिये हाथियों का प्रयोगकिया जाता था। 'सीर' (अनुवादक भाग ३, पृ० १८२, नोट संख्या ४५) के अनुसार प्रायः फाटक किसी न किसी धातु से मढ़े होते थे और उन्हें केवल

बारूद के गोलों से तोड़ा जा सकता था (जैसा कि मुगल सैनिक कभी भी नहीं करते थे) अथवा लोहे के कवच से सुरक्षित हाथियों के धक्कों द्वारा ऐसा किया जा सकता था। कभी-कभी फाटक में आग भी लगा दी जाती थी। हाथियों के धक्के से फाटक को बचाने के लिये प्रायः फाटकों में लोहे की बड़ी-बड़ी और नुकीली कीलें जड़ी रहती थीं। इन कीलों की चोट से हाथियों को बचाने के लिये हाथियों के मस्तक पर इस्पात की एक चादर लगा दी जाती थी (फिट्ज़क्लारेन्स, पृ० १३७)। उदाहरण के लिये हम 'सीयर-उल-मुताखरीन में (अनुवाद भाग ३, पृ० १८१) पढ़ते हैं कि जब ११७३ हि० (१७५६) में मराठों ने दिल्ली पर आक्रमण किया था, उस समय दिल्ली के किले का खिजरी फाटक "पीतल की मोटी चादरों से ढँका हुआ था और उसमें १२ इंच लम्बी लोहे की कीलें जड़ी हुई थीं, जिनकी मोटाई लगभग एक वर्ग इंच थी।" प्रायः जब किसी किले पर घेरा पड़ता था तो भीतर से फाटक को टूटने से बचाने के लिये फाटक के पास ईंट पत्थर आदि एकत्रित कर दिये जाते थे, इस तरह फाटक को भीतर की तरफ ढकेलना बहुत मुश्किल हो जाता था। १८०३ में कटक में फाटक की रचना इसी प्रकार की गई थी और अंग्रेजों को किले के भीतर प्रवेश पाने के लिये बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था (लेक, पृ० २११, नोट)।

किलों के घेरे और अधिकार सम्बन्धी या सामान्य विवरण लेक द्वारा लिखित 'सीजेज आफ दि मद्रास आर्मी (पृ० १४) के एक अंश पर आधारित है। यह अंश इस प्रकार है—"जब उनकी कोई सेना किसी-किसी किले को घेर कर बैठ जाती है तो उनका मुख्य उद्देश्य, दीवालों को तोड़कर भीतर प्रवेश करना नहीं होता, बल्कि घिरे हुए लोगों को उनका सारा आगमन व संचार के साधन बन्द कर के उन्हें परेशान करके उबा डालना होता है ताकि वे स्वयम् ऊब कर फाटक खोल कर बाहर निकल आवें। यद्यपि तोपों का प्रयोग किया जाता है परन्तु उन्हें किलों से इतनी दूरी पर रक्खा जाता है जहाँ तक किले वालों की गोलियाँ न पहुँच सकें, उनमें गोले भी सदैव नहीं भरे रहते और इस प्रकार उनका प्रभाव अनिश्चित रहता है, यही नहीं इन तोपों से गोले भी सदैव नहीं फेंके जाते, दिन भर में घन्टे दो घन्टे बाद एकाध वार तोपें कार्य करती हैं क्योंकि रात में शत्रु के अचानक धावों से बचने के लिये तोपों को सदैव कैम्प में अन्दर कर लिया जाता है और यही तरीका तब तक अख्तियार किया जाता है जब तक कि घिरे हुए लोग ऊब कर समझौते की बात नहीं करने लगते।"

फिट्ज़क्लारेन्स ('जनरल', पृ० २४५) ने भी इस सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट किये हैं। वह कहता है—"किसी हिन्दुस्तानी किले का घेरा सामान्यतः रसद आदि का मार्ग बन्द कर देने की सीमा से आगे नहीं बढ़ता था। हिन्दुस्तान के इतिहास का अध्ययन करने के पश्चात यह देखा जा सकता है कि प्रायः किले अन्य कारणों की अपेक्षा विश्वासघात और अभाव के कारण ही आत्मसमर्पण करते हैं और इस देश

में किलों के घेरे के समय की अवधि उतनी ही अधिक होती है जितनी कि ट्रॉय, आस्टिएड और मन्दुआ के घेरों में थी। चूंकि भारतीयों का मुख्य भोजन चावल ही है जो कि सभी खाद्य पदार्थों के मुकाबिले में सबसे अधिक टिकाऊ होता है। इसलिये किले आत्मसमर्पण को काफी समय के लिये रोक सकते हैं। यद्यपि इस देश के लोग किले के निचले ढलुवाँ किनारे को मजबूत बनाने से होने वाले लाभों को नहीं समझते थे फिर भी उन्होने यह भली भांति समझ लिया था कि शत्रु के गोलों से दीवाल के निचले भाग को सुरक्षित रखने के लिये उन्हें ढंके रहना जरूरी है और इसलिये वे एक तरह का मोर्चा बनाते हैं जिसे वे 'रैनी' (पीछे देखिये) कहते थे। भीतर से बन्दूकों और तोपों को चलाने के लिये दीवाल में झरोखे बनाना वे आवश्यक समझते थे...इनमें से प्रत्येक पतली और घिरी हुई सड़कों (प्रवेशद्वार के भीतर की सड़कें) के दोनो ओर दीवालों के पीछे तोपें रक्खी रहती हैं और दीवालों में छिद्र बने होते हैं जिससे कि यदि शत्रु मुख्य फाटक को तोड़ कर भीतर आ जायँ तो उन्हें प्रत्येक मोड़ पर रक्षकों की तोपों के रूप भयानक संकटों का सामना खुली सड़क पर करना पड़े। मुझे इन किलों के सम्बन्ध में अधिक अनुभव नहीं है क्योकि मैंने कुल चार ही किलों को ध्यानपूर्वक देखा है—गंगा के तट पर स्थित चुनार का किला तथा अलीगढ़, आगरा और दिल्ली के किले। आगरा, अलीगढ़ और चुनार के किलें, प्रवेश सम्बन्धी इन कठिनाइयों के अच्छे उदाहरण हैं।"

"हिन्दुस्तानी दुर्गरक्षक सैनिक, किलों की रक्षा करते समय साधारण शौर्य एवम् पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं और इस दृष्टि से वे यूरोपियनों से भिन्न हैं। जब यूरोपीय किलों की दीवाल का कोई भाग बिध्वंस हो जाता है, तो वे आत्मसमर्पण करना ही उचित समझते हैं। परन्तु इस देश में ऐसा हो जाने पर सभी सैनिक एका-एकी युद्ध के लिये बहुत उत्साह के साथ प्रस्तुत हो जाते हैं। वे किले के टूटे हुए भाग में खंजर और तलवार के साथ, शत्रु के साथ मार काट करने को अपने शौर्य प्रदर्शन के लिये सर्वोत्तम अवसर समझते हैं। वे दीवालों में लगाई जाने वाली बड़ी तोपों का प्रयोग करते हैं जिन्हें 'गिन्गल' (पीछे देखिये) कहा जाता है। ये तोपें २-३ औंस के गोलों को पर्याप्त दूरी तक फेंकती है। चूँकि उनमें हथगोलों आदि का प्रचार नहीं है इसलिये वे थैलों में बारूद भर कर खन्दक में फेंक देते हैं और ऊपर से इन थैलों के ऊपर जलती हुई मशालें फेंकते हैं जिनसे उनमें विस्फोट हो जाता है और शत्रुओं को काफी हानि पहुँचती है। कभी-कभी वे मिट्टी के बड़े-बड़े घड़ों में बारूद भर कर और पलीता लगा कर नीचे फेक देते हैं जिनके टुकड़े दुश्मनों को भयानक रूप से घायल करते हैं। कहीं-कहीं ऐसे विवरण भी प्राप्त होते हैं कि वे खन्दक के दोनों तरफ घास फूस के बड़े-बड़े छप्पर खड़े किये रहते हैं और अवसर पड़ने पर उनके ऊपर किले पर से जलते हुए छप्पर फेंक देते हैं और दुश्मन अग्नि की लपटों

से घिर उठते हैं। जिस प्रकार हमने बमो के सहारे हाथरस के किले पर अधिकार कर लिया था, उससे प्रेरित होकर प्रायः देशी किलों पर इसी तरीके से अधिकार करने का प्रयास किया जाने लगा है (फिट्ज़क्लारेन्स, पृ० २४६)।"

नकब अथवा सरंग द्वारा दुर्ग प्रवेश—किलों के भीतर पहुँचने के लिये जो रास्ता निकाला जाता था उसे सम्भवतः 'साबात' कहा जाता था। 'अकबर नामा' के लखनवी एडीशन (भाग २, पृ० २४५) की परिभाषा के अनुसार यह दो दीवालों के ऊपर बनी हुई छत (सक़फ) थी, जिसे 'कूचह-ए-सलामत' (सुरक्षा का) स्टीन गैस (पृ० ६३८) की व्याख्या के अनुसार साबात, दो घरों को जोड़ने वाले, ऊपर से ढँके मार्ग को कहते हैं। सुरंग बनाना और उसमें बारूद भर कर दीवाल को उड़ा देने का उपाय भी भारत वर्ष में ज्ञात था और जब तब इसका प्रयोग भी किया जाता था। उदाहरण के लिये ६५२ हि० (१५४५-४६) में शेरशाह ने कलिन्जर के घेरे में, दीवाल के पास तक 'साबात' (ऊपर से छापा हुआ मार्ग) बनवाया था, जिसकी आड़ में उसके आदमियों ने दीवाल के नीचे सुरंग (नक़ब) खुदा था (बदायूनी, टेक्स्ट, भाग १, पृ ३७१ रेकिंग पृ० ४८२) एक और उदाहरण प्रस्तुत है। ६६३ हि० (१५५५-५६) में बदायूँ पर पड़े एक घेरे में हमलावरों ने सुरंगों का सहारा लिया था, परन्तु किले की रक्षक सेना के नायक ने जमीन पर कान लगाकर उनके सुरंग के मार्ग का पता लगा लिया और भीतर से भी उसी स्थान पर सुरंग खुदवा कर उसने दुश्मनों के प्रयास को असफल कर दिया (बदायूनी, टेक्स्ट, भाग १, पृ० ४६५)। इसी प्रकार १८५७ में हमारे (अंग्रेजी) इन्जीनियरों ने भी सुरंग खोदे जाने का भेद पा लिया था और विद्रोही नाकामयाब रहे थे (मैकलियड इन्न 'सीज आव लखनऊ')। १७१५ में गुरुदास पुर के घेरे में अब्दुस समद खाँ ने 'साबात' (ढके हुये मार्ग) तैयार कराया था (यहिया खाँ, फोलियो १२३ ए०)। इसी प्रकार १७१६ में, इलाहाबाद में शाही सेना ने किले की दीवाल तक का मार्ग सुरक्षित बना लिया और "दीवाल के नीचे से सुरंग खोदना प्रारम्भ कर दिया।" फलस्वरूप गिरिधर बहादुर को विश्वास हो गया कि अब शत्रुओं को, किले में पहुँचने में अधिक समय नहीं लगेगा और ऐसी परिस्थिति में पराजय निश्चित है, अतः उसने मुहम्मद खाँ बंगश के जरिये सुलह की बात प्रारम्भ कर दी (सिवानि-ए-खिजरी पृ० १३)। इसी प्रकार आगरा के घेरे (जुलाई अगस्त १७१६) में हैदर कुली खाँ ने किले की दीवाल तक कई सुरक्षित मार्ग (साबात) बनवा लिये थे, इस घेरे में उसके अधीन अनेक यूरोपियन भी थे जिन्हें वह सूरत से अपने साथ ले आया था (सिवानि-ए-खिजरी, पृ० १३)।

साबात—शब्द कोष के अनुसार यह एक ढँका हुआ मार्ग है जो दो घरों को जोड़ता है। सेना सम्बन्धी प्रयोग में यह एक ऐसी खाँई या सुरक्षित मार्ग के लिये

प्रयोग किया जाता है जो किसी किले पर अधिकार करने के उद्देश्य से बनाया जाता है। ब्रिग्स ('फरिश्ता' भाग २, पृ० २६०) के अनुसार चित्तौड़ के घेरे में ये साबात इस प्रकार बनाये गये थे—"यह टेढ़ा मेढ़ा मार्ग, किले की गोली की मार के क्षेत्र से पहले ही प्रारम्भ होता है, इसमें दोनों तरफ दो दीवालें होती है और इन दीवालों को ऊपर से विभिन्न चीजों से भरे हुये चमड़े की खोलों से ढँक दिया जाता है जिसके नीचे-नीचे घेरा डालने वाले तब तक बढ़ते जाते है जब तक कि उस दीवाल के पास नहीं पहुँच जाते जिस पर उन्हें आक्रमण करना होता है।" इसी ग्रन्थ में १५६५ में अहमद नगर घेरे का वर्णन करते हुये इसी तरह का एक वर्णन और दिया गया हैं, जिसमें साबात शब्द का प्रयोग उपरोक्त अर्थ में ही किया गया है।

'फरिश्ता' के मूल ग्रन्थ में चित्तौड़ के घेरे का वर्णन काफी स्पष्ट ढंग से किया गया है (लखनऊ संस्करण, मकालह, भाग २, पृ० २५७, २२ वीं पंक्ति से प्रारम्भ)। लगभग ५०० लुहारो, संगतराशों, बढ़इयों, मजदूरों और नकब लगाने वालों की एक टुकड़ी 'साबात' बनाने के लिये तैनात कर दी गई थी। इन आदमियों ने साबात बनाने और नकब खोदने के लिये काफी परिश्रम किया—"साबात उन दीवालों को कहा जाता है जो एक बन्दूक की मार के क्षेत्र के पहले से ही बनाई जाती हैं और ऊपर से चमड़े के फीतों से बँधे हुये पटरों और बाँसों और टट्टरों की आड़ में ये दीवालें किले की दीवाल ले पास तक ले जाई जाती हैं। तत्पश्चात बन्दूकची और 'नक्काब' (नकब खोदने वाले) सुरक्षित रूप से दोनों दीवालों के बीच के चौड़े मार्ग द्वारा दीवाल के पास तक पहुँच जा ते हैं, जहाँ वे एक सुरंग या नकब बनाते हैं और इसमें बारूद भर तेते हैं। जब किले की दीवाल का यह अंश ध्वस्त हो जाता है, तो शेष सेना भी साबात के सुरक्षित रास्ते से उस स्थान पर पहुँच जाती है और किले में प्रवेश पाने के लिये प्रबल प्रयत्न करती है।"

इसी घेरे का वर्णन निजामुद्दीन ने भी 'तबकत-ए-अकबर शाही' फोलियो २०६ पंक्ति १७ (१२ वीं इलाही वर्ष, ६७४ हि० के रमजान महीने की प्रारम्भिक तारीख (१५६६ ई०) में किया है। यह वर्णन भी पूर्ण रूप से 'फरिश्ता' के वर्णन से मिलता जुलता है और कभी तो यह 'फरिश्ता' की लब्ज-ब-लब्ज नकल मालूम पड़ती है। उसके अनुसार साबात बताने का कार्य दो स्थानों पर प्रारम्भ किया गया था। उन्होंने किले की दीवाल तक एक प्रकार की संकरी सड़क का अस्थायी निर्माण किया। "जो साबात बादशाह की खाँई से किले तक बनाई गई थी वह इतनी चौड़ी थी कि उसमें १० घुड़सवार एक ही पंक्ति में अन्तिम छोर तक जा सकते थे और यह इतनी गहरी थी कि एक आदमी; हाथी पर बैठा और अपने हाथ में

एक भाला लिये हुये, आसानी से जा सकता था।" यद्यपि इन सैनिकों के पास बैलों की खाल से बनी हुई ढालें थीं, फिर भी दुर्गरक्षक सेना की गोलियों से प्रत्येक दिन लगभग सौ आदमी मारे जाते थे। इन मरे हुये लोगों की लाशों को साबात की दीवालों में ही चुन दिया जाता था।

साबात की दीवालों के अतिरिक्त एक ऊँचा स्थान बादशाह के बैठने के लिये भी बनाया गया था। जिस पर बैठ कर अकबर किले के ऊपर दिखाई पड़ने वाले सैनिकों के ऊपर गोलियाँ चला रहा था। "बादशाह इस इमारत (खानह) की चोटी पर बैठा हुआ था, जो कि उसकी खाँई (मूख्याल) के साबात के ऊपर बनाया गया था। वह हाथ में बन्दूक लिये वहीं बैठा हुआ था। बदायूनी (भाग २, पृ० १३०; लोवे, पृ० १०६) ने इस स्थल पर निजामुद्दीन के वर्णन की संक्षिप्त नकल की है। ९५२ हि० (१५४५) में कलिन्जर पर पड़े घेरे का वर्णन करते समय वह 'साबात' का प्रयोग मीनार के लिये न करके खन्दक या नकब के अर्थ में प्रयोग किया है।

देशी इतिहास लेखकों में मतैक्य का अभाव होने पर भी, मेरे विचार से हम यह मान सकते हैं कि अब तक के अध्ययन में 'साबात' शब्द का अर्थ लगभग स्पष्ट हो चुका है। यह एक खाँई थी जो किले की बाहरी दीवाल से कुछ दूरी से प्रारम्भ की जाती थी। यह खांई इतनी गहरी और चौड़ी होती थी कि इसमें खोदने वाले छिप जाते थे, खांई से निकाली जाने वाली मिट्टी दोनों तरफ रक्खी जाती थी, जिससे यह खाई और भी सुरक्षित हो जाती थी। पहाड़ी इलाकों में खाई खोदना आसान नहीं था इसलिये पेड़ों, पटरों और डालियों आदि से दोनों तरफ एक आड़ बना दी जाती थी, या किसी अन्य स्थान से मिट्टी खोद कर लाई जाती थी और उसी से आड़ बना ली जाती थी, परन्तु अधिकांश स्थानों पर खाई खोदना और उसी की मिट्टी से दोनों किनारों को ऊँचा करना अधिक आसान समझा जाता था और ऐसा ही किया जाता था। परन्तु साबात कोई मीनार या इमारत नहीं होती थी जो जमीन के सतह से उठाई जाती थी। यदि अबुल फजल ने 'अकबर नामा' में इस शब्द का भ्रमपूर्ण न बना दिया होता तो इस शब्द का अर्थ पर्याप्त स्पष्ट था। वह बराबर इस शब्द का प्रयोग किसी अस्थाई मीनार के लिये करता है जैसा कि वह लखनऊ संस्करण, (भाग २, पृ० २६१) रणथम्भौर के घेरे का वर्णन (इलाही, १४ वाँ वर्ष, २२ वीं रमजान, ९७६ हि०) करते समय स्पष्टतः कहता है। इस किले पर घेरा डालने के पश्चात् यह महसूस किया गया कि बिना 'साबात का सहारा लिये इस किले पर अधिकार नहीं किया जा सकता। निजामुद्दीन (फोलियो २१२ ए०) ने भी इस घेरे का वर्णन करते समय 'साबात' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु वह इसके सम्बन्ध में

अधिक विस्तार में नहीं गया है। बदायूँनी (भाग २, पृ० २०७) लोवे, पृ० १११) ने अपने वर्णन में निजामुद्दीन का लगभग पूर्ण रूप के अनुसरण किया है।

अबुल फजल ने 'साबात' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है वह सभी लेखकों से भिन्न है। चुनार के घेरे का वर्णन करते हुये (लखनऊ संस्करण 'अकबर नामा' भाग, पृ० ११४, पंक्ति ६) वह लिखता है। रूमी खाँ "व किश्तीहाये तरतीव-ए-साबात साख्त है। मिस्टर बीवरिज (भाग १, पृ० ३३१) इस अंश का अनुवाद इस प्रकार किया है। रूमी खाँ ने··· नावों पर एक ढँका हुआ मार्ग (साबात) बनवाया और इसी प्रकार के एक छत (सतह) की व्यवस्था कराई···।" परन्तु यदि हम इस सम्बन्ध में जौहर आफतावची (मेरी पाण्डलिपि, फोलियो १६ वीं) या निजामुद्दीन ('तबकात' फोलियो १५१ वीं) का अध्ययन करें तो हमें पता लगेगा कि रूमी खाँ ने तीन नावें लीं और उनके ऊपर एक स्तम्भ (मुकाबिल-कोब) स्थापित किया जिस पर से गोलियाँ लाई जा सकें। स्टुअर्ट (तेजकेरेह-अल-वाकियात') पृ० २०, पंक्ति ११-२५), अर्सकिन ('बाबर ऐण्ड हुमायूँ' भाग २, पृ० १४०, १४१), बदायूँनी (रैंकिंग, भाग १, पृ० ४५६) और इलियट ('मुहम्मदन हिस्टोरिय' ने भी इसी में इस अंश का अनुवाद किया है। इनमें से किसी ने भी इस प्रसंग में 'साबात' का उल्लेख नहीं किया है और न ही वे नावों पर बने किसी स्तम्भ आदि को 'साबात' के नाम से पुकारे जाने की कल्पना ही कर सकते थे।

इसी प्रकार चित्तौड़ के घेरे का विस्तृत वर्णन करते हुये अबुल फजल ('अकबर नामा' लखनऊ संस्करण, भाग २, पृ० २४५ की ग्यारहवीं पंक्ति से) यद्यपि एक स्थान पर कहता है कि उन्होंने 'दीवार-ए-गिलीन-ए-अरिज-ए-मार पेच' (साँप की तरह टेढ़ी मेढ़ी, चौड़ी मिट्टी की दीवालें) बनाईं, परन्तु अन्यत्र वह लिखता है कि अकबर एक साबात पर बैठा जहाँ से किले का भीतरी भाग दिखाई पड़ता था और वहीं से वह गोलियाँ चलाता रहा। किस तरह कोई सर्पाकार दीवाल मीनार का रूप हो सकती है जिस पर से कोई व्यक्ति बन्दूक चला सके। अबुल फजल ने इस प्रकार के भ्रमपूर्ण प्रयोगों से काउन्ट वान नोपर ('कैसर अकबर' भाग १, पृ० २३४-२४०, फ्रेन्च संस्करण, भाग १, पृ२ १६५, (हार्न पृ० १२१) भी यह मानने के लिये तैयार हो गया है कि यदि सम्भव हो, तो साबात ऐसा होना चाहिये कि उस पर से किले की कार्यवाइयों को नियंत्रित किया जा सके, वह यह भी लिखता है कि 'साबात की चोटी पर से तोप के गोले किले की दीवालों, का विध्वन्स कर देते हैं।" तत्पश्चात वह चलायमान ढालों के लुढ़कने का उल्लेख करता है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, कि लखनऊ संस्करण के 'अकबर नामा' (भाग २, पृ० २४३-२५४) से यही निष्कर्ष स्पष्ट रूप से निकाला जा सकता है कि चित्तौड़ के घेरे में

अकबर ने तीन उपायों का सहारा लिया था—१) एक लम्बी और गहरी खाईं (साबात), (२) खन्दक खोदने वालों की सुरक्षा के लिये चलायमान ढालें (तूरह) और (३) किले के भीतर की कार्रवाई का निरीक्षण करने के लिये एक ऊँची अस्थायी मीनार की तरह की रचना (सीबा)।

इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि १६७० में करनाल के घेरे में मराठों ने खुली खाइयों का प्रयोग किया था क्योंकि ग्रान्ट डफ (पृ० ११०) बम्बई रिंकार्ड्स का उद्धरण देते हुये लिखा है कि वे दोनों तरफ मिट्टी का घेरा बाँधते हुये वे आगे बढ़ते गये।"

बालू के बोरे—अपने आक्रमण के मार्ग को सुविधा जनक बनाने के लिये कभी-कभी किले के बाहर की खन्दक को मिट्टी और बालू से भरे हुये बोरों से पाट दिया जाता था। इन भरे हुये बोरों को 'जुवाल' (स्टीन गैस पृ० ३७६) कहा जाता था। उदाहरण के लिये, खाफी खाँ (भाग २, पृ० ३५६) के अनुसार १०६७ हि० (१६८५-८६) में आलमगीर ने गो लकुन्डा के घेरे में इस तरके का इस्तेमाल किया था खाफी खाँ एक बार फिर भाग २, पृ० ६५८ की नवीं पंक्ति में सिक्खों द्वारा इन बोरों का प्रयोग किये जाने का उदाहरण दिया है जब कि १७१० में 'सिक्खों ने जालन्धर दुआब के राहून' नगर पर आक्रमण किया था। वह लिखता है जुवालह-हाये पुर जअरेग बराये मुर्चाल बस्तन' अर्थात 'मोर्चा बनाने के लिये बालू से भरे बोरे' काम लाये गये थे।

चलायमान ढाल—१७१० में सिक्खों ने जब गंगा के दोआब में स्थित जलालाबाद नगर पर आक्रमण किया था तो उन्होंने लकड़ी के बड़े-बड़े तख्तों का प्रयोग ढाल और आड़ के रूप में किया था। ये तख्ते साधारण बैल गाड़ियों पर खड़े कर दिये गये, इन्हीं आड़ों के सहारे वे दीवाल के पास तक पहुँच गये और उन तख्तों की आड़ से उन्होंने घिरे हुये लोगों पर गोलियों और तीरों की बौछार की (खाफी खाँ, भाग २, पृ२ ६५६)। पीछे जिन्सी तोपखाने का वर्णन किये जाते समय इस प्रकार के ढालों और आड़ों का वर्णन 'तूराह' के वर्णन के साथ दिया गया है।

शातूर—इस शब्द का प्रयोग हमें बदायूनी (टेक्स्ट, भाग १, पृ० ३८२) में मिलता है और प्रसंगानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोई ऐसी चीज थी जो पेड़ों के तनों से बनाई जाती थी और (घेरों में प्रायः इसका प्रयोग किया जाता था। इस शब्द का उल्लेख किसी भी शब्द कोष में न पाने पर कर्नल रैंकिंग (पृ० ४६७, नोट ७) ने मत प्रकट किया है कि सम्भवतः यह शब्द, तुर्की भाषा के 'सातू' (मकान की छत) से सम्बन्धित है जिसका अर्थ हो सकता है, ऐसा सुरक्षित मार्ग, जिससे दीवाल तक पहुँचा जा सके, उसके अनुसार यह रोम में बनी 'वीनिया' जैसी कोई चीज है, जो आठ फुट ऊँचे खम्भों पर पटरे आदि रख कर छतनुमा बनाई

जाती है और आदमी इसे अपने ऊपर उठा कर आगे बढ़ते जाते हैं। हो सकता है कि 'शातूर' शब्द 'शाहतीर' (लकड़ी के पटरे) से सम्बन्धित हो।

मलचार—इस शब्द का अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। इस शब्द का प्रयोग अब्दुल हमीद द्वारा 'बादशाह नामा' (भाग २, पृ० १०७, पंक्ति १५, और पृ० १०८, पंक्ति १८) में किया गया है। ये दोनों अंश १०४४ हि० (१६३४-३५) के घटनाक्रम से सम्बन्धित हैं। पहले अंश में ओड़छा के घेरे का वर्णन है और दूसरे में बुन्देल खण्ड के धामोनी किले के घेरे का विवरण दिया गया है। दूसरे अंश के प्रसंगानुसार मलचार कोई ऐसी खाई थी जिसके जरिये किले में प्रवेश करने का प्रयास किया जाता था।

अस्थायी दीवाल—किलों पर घेरा डालने के पश्चात् एक उपाय यह भी किया जाता था कि किले के चारों ओर से एक अस्थाई दीवाल बना दी जाती थी, जिसमें स्थान-स्थान पर झरोखे बनाये जाते थे और उन पर कड़ा पहरा रक्खा जाता था और कोई भी बिना अनुमति पत्र के इस घेरे के आस पास आ जा नहीं सकता था। इस तरीके का इस्तेमाल आलमगीर ने १०९८ हि० (१६८६-६७) में गोल कुण्डा के घेरे में किया था ('मआसिर-ए-आलम गीरी' पृ० २६६)। इस अस्थाई घेरे को बनाने में पेड़ों के तनों और मिट्टी के सहारे बनाया जाता था। जब अब्दुल-समद खाँ ने गुरुदास पुर में सिक्ख सरदार बन्दा वैरागी को घेरा था, तो उसने इसी प्रकार के एक उपाय का सहारा लिया था।

मीनारें (सीबा)—गुरुदास पुर के घेरे के सिलसिले में, ऐसा कहा जाता है कि उक्त किले के बाहर लकड़ी की ऊँची मीनारें बनाई गईं थी, जिनके ऊपर तोपों को चढ़ा दिया गया था। इस प्रकार किले के भीतरी भाग पर अब्दुस समद खाँ ने पूर्ण नियंत्रण पा लिया था। उसी समय के एक लेखक द्वारा दिया गया यह वर्णन इस सम्बन्ध में काफी लाभ दायक होगा। 'दो तीरों की मार की दूरी पर कुछ स्तम्भ बनाये गये जो इतने चौड़े थे कि उन पर तोपों को चढ़ा कर गोले फेंके जा सकते थे। उनकी उँचाई लगभग ४।१२ फीट थी और उनका आकार एक बुर्ज की तरह था। दोनों ही पक्षों से लगातार गोलाबारी की जा रही थी। जब भी कोई तोपची इन मिट्टी से बने बुर्जों के ऊपर सिर उठाता था, वह तुरन्त उन सिक्खों के गोलों का निशाना हो जाता था जो मोर्चों के पीछे छुपे हुये थे। इसी प्रकार किले की दीवाल पर किसी सिक्ख सैनिक का सिर दिखाई पड़ते ही, उस तरफ गोला फेंक दिया जाता था। सिक्ख बराबर मुगल सेना की गोलाबारी का जवाब देते जा रहे थे जिससे शाही सेना, मोर्चा छोड़ कर खुले मैदान में आकर किले में घुसने का प्रयास करने का अवसर न पा सके। तब अब्दुरसमद खाँ ने आरिफ़ खाँ के बुर्ज पर एक मीनार बनवाया जो किले की दीवाल से भी ऊँचा था, उसने इस मीनार पर अपनी कुछ

तोपों को चढ़वा दिया। इस उपाय से घिरे हुये लोगों के हौसले पस्त होने लगे क्योंकि अब उनकी प्रत्येक कार्रवाई शाही तोपों के सामने व्यर्थ हो रही थी, अन्त में एक प्रकार से किले की हलचल बन्द हो गई। आक्रमण की अन्य दो दिशाओं में भी ऐसी ही मीनारें बनवाई गईं जहाँ कि क्रमशः जकारियह खाँ और कमरुद्दीन खाँ तोपों का संचालन कर रहे थे।" (गुलाम मुही उद्दी खाँ, फोलियो ५७ ए०)।

'ईजाद' (फोलियो २३ ए०) ने इसी घेरे का वर्णन करते हुये एक स्थान पर एक शब्द का प्रयोग किया है जिसे मैं 'चोव-सीवारा' पढ़ता हूँ और मेरे विचार से यह शब्द उक्त मीनारों के अर्थ में ही आया है। यह अंश इस प्रकार है—"घेरा डालने वालों ने चोव-सीवारा' बताया और किले के प्रत्येक कोने के पास तक भूमि के नीचे-नीचे रास्ता (सुरंग) खुदवाया।" परन्तु मेरे विचार से यह अर्थ सही नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इस अंश के कुछ पहले ही उक्त लेखक ने एक स्थान पर लिखा है—"पेड़ों के तनों पर मिट्टी लाद कर टीले बनाये गये और किले के चारो ओर अनेक स्थानों पर ऐसे टीलों की रचना की गईं, दूसरे शब्दों में, यह अंश मीनार की ओर संकेत करता है। यदि ऐसा है, तो वह फिर इस मीनार के लिये दूसरे ही वाक्य में 'चोव-सीवारा' शब्द का प्रयोग क्यों करता है?"

स्टीन गैस (पृ० ७१४) की व्याख्या के अनुसार 'सीवा' तुर्की शब्द है जिसका अर्थ है 'दीवालों से घिरा हुआ स्थान' परन्तु हार्न (पृ० १३३) ने 'आलम गीर नामा' पृ० ३१३ से उद्धरण देते हुये सीवा शब्द का अर्थ, यूरोप में कैवेलियर के नाम से जानी जाने वाली चीज की तरह की कोई वस्तु बताया है। यह बाद वाला अर्थ अब्दुलसमद खाँ द्वारा बनवाई गई अस्थाई मीनारों के लिये भी लागू किया जा सकता है, यद्यपि ये मीनारें किसी किले का अंग नहीं थीं, बल्कि अलग-अलग बनवाई गई थी।

दारा शिकोह ने (१०६३ हि० १६५३ ई०) कन्धार पर घेरा डालने के दौरान में इसी प्रकार का एक मोर्चा बनवाया था जिसे निश्चित रूप से 'सीवा' कहा जा सकता है। यह वर्णन इस प्रकार है— "उसने मिट्टी से बने एक ठोस और ऊँचे टीले पर एक तोप चढ़वा दिया।" (एलफिन्सटन 'हिस्ट्री' पृ० ५१३)। हमें इस शब्द का प्रयोग 'मीरात-उस-उफा' (फोलियो ६६ वीं) में भी किया गया है जिसके अनुसार जब ११६० हि० (जुलाई १७५६) में बूसी के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना हैदराबाद के चहार महल में घिरी हुई थी तब आक्रमण कारियों ने 'सीवा' का प्रयोग किया था (इस सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिये देखिये मालेसन लिखित 'फ्रेन्च' इन इन्डिया, नया संस्करण, पृ० ४६०)। १७५१ में अर्काट के घेरे में, हिन्दुस्तानी हमलावरों ने इसी प्रकार की किसी चीज का प्रयोग किया था (ओर्मे, 'मिलिटरी ट्रान्जेक्शन्स' भाग १, पृ० १६१), उन्होंने एक घर को पूरी तरह पाट

दिया था और उसकी छत पर से उन्होंने एक वार्गाकार टीला बनाया जिस पर से किले के फाटक और भीतरी भाग को पूर्णतः नियंत्रित किया जा सकता था। इसी प्रकार के एक टीले का उल्लेख, मनूचीकेट्रो चौथा एडीशन, १७१५, तीसरा भाग पृ० १७७) के आधार पर, ओर्मे ने 'हिस्टारिकल फ्रैगमेन्ट्स' (पृ० १५३) में किया है जिसका प्रयोग १६८७ में गोलकुण्डा के घेरे में किया गया था। किले की दीवाल की ऊँचाई की सतह के बराबर एक टीला बनाया गया था जिस पर तोपों को चढ़ा दिया गया था। विल्क्स (भाग २, पृ० ३६०) लिखता है कि उसे सर बैरीक्लोज से पता लगा या कि जब मलाबार जिले के तेल्लीचेरी के किले पर १७८२ में घेरा पड़ा था तो सरदार खाँ ने सीबा का प्रयोग किया था। यद्यपि सीबा का नाम उक्त प्रसंग में नहीं दिया है, परन्तु जो वर्णन दिया गया है, वह सीबा पर भलीभाँति लागू होता है। यह अंश इस प्रकार है—"एक काफी लम्बी चौड़ी नींव के ऊपर लगातार कई मंजिलें बनाई गई थीं, प्रत्येक मन्जिल को बनाने के लिये पेड़ों के तनों और डालियों का प्रयोग किया गया था, जिनके बीच के खाली स्थान में गीली मिट्टी भर दी गई थी। तोपों को चढ़ाने के लिये जो रचनाएं की गई थीं, उन्हें बाद में हटा दिया गया। ज्यों-ज्यों भीतर के लोग इसी मीनार पर चढ़ी तोपों की मार से बचने के लिये छुपने का स्थान ढूढ़ूते थे, त्यों त्यों, इसे और ऊँचा बना लिया जाता था। लेक पृष्ठ (२२१) में इन टीलों की तुलना कैवीलियर्स से करता है जिनका प्रयोग बहुत पहले यूरोपीय घेरों में किया जाता था। 'कैवेलियर' के सम्बन्ध में देखिये बायल पृष्ठ ६६।

किलों को ध्वस्त करना—उस समय की अक्षम तोपों से कभी कभी ही किलों का कोई अंश ध्वस्त हो पाता था और किलों के पूर्णतः ध्वस्त होने के सम्बन्ध में इनेगिने उदाहरण ही मिलते हैं। किलों में विरोधी सेना प्रायः फाटकों को तोड़ने के पश्चात् ही प्रवेश कर पाती थी और फाटकों को तोड़ने के लिये प्रायः हाथियों का प्रयोग- किया थाता था; इस सम्बन्ध में पीछे वर्णन किया जा चुका हैं।

सीढ़ियाँ—किलों की दीवाल पर चढ़ने के लिये जिन सीढ़ियों का प्रयोग किया था उन्हें 'नर्दुबान' कहा जाता था (स्टीनगैस, पृ० १३६५)। बाबर अपने संस्मरणों में अनेक स्थानों पर सीढ़ियों के प्रयोग का उल्लेख करता है। बदायूँनी, टेक्स्ट भाग १, पृ० ४६५ रैकिंग, पृ० ६००) में दिये गये एक वर्णन से वह प्रमाणित हो जाता है कि हुमायूँ के शासन-काल में ६६३ हि० (१५५५-५६) में इन सीढ़ियों का प्रयोग किया गया था। इस अंश में दो शब्दों का प्रयोग किया है; पहला है 'जीनह पाये' अर्थात् सीढ़ी (जीना) के डण्डे, दूसरा शब्द है 'कमन्द' जिसे हम रस्सी की सीढ़ी कह सकते हैं। शाहजहाँ के शासन काल में भी, ओंड़छा के घेरे में १०४४ हि० (१६३४-३५) में इन सीढ़ियों के प्रयोग किये जाने का उल्लेख मिलता है

('बादशाह नामा' । भाग २, पृ० १०७ पंक्ति १५) । बाद के काल में भी, समय समय पर सीढ़ियों द्वारा किलों की दीवाल पर चढ़ने के प्रयत्न का उल्लेख मिलता है । उदाहरण के लिये १७१९ के अन्त में जब हैदर कुली खाँ ने इलाहाबाद के किले में गिरधर बहादुर को घेर लिया था तो, जैसा कि हम पीछे भी देख चुके हैं, इस किले पर दो तरफ से धावा करने की योजना बनाई गई थी । इनमें से एक तरफ के आक्रमण का नेतृत्व शेर अफगन खाँ, दाऊद खाँ (मुहम्मद खाँ बगंश के अधीन एक सरदार) तथा कुछ अन्य सरदार कर रहे थे । उन्होंने गिरधर बहादुर के बाहर निकले हुये सैनिकों को खदेड़ कर दीवाल के बिल्कुल पास तक पहुँचा दिया । इसी समय—"दाऊद खाँ बंगश ने किले की दीवाल पर चढ़ने के इरादे से सीढ़ियों का प्रयोग किया, परन्तु बहुत कोशिशों के बावजूद भी वह इस प्रयास में सफल न हो सका और उसने हार कर यह प्रयास ही त्याग दिया" (सिपानि-ए-खिजरी) । १७१० में सिक्खों के पास भी किलों पर चढ़ने के काम आने वाली सीढ़ियाँ थी जब कि उन्होंने ऊपरी गंगा के दो आवे में स्थित जलालाबाद पर घेरा डाला था (खाफी खाँ, भाग २, पृ० २५७) ।

आक्रमण-कारियों का सामना करने के उपाय, जलता हुआ तेल, बारूद से भरे बर्तन आदि—फिट्ज क्लरेन्स (पृ० २७३) के 'जरनल' से एक अंश पीछे उद्धृत किया जा चुका है जिसमें किले के ऊपर से दुश्मनों के ऊपर जलते हुये छप्पर और बारूद से भरे बर्तनों को फेकने का उल्लेख किया गया है । पीछे भी हम दसवें अध्याय के अन्तिम भाग में देख चुके हैं कि इसी कार्य के लिये 'हुक्का-ए-आतश' का प्रयोग भी किया जाता था । हार्न (पृ० १२३) ने, वान नोयर (भाग १, पृ २५४, फ्रेंच अनुवाद, भाग १, पृ० १६१) से उद्धरण लेते हुये कुछ अन्य अस्त्रों व साधनों का उल्लेख किया और उन्हें तेल में डुबो दिया और जब मुगल किले के ध्वस्त भाग से भीतर धँसने का प्रयत्न कर रहे थे, उन्होंने इस तेल में डूबे कपड़ों के ढेर में आग लगा दिया । कभी-कभी चमड़ों के थैलों में बारूद भर दिया जाता था और उसके पलीते में आग लगा कर, उसे तुरन्त नीचे फेंक दिया जाता था, नीचे पहुँचते-पहुँचते बारूद का थैला फट जाता था और भयंकर विस्फोट होता था । शाहजहाँ के शासन काल के चौथे वर्ष (१६३१ ई०) में दक्षिण के एक किले की रक्षक सेना ने इन बारूद के थैलों का प्रयोग किया था । इस सम्बन्ध में हार्न ने, पृ० १३१ पर 'बादशाह नामा' (भाग १, पृ० ३६६) से निम्नलिखित अंश को उद्धृत किया है, "अज दरून-क-हिस्तर-बान-ओ-तुफंग ओ हुक्कह ओ संग ओ मश्क-हाए बारूद राआतश जदह मी अन्दख्तन्द," अर्थात् "किले के अन्दर से उन्होंने अग्निबाण, गोलियाँ पत्थर हथगोले और जलते हुये बारूद के थैले फेंके ।" इस घटना के लगभग १२३ वर्ष बाद हुक्कों (हथगोलों)

और बारूद से भरी हाँड़ियों के फेंके जाने का एक अन्य उदाहरण मिलता है। यह घटना है १७५३ ई० की जब सूरजमल जाट ने अलीगढ़ जिले में स्थित घसहरी के किले पर घेरा डाला था। 'सुजान चरित्र', के पाँचवे खण्ड में एक छन्द इस प्रकार है।

उट्टन मारू घनी पड़ेउ साथी मुख मोड़े,
हंडी, हुक्के आगी दे गढ़ वाल न छोड़े"

मुगल काल के लगभग अन्त में, हमें इस सम्बन्ध में एक अन्य उदाहरण मिलता है जब ३ दिसम्बर १८०२ में हाँसी के किले पर मराठों ने आक्रमण कर दिया था और एक भाग का विध्वन्स कर दिया था। उस समय उनको किले में प्रविष्ट होने से रोकने के किये जार्ज टामल के अफसरों ने इन्हीं तरीकों का उपयोग किया था। "मकानों की जलती हुई छतें, बारूद से भरे हुये बर्तन और जो कुछ भी वह पास का, हमारे ऊपर फेंकने लगा, परन्तु हमारा सब से अधिक नुकसान बारूद से भरे बर्तनों ने किया, जिनसे हमारे सैनिकों के हौसले पस्त हो गये ("मिलिटरी मेम्वायर्स आव लेफ्टिनेन्ट कर्नल जेम्स स्किनर, सी० बी०" भाग १, २२६)। इसके लगभग तीन वर्ष पश्चात् १८०५ में भरतपुर के घेरे में आक्रमणकारियों को पस्त करने के लिये इन्हीं शस्त्रों के प्रयोग का उदाहरण मिलता है। थार्न ('वार' पृ० ४५७) लिखता है। "दीवाल पर खड़े सैनिक, नीचे खड़े अपने शत्रुओं के सिरों पर निरन्तर बड़े-बड़े लट्ठों और कपड़ों को तेल में भिगो कर और उनके आग लगा कर फेंक रहे थे, साथ ही बारूद तथा अन्य विस्फोटक पदार्थों से भरे हुये मिट्टी के पात्र भी नीचे फेंके जा रहे थे, जिनके फटने पर दुश्मनों में हाथ तोबा मच जाती थी।" लेक (सीजेज, पृ० २१२) ने १७८१ के एक घेरे का उदाहरण उद्धृत किया है जिसमें ऐसे तरीकों का प्रयोग किया गया था।

पत्थरों का प्रयोग—जहाँ किले काफी उँचाई पर बने होते थे और पत्थरों की बहुतायत होती थी, तो बड़े-बड़े पत्थरों को एकत्रित कर लिया जाता था और हमलावरों के ऊपर पहाड़ी पर से लुढ़का दिया जाता था (ब्लैकर, 'वार' पृ० ३१८)। १०४४ हि० (१६३४-३५ ई०) में जब बुन्देलखण्ड के धामोनी किले पर घेरा पड़ा था तो दुर्गरक्षकों ने घेरा डालने वालों पर पत्थर लुढ़काये थे ('बादशाह नामा' (भाग २ पृ० १०८)। १६७४ में दक्षिण के एक किले में भी ऐसा ही किया गया था। जब कि शिवाजी ने उस पर घेरा डाला था (आर० ओर्मे, 'हिस्टारिकल फ्रैगमेन्ट्स', पृ० ४७)। इस पुस्तक के लिखे जाने के लगभग दो ही वर्ष पहले अंग्रेजो को भी हिमालय में स्थित 'हजा' के किले में ऐसी ही स्थिति का सामना करना पड़ा था।

मुख्यतः पत्थरों की मार के कारण ही हम (अंग्रेज) गंगा तट पर स्थित

चुनार के किले पर पहले आक्रमण में सफल नही हो पाये जो कि २६ नवम्बर १७६४ में किया गया था 'क्लाइब' भाग १, पृ० ६४)। "दुश्मनों द्वारा लुढ़काये गये बड़े-बड़े पत्थरों से हमारे चढ़ते हुये सैनिक नीचे आ जाते थे और कभी एक के ऊपर एक गिरते हुए कोड़ियों सैनिक एक साथ लुढ़क कर नीचे आ जाते थे...अन्त में हमारे सैनिक इस प्रकार लुढ़कते गिरते बिल्कुल थक गये और हार कर उन्होंने चढ़ने का प्रयत्न करना ही छोड़ दिया। यहीं पर इतिहास लेखक कैप्टेन डी के सर में भी एक पत्थर से चोट आ गई थी। खैरुद्दीन (इबारत नामा, पृ० ७५) के अनुसार जब ११७३ हि० (१७५६ ई०) में पटना पर आक्रमण किया गया था तो इस किले की दीवारों पर से 'संग असिया' लुढ़काये गये थे। स्टीन गैस (डिक्शनरी, पृ० ७०१) के अनुसार इनका अर्थ है चक्की के पाटे से, सम्भवतः लेखक ने 'संग असिया' का प्रयोग आटा पीसने के लिये प्रयोग किये जाने वाले जाँत (हाथ की चक्की) के पाटों के लिये किया है। अंग्रेजी सेना को इसी प्रकार कृष्णागढ़ी (सलेमपुर जिला) में दो बार (१७८६ और १६६१) शिकस्त खानी पड़ी और केवल इसीलिये कि दुर्गरक्षक सैनिकों द्वारा बड़ी-बड़ी चट्टानों के लुढ़काये जाने के कारण अंग्रेजी सेना की हिम्मत छूट गई (लेक पृ० २०७, टिप्पणी)। इसी प्रकार खान देश में स्थित त्रिम्बक के किले पर २४ अप्रैल १८१८ को अंग्रेजों ने आक्रमण किया परन्तु यहाँ भी दुर्गरक्षकों ने पत्थरों का ही सहारा लिया जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों को असफलता का मुँह देखना पड़ा (लेक पृ० १०५)। इसी तरह गोपाद्रुग में भी १३ मई १८१६ को आक्रकण कारियों को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी थी (लेक, पृ० २०१)।

आक्रमण कारियों को पस्त कर देने के बाद किला खाली करना—लेक, पृ० १५० पर लिखता है कि भारतीय चरित्र के परस्पर विरोधी गुणों और विशेषताओं का यह भी एक उदाहरण है कि जब कि वे दुर्गम तथा अपराजेय किलों को अनायास ही, बिना किसी प्रबल प्रतिरोध के शत्रुओं के हाथ में सौंप देते थे, परन्तु केवल दीवालों से घिरे हुये नगरों की रक्षा करने में वे जान की बाजी लगा देते थे और यहाँ तक कि, दीवाल के ध्वस्त हो जाने पर वे स्वयम् दीवाल के समान ध्वस्त स्थान पर खड़े हो जाते थे और अपनी अन्तिम साँस तक वहीं लड़े लड़ते रहते थे। ब्लैकर ने इस देशवासियों की एक और विचित्र विशेषता पर अपने पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। वह लिखता है (पृ० ३४६) कि ऐसा प्रायः देखने में आता था कि किसी किले की रक्षक सेना अध्यन्त वीरता पूर्वक आक्रमणकारियों का सामना करती थी और उन्हें बहुत अधिक हानि पहुँचाती थी और दुश्मनों के दाँत खट्टे हो जाते थे। परन्तु शत्रुओं को पस्त कर देने पर भी, वे रात्रि के सन्नाटे में उस किले को छोड़ कर चल देते थे, जिसके लिये वे कुछ ही घन्टों पहले जान की बाजी लगा चुके होते थे और जब कि हारने की आशंका भी कम ही रहती थी। उनकी इस विचित्र

आदत को देख कर यूरोपियनों को बड़ा ताज्जुब होता था, परन्तु वे इसका कोई कारण नहीं खोज पाते थे। ऐसा भी कभी नही हुआ था, न प्रतीत होता था कि यह उनकी एक चाल थी और ऐसा उन्होंने शत्रुओं को बहका कर उन्हें अधिक खतरे में खींच लाने के इरादे से किया हो। यही समझ में नहीं आता था कि वे इस बहादुरी से किले की रक्षा ही क्यों करते थे जब कि उन्हें किला खाली ही करना होता था या फिर वे हारने की आशंका होने पर सन्धिवार्ता ही क्यों नहीं करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि बिना मुकाबिला किये किले को छोड़ देने में वे अपना अपमान समझते थे और इसलिये दुश्मनों पर अपनी ताकत का सिक्का जमा देने के बाद वे किले को छोड़ कर जाते थे।

भुखमरी के कारण आत्मसमर्पण—दुर्गरक्षक सैनिकों द्वारा आत्म समर्पण कर दिये जाने का सर्व प्रमुख कारण प्रायः खाद्य पदार्थों का अभाव ही होता था। इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ११३१ हि० (अगस्त १७१६) में हुसेन अली खाँ के तख्त के वारिस होने का दावा करने पर आगरा में नेकूसियर को इसी कारण आत्म समर्पण करना पड़ा था। मुहम्मद कासिम लाहौरी (पृ० २८७) इस घेरे का वर्णन इस प्रकार करता है। "एक महीने बाद खाद्य सामग्रियाँ कम होने लगीं। जो लोग आस पास के गाँवों से आ कर सेना में सम्मिलित हो गये थे, वे खाद्य संकट देख कर धीरे-धीरे खिसकने लगे; वे रात में दीवालों पर चढ़ जाते थे, परन्तु उतरते ही वे हुसेन अली खाँ के सन्तरियों द्वारा कैद कर लिये जाते थे। इन्हीं भगोड़ों द्वारा हुसेन अली खाँ को पता चला कि किले के भीतर वाले सैनिक बहुत हतोत्साह हो गये हैं। उन्होंने बताया कि सारे अच्छे और खाने योग्य अन्न समाप्त हो चुके थे और केवल रद्दी दालें ही बची थीं जो कि लगभग सात वर्ष से रक्खी हुई थीं और उनमें इतनी तीव्र दुर्गन्ध आ रही थी कि भूख से मरते हुये जानवर भी उन दालों को मुँह में रखने का साहस नहीं करते थे। बाहर से थोड़ी बहुत मात्रा में पिसा हुआ आटा मँगाने का प्रयास किया गया, इस आटे को रस्सों द्वारा ऊपर खींच लिया गया। इस आघात में घेरने वाली सेना के तोपखाने के कुछ आदमियों ने भी किले वालों की मदद की थी। जब इस बात का पता लगा तो पहरे को और कड़ा कर दिया गया। रात में यदि कोई भी चीज चाँदनी में हिलती हुई दिखाई पड़ती थी तो तुरन्त उस तरफ बन्दूकें छोड़ी जाती थी और नदी के रास्ते से भागने वालों को पकड़ने के लिये बहुत चतुर तैराक भी नियुक्त किये गये थे।" अन्त में भुखमरी से त्रस्त हो कर किले वालों ने सन्धिवार्ता प्रारम्भ की और लगभग तीन महीने के घेरे के बाद १२ वीं अगस्त १७१६ को नेकूसियर ने आत्म समर्पण कर दिया।

गुरुदास पुर—गुरुदास पुर का घेरा और खाद्य सामग्री समाप्त होने जाने पर सिक्ख सरदार बन्दा वैरागी द्वारा आत्म समर्पण किया जाना, एक अन्य उदाहरण है जब कि कड़े घेरे के कारण घिरे हुये लोगों ने भुखमरी से पीड़ित हो कर हार मान ली थी। अब्दुस समद खाँ ने गुरुदास पुर पर अप्रैल १७१५ में घेरा डाला था, परन्तु इसी वर्ष के दिसम्बर मास के १७ वीं तारीख के पहले सिक्खों ने आत्म समर्पण नहीं किया था। आत्म समर्पण करने के एक माह पूर्व ही सारी खाद्य सामग्री समाप्त हो चुकी थी और भण्डार में एक दाना भी नहीं बचा था। रक्षक सेना को बाहर के सामान्य सैनिकों से थोड़ा बहुत भोजन प्राप्त हुआ और वह भी बहुत मँहगी दर पर भूख से व्याकुल होने पर उन्होंने अपने बैलों तथा अन्य जानवरों को काट डाला और पकाने के लिये ईंधन न, पाने पर, उनके माँस को कच्चा ही खा गये। उसके पश्चात् उन्हें रास्ते पर जो भी खाने योग्य चीज मिली, उठा कर खाना प्रारम्भ कर दिया। इसके पश्चात् उन्होंने पेड़ों से पत्तियों तोड़ कर खाना शुरू कर दिया। जब पत्तियाँ भी समाप्त हो गईं तो उन्होंने पेड़ों की छाल और ताजी और नरम शाखाओं को इकठा किया और उन्हें सुखा कर तथा पीस कर आटे के स्थान पर उसे ही खाया। जानवरों की हड्डियों को भी पीस डाला गया और आटे की तरह खाया गया। कहा जाता है कि कुछ सिक्खों ने अपनी जाँघ के मांस को काट कर और पका कर खाया था।

थून (पहला घेरा)—थून का पहला घेरा एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसमें भुखमरी की स्थिति पैदा करके अधिकार कर लेने की योजना सफल नहीं हो सकी थी। यह किला भतरपुर के जाट राजाओं के पूर्वजों द्वारा बहुत पहले बनवाया गया था और भरतपुर जाने से पहले यही किला उनका सर्वोत्कृष्ट एवम् सुरक्षित स्थान था, साथ ही यही उनकी शक्ति का केन्द्र भी था। यह किला मथुरा के पश्चिम में डीग और गोबर्द्धन के बीच में स्यित था। १७१६ तक लुटेरे चूड़ामन जाट के अत्याचारों का प्याला ऊपर तक भर गया था। अन्त में उसके खिलाफ कार्रवाई करने तथा उसे दण्ड देने का निश्चय किया गया और इस कार्य को पूरा करने के लिये अम्बेर के सवाई राजा जयसिंह को तैनात किया गया। जयसिंह चल पड़ा और १६ नवम्बर १७१६ तक उसने थून के किले को पूर्ण रूप से घेर लिया। इस किले की दीवालें बहुत ऊँची थीं और इस चारों तरफ से घेरे हुये गहरे खन्दक में सदैव काफी जल भरा रहता हैं था। इस किले के चारो तरफ बहुत ही घने और कटीले वन लगे हुये थे जिनमें से 'एक चिड़िया भी मुश्किल से ही अपना मार्ग बना सकती थी। "किले में खाद्य सामग्री बहुत अधिक मात्रा में एकत्रित कर ली गई थी, ऐसा कहा जाता है (यद्यपि यह अतिशयोक्ति पूर्ण है) कि उस समय किले में अनाज,

नमक घी, तम्बाकू, कपड़ा और ईंधन का इतनी अधिक मात्रा में संग्रह किया गया था कि वह बीस वर्ष के लिये, किले की पूरी आबादी भर के लिये पर्याप्त था। यह निश्चित हो गया कि जयसिंह उसे घेरने के लिये चल पड़ा है तो उसने सभी बनियों व्यापारियों को, उनके परिवारों सहित किले से बाहर निकाल दिया और उनका सारा माल रखवा लिया। उसने उन्हें आश्वासन भी दिया कि यदि वह विजयी हुआ तो वह इन व्यापारियों के माल की कीमत अदा कर देगा और चूँकि वे अपनी सम्पत्ति को किले से ले नहीं जा सकते थे, इसलिये उन्होंने बिना किसी विशेष वाद विवाद के यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। घेरा पड़ने के पश्चात चूड़ामन के लड़का मुकाम सिंह और उसका भतीजा रूपा, दोनों ही फौज के साथ बाहर निकल आये और उन्होंने शाही सेना से खुले मैदान में युद्ध किया। २१ वीं दिसम्बर १७१६ की रिपोर्ट में राजा जयसिंह ने इस युद्ध में स्वयम् को विजयी घोषित किया। इसके पश्चात उसने किले के चारों तरफ फैले हुये जंगलों को कटवा डाला और स्थान-स्थान पर अनेक चौकियाँ स्थापित की और उनमें पहरे के लिये अपने आदमियों को तैनात कर दिया। दिल्ली से उसकी मदद के लिये एक बड़ी तोप भेजी गई और आगरा के सुरक्षित भण्डार से उसके पास बारूद से भरे आदमियों के तीन सौ पुतले, और सीसे से भरे हुये ५० पुतले तथा ५०० अग्निबाण भेजे गये। वह पूरी सेना के साथ २० माह तक थून पर घेरा डाले पड़ा रहा परन्तु जाटों ने हार नहीं मानी। १७१७ ई० में बरसात बहुत देर से प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप खाद्य पदार्थों की कीमतें बहुत बढ़ गईं और अम्बेर से खाद्य सामग्री मँगाने में उसे बहुत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १७१८ ई० के जनवरी माह में राजा जयसिंह ने राजधानी में यह रिपोर्ट भेजा कि उसने जाटों से कई बार मुठभेड़ की और हर बार उन्हें परास्त किया, परन्तु दरबार से कुछ सरदारों की शह पाते रहने के कारण जाट आत्म समर्पण नहीं कर रहे हैं। इसके कुछ समय बाद ही, वजीर के एक निकट के रिश्तेदार सैय्यद खान जहाँ ने चूड़ामन से सन्धिवार्ता प्रारम्भ कर दिया और उसने चूड़ामन से कहा कि यदि वह हट जाने के रूप में तीस लाख रुपया शाही खजाने में जमा कर दे और बीस लाख रुपवा स्वयम् उसे दे दे तो वह बादशाह से कह सुन कर सारा मामला तय करा देगा। इसके पश्चात राजा जयसिंह को वापस बुला लिया गया।

थून-दूसरा घेरा—एक दूसरे अवसर पर, १७२२ ई० में राजा जयसिंह को, थून के दूसरे घेरे में अधिक सफलता मिली और थून के किले को मिट्टी में मिला दिया गया। २५ अक्टूबर १७२२ के कुछ दिन पहले ही थून पहुँच गया, उस समय यह किला चूड़ामन जाट के लड़कों के हाथ में था और प्रारम्भ में कुछ दिनों तक

रोजाना लड़ाईं होती रही। ३१ अक्टूबर को राजा जयसिंह की रिपोर्ट राजधानी में पहुँची जिसमें उसने लिखा था कि उसने चूड़ामन के लड़के से तीन किलों को छीन लिया है, उसने आशा प्रगट किया था कि शीघ्र ही थून का पतन हो जायगा। साथ ही उसने और मदद के रूप में दिल्ली से एक बड़ी तोप, १०० हरकले, बारूद और शीशे से भरे आदमियों के ५०० पुतले मगाये थे। २० नवम्बर १७२२ को बादशाह के पास थून के विजय की रिपोर्ट पहुँच गई था। चूड़ामन के लड़के किला छोड़ कर भाग निकले। इसने शीघ्र किले पर अधिकार हो जाने का कारण मुगलों की वीरता नहीं बल्कि किले वालों का विश्वासघात था। मुकाम सिंह का एक चचेरा भाई था बदन सिंह, जिससे उसकी नहीं पटती थी। जयसिंह ने बदन सिंह को अपनी तरफ मिलाने के लिये यह वादा दे कर फुसला लिया था कि किले पर मुगलों का अधिकार हो जाने के पश्चात्, दुर्ग का स्वामित्व उसी को दिया जायगा।

आक्रामकों और घिरे हुये लोगों में संवादवाहन के साधन—फ्रेजर के 'मिलिटरी मेम्वायर्स आव लेफ्टिनेन्ट कर्नल जे० स्किनर (भाग १, पृ० २३१) के अनुसार हाँसी के किले के घेरे में मराठे तीरों पर पत्र को लपेट कर खाइयों में से धनुष द्वारा भीतर फेंकते थे और जार्ज टामस के पक्ष से इसी तरीके से उत्तर भी मिलता था। ६१८ हि० (१५१२ ई०) में, कहा जाता है कि बाबर ने गजदवान तीरों के जरिये ही उजबक सेना से सम्पर्क स्थापित किया था (बदायूँनी, भाग १, पृ० १४४)। १५४५ ई० में कन्धार के घेरे के वर्णन में भी इसी प्रकार का एक उदाहरण मिलता है—"किले में रहने वाले लोग रोज मिर्जा अस्करी क विवरण लिखते थे और तीरों में इन विवरणों को लपेट कर दीवाल से नीचे गिरा देते थे 'अकबर नामा' (बीवरिज भाग १, पृ० ४६६, चौथी पंक्ति) मनूची के अनुसर सिन्ध में स्थित भक्कर में १६५८ में घेरा डालने वालों ने सम्वादवादन के इसी तरीके का उपयोग किया था, पत्र से लिपटा हुआ एक तीर स्वयम् मनूची के कन्धे में धँस गया था और वह उसी स्थिति में अपने सेना नायक के पास चला गया था।

किलों की चाभियाँ—हार्न (पृ० १३३) इलियट (भाग ५, १७६) का पुस्तक से उद्धरण देते हुये लिखता है कि किलों की चाभियाँ प्रायः सोने या चाँदी की बनी होती थीं। इस उद्धृत अंश में रणथम्भौर के किले की चाभियों का उल्लेख किया गया है। 'मुजलिम-उत-तारीख' बाद नादिरिया (आस्कमैन द्वारा सम्पादित, पृ० ८५, पंक्ति २१) में फारस में भी सोने चाँदी आदि की चाभियों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। इस सम्बन्ध में एक अन्य उदाहरण मिलता है १११६ हि० (१७०७) में जब मीर वैस गिजजाई ने सुल्तान हुसेन मिरजा, सफी

के आदेश पर कन्धार के सूबेदार गुर्गीन खाँ गुर्जी को मार कर कन्धार पर अधिकार कर लिया तो उसने शाह आलम बहादुर शाह के पास सोने की चाभी भेजा था तथा उसके अधीन रहने का इकरार किया था ('मआसिर-उल-उमरा' भाग ३, पृ० ७०२)। 'मुजलिम उत तारीख बाद नादिरियो' (पृ० ८८, पंक्ति २) में एक अन्य मध्य एशियाई प्रथा का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार जैसे ही किले पर घेरा डालने वालों का अधिकार हो जाता था, वे तुरन्त किले की चोटी पर अपना झण्डा गाड़ देते थे। भारत वर्ष में इस प्रथा के सम्बन्ध में मुझे कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इस देश में किले की चाभियों को कितना अधिक महत्व दिया जाता था इसका अनुमान हम उन कठिनाइयों से लगा सकते जो औरंगजेब को अपने पिता शाहजहाँ से आगरा के किले की चाभियाँ लेने में उठानी पड़ी थी, जिन्हें शाहजहाँ से माँगने के लिये उसने अपने बड़े लड़के सुल्तान मुहम्मद को भेजा था (बर्नियर पृ० ६३)। किसी किले की चाभी किसी को सौंप देने का अर्थ होता था अधीनता स्वीकार करना। उदाहरण के लिये १७०७ में यार मुहम्मद खाँ ने (जो कि दिल्ली का किलेदार था। अधीनता के प्रतीक के रूप में, अपने लड़के के हाथों, दिल्ली के किले की चाभियों को बहादुर शाह के पास भेजा था (खाफी खाँ, भाग २, पृ० ५७७)। इसी प्रकार का एक और उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। गुलाम अली खाँ द्वारा लिखित 'मुकद्दमा-ए-शाह आलम नामा' (फोलियों ६१ वीं) अनुसार १७३८ में नादिर शाह के घेरे के दौरान में मुहम्मद शाह ने एक पत्र के साथ बुरहानुल-मुल्क और समास जलायर को पहले ही रवाना कर दिया था, यह पत्र दिल्ली के सूबेदार लुत्फुल्ला खाँ सादिक के नाम लिखा गया था जिसमें उसे आदेश दिया गया था कि वह किले की चाभियाँ शाह के प्रतिनिधि को सौंप दे और किलेदार ने वैसा ही किया। इसी प्रकार जब नजफ खाँ ने १७७३ में जाटों के हाथ से आगरा का किला छीन लिया तो इस समाचार को बादशाह के पास ले जाने वाला दूत "अपने साथ, बादशाह के कदमों में पेश करने के किले की चाभियाँ भी लेता गया था।" (डब्ल्यू फ्रैंकलिन-'शाह-आलम' पृ० ५३)।

कुछ महत्वपूर्ण घेरों का विवरण—शाहजहाँ के शासनकाल के अन्तिम चरण तथा आलमगीर के पूरे शाशन काल के दौरान में पड़े घेरों का मैं बहुत संक्षिप्त विवरण दूँगा इसके पश्चात्, अपेक्षाकृत कुछ विस्तार में १८ वीं शताब्दी के प्रमुख घेरों का वर्णन करूँगा। आलमगीर के शासन काल में के उत्तरार्ध में किलों के घेरों की संख्या, या कम से कम किलों पर हमलों की संख्या बहुत अधिक है।

कन्धार—यह घेरा दाराशिकोह द्वारा १०६३ हि० (१६५३) में डाला गया। इस घेरे में उसके साथ चार बड़ी तोपें, ३०००० लोहे के गोले, १५०० सीसे

के पुतले (जिनका कुल वजन लगभग ६०००० पौण्ड था,) ५००० बारूद से भरे पुतले (लगभग २०,००० पौण्ड), तोपखाने में कार्य करने वाले ५००० तोपची आदि, १०,०० बन्दूकची, ६००० सुरंग खोदने वाले, ५०० परवाली (जानवरों की पीठ पर पानी ढोने वाले), ३००० अहदी, ६० युद्ध के लिये प्रशिक्षित हाथी और अगणित ब्रिजारी (गल्ला ढोने वाले) थे (रैवर्टी, 'नोट्स' पृ० २२)। रैवर्टी ने पृ० २३ से २८ तक घेरे का विस्तृत विवरण दिया है।

बीजापुर—१०६७ हि० (१६८५-६६ ई०)। इस घेरे का विवरण निम्न-लिखित ग्रंथों में मिलता है। ब्रिटिश म्यूजियम संख्या १६४१, फोलियों ११३ ए० और १२८ ए० खाफी खाँ (भाग २, पृ० ३२२-३६८), 'म-आसिर-ए-आलमगीरी' (पृ० २७५)।

गोलकुण्डा १०६६ हि० (१६८६-८७) अब्दुल हसन ने, हैदराबाद से भाग कर जूल कदह, १०६७ हि० में गोलकुण्डा में शरण लिया था। गोलकुण्डा के किले पर २४ वीं जूल कदह, १०६८ हि० को अधिकार किया गया ('म-आसिर-ए-आलमगीरी' पृ० २६६)। इस ग्रन्थ (पृ० ३००) के अनुसार इस घेरे की अवधि आठ महीना और कुछ दिन थी। उक्त ग्रन्थ के पृ० ३०१ पर गोल कुण्डा के किले का विवरण दिया गया है। इसका वर्णन ब्रिटिश म्यूजियम संख्या १६४१ (फोलियों ११३ ए०) में भी मिलता है।

जिन्जी—११०५-६ हि० (१६६३-६७ ई०); विवरण के लिये देखिये खाफी खाँ (भाग २, पृ० ४१८) और 'मआसिर-ए-आलमगीरी' (पृ० ३६१)।

खेलनह—१११३ हि० (१७०१-२)। इसका विवरण निम्नलिखित ग्रंथों में मिलता है, खाफी खाँ (भाग २, पृ० ३२२) और 'मआसिर-ए-आलमगीरी' (पृ० ४४५-५७)।

कन्दानह—१११४ हि० (१७०-३ ई०) खाफी खाँ (भाग २, पृ० ५१०) और 'मआसिर-ए-आलमगीरी' (पृ० ४६६) में इस घेरे का वर्णन दिया गया है।

वाकनखेरा—१११६ हि० (१७०४-५)। खाफी खाँ (भाग २, पृ० ५२७) और 'मआसिर-ए-आलमगीरी' (पृ० ४६०)।

जैतपुर—बुन्देलखण्ड में स्थित जैतपुर के किले का घेरा १८वीं शताब्दी के घेरों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवम् विख्यात है। इस किले में मराठों की मदद से बुन्देलों ने मुहम्मद खाँ बंगश को घेरा था। यह घेरा कई कारणों से उल्लेखनीय है, जिनमें से एक प्रमुख कारण यह भी है कि पहले पहल इसी अवसर पर मराठों ने नर्बदा के उत्तर की ओर कदम पसार कर शाही राजनीति में हस्तक्षेप किया था। यह घेरा लगभग तीन माह तक पड़ा रहा, यह घेरा १५ मई १७२६ से प्रारम्भ हुआ और ३१

अगस्त १७२६ को समाप्त हुआ। छत्रशाल बुन्देला पहले ही मुहम्मद खाँ बगश के समक्ष अधीनता स्वीकार कर चुका था, इसलिये उसने स्वप्न में भी किसी खतरे का आभास नहीं पाया था और एक छोटी सी टुकड़ी के साथ उस क्षेत्र में दौरा कर रहा था। अचानक उसे पता लगा कि बाजीराव तथा अन्य प्रमुख ग्यारह सरदारों के साथ एक प्रबल मराठा सेना अत्यन्त निकट आ पहुँची है। १२ मार्च से १५ मई १७२६ तक तो वह अपने कैम्प से ही मराठों को रोकने की योजनाएँ बनाता रहा परन्तु अन्त में मजबूर होकर उसे पीछे लौट कर जैतपुर में शरण लेनी पड़ी। इस किले में खाद्य सामग्री नाम मात्र को भी नहीं थी और मुहम्मद खाँ बंगश के पास इतना समय भी नहीं था कि वह रसद आदि के लिये कोई इन्तजाम करता। शीघ्र ही मराठों ने उसे चारों तरफ से घेर लिया परन्तु मराठे सदैव से ही किलों के घेरे में बहुत ही अक्षम थे, इसलिये वे जैतपुर के किले में घुसने में सफल न हो सके और न किले का कुछ बिगाड़ ही सके। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि मुगलों को भूख से त्रस्त करके वे उन्हें बाहर निकालेंगे। एक दो माह के बाद किले में मुगल सेना के भोजन के लिये एक अन्न भी न बचा। अन्त में मुगलों ने बैलों और घोड़ों को काट कर खाना शुरू कर दिया। उस समय सौ रुपये सेर के भाव पर भी आटा मिलना सम्भव नहीं था। मराठों ने उन्हें खिझाने के लिये थोड़ा बहुत आटा भीतर फेंकवा दिया था, परन्तु वह आटा हड्डियों को पीस कर बनाया गया था। इस आटे को खरीदने के लिये १०० रुपये प्रति सेर के हिसाब से कीमत जोड़ कर रकम एक रस्सी द्वारा नीचे लटका दी जाती थी और उसी रस्सी में आटे के बोरे बाँध दिये जाते थे और मुगल इस आटे को ऊपर खींच लिया करते थे। बहुत से मुगल सिपाही अन्न के अभाव से मर गये। ऐसी परिस्थिति में बाजीराव ने हुक्म दे दिया कि जो भी मुगल सैनिक किले से निकलना चाहें उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाया जायगा बशर्ते कि वे अपने हथियार मराठों को सौंप दें। अन्त में बचते बचाते किले में कुल मिला कर मुश्किल से हजार बारह सौ आदमी ही रह गये। अन्त में मुहम्मद खाँ बंगश को सन्धि करने के लिये मजबूर होना पड़ा और किला छोड़ देना पड़ा (जनरल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, १८७८ ई०, पृ० ३०० और 'मीरात-ए-वारदात मेरी निजी प्रति, पृ० २५, २६)।

एलाहाबाद—१८वीं शताब्दी में इस किले पर दो घेरे पड़े थे, इस पर पहला घेरा ११३१ हि० (१७१६ ई०) में और दूसरा घेरा ११६३ हि० (१७५०) में पड़ा था। पहले अवसर पर एलाहाबाद के तत्कालीन सूबेदार गिरिधर बहादुर को निकाल बाहर करने के लिये शाही सेना भेजी गई थी और दूसरे अवसर पर इस किले पर फर्रुखाबाद के पठानों ने हमला किया था। उस समय यह किला तत्कालीन सूबेदार सफदर जंग के हाथ में था जो कि इलाहाबाद के साथ-साथ अवध का सूबेदार

और बादशाह का वजीर भी था। पहला घेरा लगभग नौ महीने तक पड़ा रहा और दूसरा घेरा लगभग सात महीने तक, परन्तु किसी भी घेरे में आक्रमणकारी अपने प्रयास में सफल न हो सके और किले पर उनका अधिकार न हो सका। ११३१ हि० (१७१६ ई०) में गिरिधर बहादुर ने अवध का शासन भार अपने हाथ में ले लेने की योजना तैयार की और शाही सेना से युद्ध करने के इरादे से वह अवध की तरफ चल पड़ा। ११६३ हि० (१७५०) में इसके पहले कि पठान किले पर कोई प्रभावपूर्ण आक्रमण कर पाते, उन्हें तुरन्त फर्रुखाबाद लौटने का हुक्म मिला क्योंकि सफदरजंग और मराठों की संयुक्त सेनाओं ने फर्रुखाबाद पर हमला कर दिया था।

बनगढ़—यह अन्तिम ऐसा घेरा था जिसमें स्वयम् मुगल बादशाह द्वारा घेरे का संचालन किया गया था। अवध के सूबेदार अब्दुल मन्सूर खाँ, सफदरजंग और अली मुहम्मद खाँ रुहेला (जो हाल ही में रुहेलखण्ड में बहुत अधिक प्रभावशाली हो गया था) में एक न एक कारण से सदैव तनातनी बनी रहती थी। इसी समय मुहम्मदशाह के एक प्रिय पात्र अमीर खाँ उम्दतुल मुल्क को दरबार से निष्कासित कर दिया गया और उसे इलाहाबाद का सूबेदार बना कर राजधानी से दूर कर दिया गया। इलाहाबाद की सीमा अवध की सरहद से मिली हुई थी। अवध के सूबेदार सफदरजंग और अमीर खाँ में संयोगवश खूब पटने लगी और वे गहरे मित्र बन गये। कुछ समय बाद अमीर खाँ को फिर दिल्ली वापस बुला लिया गया। अमीर खाँ ने दिल्ली पहुँच कर अपने खास दुश्मन वजीर कमरुद्दीन खाँ से बदला लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अपनी योजना को सफल बनाने के लिये उसने अपने मित्र सफदरजंग से सहायता माँगी। उन दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों के फलस्वरूप बादशाह ने सफदरजंग को भी उसके सूबे से वापस बुला लिया। बादशाह ने सफदरजंग का स्वागत बड़ी इज्जत और खातिर के साथ किया और उसे 'मीर आतश के पद पर नियुक्त कर दिया। जब उसने दरबार में अपना सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया तो उसने अली मुहम्मद खाँ का विनाश करने की योजनाएँ बनाना शुरू कर दिया। अमीर अली खाँ तत्कालीन वजीर का मित्र था और साथ ही सम्बन्धी भी था। इधर बादशाह पर सफदरजंग का प्रभाव बढ़ता ही गया, यहाँ तक कि २५ जून १७४४ को बादशाह मुहम्मद शाह स्वयम् उससे मुलाकात करने के लिये उसके शिविर में गया था।

सफदर जंग ने अली मुहम्मद खाँ को निकाल बाहर करने के कार्य को, विभिन्न तर्कों से, इतना महत्व पूर्ण साबित किया कि अपने शासन काल में प्रथम अवसर पर बादशाह ने स्वयम् मुगल सेना का संचालन करने की उत्कंठा प्रगट की। अमीर खाँ और सफदर जंग ने इस कार्य के लिये बादशाह पर बहुत जोर डाला था, क्योंकि यदि इस अभियान में बादशाह उनके साथ न जाता तो वे अली मुहम्मद खाँ

का विवरण करने में पूरी तरह सफल नहीं हो सकते थे। कमरुद्दीन खाँ वजीर, पहले से ही अली मुहम्मद खाँ के पक्ष में था, साथ ही फर्रुखाबाद का नवाब कायम जंग भी, उसका साथ दे रहा था, नवाब की सेना भी पूर्ण रूप से शस्त्र सज्जित थी, तथा काफी संख्या में थी। लोनी के सुरक्षित इलाके में शिकार खेलने का बहाना लेकर बादशाह ने कूच कर दिया और २४ वीं मुहर्रम ११५८ हि० (२५ फरवरी १७४५) को जमुना नदी को पार किया। इस समय तक उसके इस अभियान के वास्तविक उद्देश्य को स्वयम् वजीर भी नहीं जानता था।

बीच की घटनाओं को छोड़ते हुये, अब मैं सीधे २१ वीं रबी (२२ मई १७५४ की घटना का वर्णन करूँगा। इसी दिन शाही सेना बदायूँ पहुँची थी। यही बादशाह मुहम्मद शाह ने कायम खाँ और सफदर जंग में मेल-मिलाप करा दिया और वे दोनों एक दूसरे के शिविरों में आने जाने लगे जिससे उनमें और भी घनिष्ठता उत्पन्न हो गई। इसी के साथ ही सफदर जंग अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये सक्रिय रहा और अभियान जारी रक्खा। जब अली मुहम्मद खाँ ने देखा कि शाही सेना इतने करीब आ पहुँची है, तो वह सशंकित हो गया और उसने अनबल में स्थित अपने वर्तमान निवास स्थान को छोड़ दिया और भाग कर बनगढ़ के मजबूत किले में शरण लिया। शाही सेना उसका पीछा करती हुई बनगढ़ भी पहुँच गई। इधर शाही शिविर में एक तरफ तो वजीर इस बात के लिये जिद कर रहा था कि यदि उसे मौका दिया जाय तो वह अली मुहम्मद खाँ को बादशाह के कदमों में पेश कर दे और दूसरी तरफ सफदर जंग इस बात की सिफारिश कर रहा था कि यदि यह कार्य उसके सिपुर्द कर दिया जाय तो वह सैन्य शक्ति से इस बागी को कुचल डालेगा। अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने के लिये सफदर जंग ने अवध से भी फौज मँगाने का प्रबन्ध कर लिया। उसने अपने बख्शी नवल राय को हुक्म दे दिया कि वह अवध की फौज ले कर शाहजहाँ पुर होते हुये बनगढ़ की ओर कूच कर दे।

इस समय शाही सेना ने बनगढ़ को चारों ओर से घेर लिया था। कल्याण सिंह कुमायूँ का राजा था और हाल ही में वह रुहेलों द्वारा बहुत तंग किया गया था, इसलिये वह भी अली मुहम्मद खाँ के खिलाफ मुगल सेना का संग देने के लिये प्रस्तुत हो गया। बनगढ़ के चारों ओर बाँसों का बहुत घना जंगल था, 'जिसमें से हवा भी मुश्किल से ही गुजर सकती थी।" इस घने वन को काटने के लिये बादशाह ने असंख्य मजदूरों और कुल्हाड़ा चलाने वालों को तैनात कर दिया। परन्तु सैनिक और सेना नायक देर होते देख कर और बनगढ़ की मजबूती को देख कर पहले से ही हतोत्साह हो गये थे। इनमें बहुत उमरा ऐसे थे जिन्होंने दरबार में अनेक वर्ष

गुजार दिये थे, परन्तु उन्होंने अभी तक उन्होंने अभी तक खुला युद्ध होते नहीं देखा था और बहुतों ने तो तोप की आवाज भी नहीं सुनी थी। वे सभी वजीर को ही दोष देने लगे, जो उन्हें ऐसे कार्य के लिये ले आया था, जिसमें स्वयम् उसकी भी रुचि नहीं थी। इन सब कारणों और दोषारोपों से कमरुद्दीन खाँ बहुत परेशान हो गया, यहाँ तक कि हयातुल्ला खाँ, हिजबर जंग, (सैफुद्दौला चवारियह खाँ का लड़का और वजीर का दामाद था) इस बात के लिए जिद करने लगा कि उसे तुरन्त आगे बढ़ने की आज्ञा दी जाय और वह इस अभियान के उद्देश्य को पूरा करे।

अपने खिलाफ इतनी लम्बी चौड़ी तैयारी देख कर के भी अली मुहम्मद खाँ अपनी स्थिति पप जमा ही रहा। यद्यपि खुशहाल चन्द शाही सेना का अफसर था, फिर भी उसने अली मुहम्मद खाँ के साहस की बहुत प्रशन्सा की है। इसी के साथ साथ वह रुहेल खण्ड के समृद्धिशाली और शान्तिपूर्ण जीवन से बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। ठसने यहाँ के लहलहाते खेतों, अच्छी फसलों व सन्तुष्ट किसानों की बहुत अधिक तारीफ किया है। रुहेलों के क्षेत्र में चोरी, लूट खसोट और डाकाजनी आदि का नाम भी उस समय नहीं सुनाई पड़ता था। इस शान्ति तथा समृद्धि का एक मात्र कारण था वहाँ का शक्तिशाली और बुद्धिमान शासक जिसकी कड़ाई और न्यायप्रियता से पूरा क्षेत्र सुधर गया था।

एक दिन अली मुहम्मद खाँ किले से बाहर निकला और उसी समय सफदर जंग के अधीनस्थ एक अफसर ने अचानक उस पर आक्रमण कर दिया। यह देख कर सफदर जंग ने भी जंग की तैयारी कर ली और युद्ध छेड़ने के लिये बहुत अधिक उत्सुकता प्रकट करने लगा। मुहम्मद शाह को उसकी यह जल्द बाजी अनुचित प्रतीत हुई, क्योंकि उनके एक तरफ तो मुगल सेना के साथ स्वयम् वजीर खड़ा था और दूसरी तरफ कायम जंग अपने सज्जित पठानों के साथ खड़ा था, मुहम्मद शाह यह बात भली-भाँति समझ चुका था कि विपत्ति में इन दो में से किसी का भी भरोसा नहीं किया जा सकता था और बहुत सम्भव था कि वे इस गड़बड़ी में अली मुहम्मद खाँ का ही साथ देने लगते। इसी तरफ कई दिन बीत गये और युद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ। तब ऊब कर अली मुहम्मद खाँ ने शाही कैम्प की तरफ कुछ गोले फेंके, जिनमें कुछ तो उमरा लोगों के कैम्प में गिरे और कुछ गोले शाही शिविर के बिल्कुल नजदीक गिरे। मुहम्मद शाह ने वजीर को बुला भेजा और आगे की कार्रवाई के सम्बन्ध में उससे सलाह मशविरा करने लगा। उनके पास फौज की कमी तो थी नहीं। उनकी केवल एक ही टुकड़ी बनगढ़ पर अधिकार करने के लिये पर्याप्त थी परन्तु फिर भी किसी भी प्रकार की कार्रवाई नहीं की गई। एक बार, इसी दौरान में

मुहम्मद शाह ने तोपखाने के एक कायस्थ मुन्शी राय हेमराज सक्सेना से बहुत हल्के ढंग से पूछा, "यदि मैं इस किले को फतह करने का जिम्मा हम तुम्हारे ऊपर छोड़ दे तो तुम कितने समय में यह काम निबटा दोगे ?" कायस्थ मुन्शी ने कहा, "हुजूर का तोपखाना इतना ताकतवर है कि मैं बनगढ़ को महज चार घड़ी (११।२ घन्टे) में धूल में मिला सकता हूँ।" परन्तु इतनी शक्ति होते हुये भी शाही शिविर में लोग निराश हो कर यही विवाद करते रहे कि अब क्या किया जाय। इसी दौरान में नवल राय २०००० सवारों और ४०००० पैदल सैनिकों के साथ आ पहुँचा। उससे मिलने के लिये सफदर जंग दो कोस आगे निकल गया। नवल राय ने पूर्ण योजना के साथ बनगढ़ को घेर लिया और घबरा कर अली मुहम्मद खाँ को यह सोचने के लिये मजबूर होना पड़ा कि वह भागने का मार्ग ढूँढ़े अथवा आत्म समर्पण कर दे। अन्त में उसने इस सम्बन्ध में वजीर की राय लेनी चाही। वजीर ने अपने दूसरे लड़के मुईनुद्दौला (जो मीर मन्नू के नाम से अधिक विख्यात था) को उससे सारी बात समझने के लिये किले में भेज दिया। मीर मन्नू से यह वादा ले लेने के बाद कि, उसकी जान बख्शदी जायगी, अली मुहम्मद खाँ स्वयम् बादशाह के शिविर में तीसरी जमादीं ११५८ हि२ (३ जून १७४५) को हाजिर हो गया (खुशहाल चन्द, ब्रिटिश म्यूजियम ओरिजिनल १८४४, फोलियों १६४ ए-१८१ बी)।

आगरा—जनवरी सन् १७६१ ई० में, अहमदशाह अब्दाली के हाथों पराजित होने के पश्चात् मराठे कुछ काल के लिये उत्तरी भारत से तिरोहित हो गये। उस समय इस क्षेत्र में सूरज मल जाट (भरतपुर का राजा) ही दिल्ली के फाटक से लेकर चम्बल नदी के किनारे तक एक मात्र प्रबल शासक रह गया। इस समय मुगलों के हाथ में केवल आगरे का किला ही अन्तिम शक्ति केन्द्र के रूप में बचा रह गया था। १७६३ ई० में सूरज मल ने इस किले को भी मुगलों के हाथ से छीन लेने का निश्चय किया। उस समय आगरा के किले में स्थित सेना में बड़ी दुर्व्यवस्था फैली हुई थी। १७५४ ई२ से ही सरदारों और सैनिकों को वेतन नहीं मिला था और वे किले में रक्खी हुई मैगजीनों को बेच कर ही किसी प्रकार अपना गुजारा कर रहे थे। जाट राजा सूरज मल ने सोच लिया कि ऐसी सेना से निपटने में अधिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ेगी। उसने कूच कर दिया, परन्तु उसने मुगलों को भुलावा देने के लिये यह प्रचार किया कि उसका इरादा जमुना नदी को पार करके उत्तर की ओर बढ़ने का है। इसी समय मार्ग में से ही अचानक ही वह घूम पड़ा और आगरा को घेर लिया। इतने पर भी, यदि किले का सेना नायक बहादुर और अनुभवी होता तो जाट कभी भी किले पर अधिकार नहीं कर सकते थे। इस समय मुगलों का आगरा स्थित सेना नायक बहुत ही कम उम्र का था और वह अपने अधीनस्थ एक बुजदिल और लोभी सरदार जाटों का घेरा देख कर विश्वासघात कर दिया और

जाटों का खुला स्वागत किया और किले को सूरज मल के हाथ में सौंप दिया। यह घेरा कुल २० दिन तक पड़ा रहा। परन्तु किले की दीवालों को कोई भी हानि न पहुँची, नगर निवासियों को जाटों की लूट पाट का शिकार होना पड़ा। कहा जाता है कि इस अवसर पर सूरज मल इस नगर से पचास लाख रुपया ले गया था। "जब सूरज मल ने आगरा पर अधिकार किया, उस समय इस नगर में मुगल साम्राज्य की लगभग समस्त शक्तिशाली तोपें गोला बारूद और गोलियाँ और अन्य युद्ध सामग्रियाँ थी, जो कि काफी वर्षों से एकत्रित की जा रही थीं। प्रत्येक चीज उठा ले जाई गई। बढ़िया-बढ़िया तोपें भरतपुर के किलों में रखवा दी गईं। दो वर्ष पहले ही (१७६४) जवाहिर सिंह ने अधिकांश घरों को गिरवा दिया था (जैसा कि पहले ही इलाहाबाद में किया जा चुका था) ताकि किले की तोपों का मार्ग खुला रहे। परन्तु इस किले की दीवारें और बुर्ज बहुत ऊँचे हैं। घरों के खण्डहरों का मोर्चों के रूप में अच्छा प्रयोग किया जा सकता है···वर्तमान सेना नायक एवम् अन्य जाट सरदारों को युद्ध का बिल्कुल अनुभव नहीं है। वे नीची जाति के लोग है और उनकी प्रगति का श्रेय युवक जवाहिर सिंह के प्रति उनकी भक्ति एवं विश्वास को दिया जाना चाहिये।" ("ओमें कलेक्शन्स" पृ० ४३०३)।

———

पच्चीसवाँ अध्याय

सामान्य विवरण निष्कर्ष

मुगलों को युद्ध प्रणाली एवम् उनके सैन्य संगठन के अध्ययन से हमें बीते हुए समय समय का ज्ञान ही नहीं होता वल्कि कुछ अन्य दृष्टियों से भी इसका महत्व है। इस काल के इतिहास का मैं जितना भी अध्ययन करता हूँ, मेरा यह विचार उतना ही दृढ़ होता जाता है कि मुगल शासन के पतन का यदि एकमात्र नहीं; तो कम से कम एक मुख्य कारण था उनके सैन्य संगठन की अक्षमता। इस दोष के मुकाबले में मुगल शासकों की कमियाँ और कमजोरियाँ नाम मात्र का ही महत्व रखती है। उनकी अर्थ-व्यवस्था तथा न्याय व्यवस्था उस समय के लोगों की प्रवृत्तियों के अनुरूप ही था, उन्हें महसूस ही नहीं होता था कि इस व्यवस्था के कुछ सुधार या परिवर्तन की आवश्यकता है। जहां तक मुगलों की न्याय एवम् अर्थ व्यवस्था का प्रश्न है, उसी ढर्रे पर उनका साम्राज्य शताब्दियों तक कायम रह सकता था। परन्तु अपने पतन के बहुत पहले ही, मुगल शासन के केन्द्र में शक्ति रह ही नहीं गई थी और बादशाह अपने महत्वपूर्ण और प्रभावशाली सरदारों के हाथ की कठपुतली बन गए थे। औरंगजेब के बाद ही, मुगल साम्राज्य की राजधानी इतनी जर्जर और शक्तिहीन हो गई थी, कि उसके विनाश के के लिए किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता नहीं थी। मुगल साम्राज्य की नींव को खोदने के लिए किसी भी क्रूर अफगान या फारसी बिजेताओं, या नादिर या अहमद अब्दाली की आवश्यकता नहीं थी। मुगल सरकार जैसी डगमगाती काया को भूमिसात करने के लिए किसी भी विदेशी शक्ति, या क्लाइव या डूप्ले का प्रगट होना जरूरी नहीं था। इन विजेताओं के रंगमंच पर आने के बहुत पहले ही मुगल वंश की ज्योति क्षीण हो चुकी थी और पतन के कगार पर खड़ी थी। यदि ये विदेशी विजेता भारत में न आए होते तब भी मुगल साम्राज्य विनाश से नहीं बच सकता था। कभी भी लुटेरे मराठों अथवा घुमक्कड़ सिक्ख मुगल शासन का बिध्वन्स करके अकबर और शाहजहां के तख्त पर बैठ सकते थे। यह एक बहुत ही दिलचस्प एवम् उत्सुकता जगाने वाली समस्या है कि आखिर क्या कारण थे कि जो साम्राज्य तलवार के बल पर ही स्थापित किया गया था और जिसका विस्तार मुगलों की सैनिक शक्ति की साख के कारण ही हुआ था, उसकी सैनिक शक्ति इतनी क्षीण हो गई कि इसी कारण उस वंश का विनाश

हो गया। आखिर यह कैसे सम्भव हुआ कि जो चीज तलवार के बल पर हासिल की गई थी, वह तलवार के बल पर ही छिन गई ?

मुगल सैनिकों के हृदय में बादशाह के अस्तित्व के साथ कोई ममता या स्वामि भक्ति नहीं थी; न तो उनमें देश भक्ति की भावना ही और न वे अपने देश के प्रति अपना कोई कर्तव्य ही महसूस करते थे। कुछ सीमा तक इस्लाम के प्रभाव से बादशाह उनका सहयोग व प्रेम प्राप्त करता था। परन्तु एक ऐसे देश में, जहाँ तक भी अधिकाँश आबादी हिन्दुओं की थी, इस भावना का फैसना, कि यह राज्य इस्लाम वालों का है, साम्राज्य के लिए जितनी लाभदायक थी, उससे कहीं अधिक हानिकारक थी। कुछ हद तक जनता सत्तारूढ़ परिवार का सम्मान करते थे, परन्तु उनका यह सम्मान स्वयम् उनके व्यक्तित्व अथवा गुणों के बदले में नहीं किया जाता था, बल्कि वे बाबर तथा अकबर के नाम पर ही और उनका वंशज होने के कारण सम्मान के पात्र समझे जाते थे। परन्तु औरंगजेब जब तख्त पर बैठा तो उसने अपनी कट्टर नीति के कारण बहादुर राजपूतों के साथ साथ हिन्दुस्तान की हिन्दू जनता को भी अपना दुश्मन बना लिया था। इस प्रकार उस समय के सिपाही केवल रोजगार और धन के लोभ में नौकरी करते थे; वे जितना वेतन पाते थे, उतना ही कार्य करते थे। इसलिए जब वे बुरा समय या संकटकाल देखते थे, तुरन्त ही नौकरी छोड़कर भाग जाते, अथवा अधिक वेतन देनेवाले किसी अन्य शासक या सरदार की सेना में सम्मिलित होने के लिए सदैव तैयार रहते थे। मुगल सेना ऐसे तमाम फारसियों, मध्य एशियाइयों तथा अफगानों से भरी हुई थी; जो अपनी तकदीर आजमाने के लिए ही हिन्दुस्तान आए थे और उनकी तलवार सदैव ऐसे शासकों की सेवा में तत्पर रहती थी जो उन्हें अधिकतम वेतन दे।

जिस सिद्धान्त पर मुगल सेना का संगठन किया गया था, उसके अनुसार सारी सेना का व्यवहार सेनानायक के आचार तथा चरित्र पर निर्भर होती थी। यदि वह एक योग्य और सफल सैनिक होता था, या कम-से-कम उसमें आदमियों को नियंत्रित करने के लिए नेतृत्व शक्ति भी रहती थी तो सारे कार्यकलाप ठीक ढङ्ग से होता था, सैनिकों में थोड़ा बहुत अनुशासन भी रहता था और किसी कार्य में पर्याप्त सीमा तक उनका सहयोग मिलता था। इस प्रकार, मुगल शासन को सम्भालने के लिए एक शक्तिशाली बादशाह की आवश्यकता सर्वप्रमुख थी; क्योंकि बादशाह ही एक ऐसा व्यक्ति था जो आदर्शों का पालन सैनिक तत्परता से करता था और वह भी सदैव उनसे अपने आदेश का पालन करा लेने की आशा नहीं रखता था। परन्तु १७०७ में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात कोई भी प्रभावशाली बादशाह मुगलवंश के तख्त पर नहीं बैठा और तैमूर का घराना लगभग प्रभावहीन हो गया। बादशाहो की निर्बलता से उभरा और सरदारों ने खुलकर अपने ईर्ष्या भाव तथा आपसी प्रतिद्वन्दिता का भरपूर प्रदर्शन करना प्रारम्भ कर

दिया। सभी बादशाहों के सरदार जैसे अभिसन्धियों और षड़यन्त्रों के अखाड़े हो जाते हैं, परन्तु पूर्वीय देशों में, प्रतीत होता है कि यह दोष अपनी चोटी तक पहुँच गया था और यहाँ की मिट्टी इस प्रकार की भावनाओं को प्रश्रय देने में अधिक उत्साहित दीख पड़ी। पूर्वीय जातियों के रक्त में, लगता है कि ईर्ष्या और षड़यन्त्र की भावना घुल मिल गई है और इस दृष्टि से कोई भी देश भारत का मुकाबिला करने का दावा नहीं कर सकता। जहां तक भारत के सम्बन्ध में मेरा अनुभव है, मुझे यही प्रतीत होता है कि यदि किसी व्यक्ति के पास दो सेवक हैं, तो उनमें दोनों यही प्रयत्न करेंगे कि वे दूसरे सेवक को किसी प्रकार मालिक की नजरों में गिराकर, स्वयम् मालिक के एकमात्र विश्वास पात्र हो जाय।

यह प्रवृत्ति बड़े-बड़े उमरा और सरदारों में बहुत अधिक मात्रा में थी, जिसके फलस्वरूप समय-समय पर साम्राज्य को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी। जैसा कि एक लेखक कहता है, उस समय के सरदार 'हसद पेशा' थे, जिनके व्यवसाय का आधार ही ईर्ष्या द्वेष था। जहां तक सेना सम्बन्धी मामलों का सवाल है, हमें ऐसे उदाहरणों को ढूँढ़ने में जरा भी कठिनाई नहीं होगी कि ईर्ष्या द्वेष की भावना तथा इसके परिणाम स्वरूप अस्तित्व ग्रहण करने वाली गद्दारी की कमीनी हरकतों के कारण समय-समय पर मुगलों को कितनी हानि उठानी पड़ी। १७०७ में जाजऊ की लड़ाई में जुल्फिकार खाँ ने आजमशाह को उसके भाग्य पर छोड़ दिया क्योंकि उसे आजमशाह के लड़के, शाहजादा बेदर-बख्त के अधीन तैनात किया गया था। इसी प्रकार १७१२ में आगरा के युद्ध में यही जुल्फिकार खाँ एक तरफ चुपचाप हाथ बांधे खड़ा रह गया था क्योंकि उसे आशा थी कि उसका प्रतिद्वन्दी जहांदरशाह का भाई स्वयम् ही विनष्ट हो जायगा और इसी लिए उसने उसे उसकी अकेली विजय का लाभ लेने के लिए अकेला छोड़ दिया। इसी युध्द में हमें गद्दारी का एक और उदाहरण मिलता है तूरानी टुकड़ी में, जिसे धन द्वारा विपक्षियों ने अपनी तरफ़ मिला लिया था। इस प्रकार के उदाहरणों की संख्या अनन्त है।

गद्दारी और विश्वासघात के अतिरिक्त, मुगलों के सैनिक पतन का एक अन्य कारण था, उनकी सेना का दोष पूर्ण संगठन। इसमें तो कोई भी सन्देह नहीं है कि मुगल सैनिक व्यक्तिगत रूप से काफी वीर होते थे। आखिर तब क्या वजह थी कि वे सदैव युध्द-क्षेत्र से भागने के लिए तैयार रहते थे और अपनी पराजय होने के जरा भी लक्षण दिखाई पड़ते ही भाग निकलने का मार्ग ढूँढ़ने लगते थे? उनके वीर सैनिकों के इस कायरतापूर्ण कार्य का एकमात्र कारण यह था कि युध्द में उन्हें लाभ तो कुछ नहीं होता था, परन्तु हानि कभी-कभी बहुत अधिक हो जाती थी। प्रत्येक सवार को अपना निजी घोड़ा रखना पड़ता था और यदि युध्द में दुर्भाग्यवश उसका घोड़ा मर जाता था,

तो सवार बिना मारे ही मर जाता था, क्योंकि इस घोड़े के बदले में उसे दूसरा घोड़ा अपने ही धन से खरीदना पड़ता था। जैसा कि १८ वीं शताब्दी के मध्य का एक यूरोपियन इतिहासकार लिखता है : "उनकी सवार सेना (जो बहुत सम्मानित समझी जाती है और अच्छा वेतन प्राप्त करती है) यद्यपि गुत्थमगुत्था वाली लड़ाई और तलवार बाजी में किसी से पीछे नहीं है परन्तु वे अपने घोड़ों को हमारी तोपों के सामने लाने में हिचकिचाहट प्रगट करते हैं, क्योंकि वे अपने जीवन को भी उतना महत्व नहीं देते जितना अपनी एकमात्र सम्पत्ति घोड़े को, जिस पर कि वे सवारी करते हैं" (कैम्ब्रिज, "वार", भूमिका, पृ० ८)। मूर (पृ० २०४) ने भी १७९१–९२ में इस बात को लक्ष्य किया कि मराठा सैनिक भी इसी कारण से ऐसा ही व्यवहार करते थे) "प्रायः देखा जाता है कि वे सीधा धावा (चार्ज) करने में हिचकिचाते हैं, ऐसा वे व्यक्तिगत साहस व वीरता के अभाव के कारण नहीं, बल्कि इस वजह से करते हैं कि मराठा सेना के अधिकांश घोड़े, सवारों की निजी सम्पत्ति होते हैं और सैनिक अपने घोड़ों की नस्ल के अनुसार एक निश्चित मासिक वेतन पाते हैं। यदि किसी सैनिक का घोड़ा मर जाता है या घायल हो जाता है, तो सरकार द्वारा उसे कोई भी मुआवजा नहीं दिया जाता; फलस्वरूप वह अपने घोड़े, तथा साथ ही घोड़े के लिए मिलने वाले भत्ते से भी हाथ धो बैठता है। इसलिए, इन दोनों ही हानियों से बचने के लिए वह पूर्ण रूप से सतर्क रहता है", (विशेष विवरण के लिए देखिए 'सीर', भाग १, पृ० ३१५, नोट २५०, ओर्मे—'हिस्टाटिकल फ्रैगमेन्ट्स' पृ० ४१८, फिट्जक्लेरेन्स 'जर्नल' पृ० ७३, ब्लैकर 'वार' पृ० २१)।

परन्तु व्यक्तिगत हानि की भावना के फलस्वरूप पैदा होने वाली कायरता और उत्साह-हीनता के साथ-साथ, हम यह भी देखते हैं कि सिपाही व्यक्तिगत रूप से स्वयम् को बादशाह अथवा साम्राज्य के प्रति किसी भी दृष्टिकोण से उत्तरदायी नहीं समझते थे और न राज्य के हितों को अपना हित मानते थे। वे स्वयम् को अपने सरदार के अधीन समझते थे और अपने सरदार की आज्ञा ही उनके लिए अन्तिम होती थी। यदि कोई सरदार किसी शाही कार्य में रोड़ा अटकाना चाहता था, अथवा दुश्मनों से मिल जाता था, वह मैदान से भागने के लिए मजबूर हो जाता था, अथवा युध्द क्षेत्र में मारा जाता था, तो उसके अधीनस्थ सिपाही तुरन्त ही बिखर जाते थे। जब उनका सरदार युध्द क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता था तो सिपाही युध्द में कोई रुचि अथवा उत्साह नहीं प्रदर्शित करते थे, और ऐसी स्थिति में उनका एकमात्र उद्देश्य हो जाता था, स्वयम् अपनी और अपने घोड़े की जान बचाना। इस सम्बन्ध में असंख्य उदाहरण उपलब्ध हैं। जैसे सैय्यद हुसेन अली खाँ ने मुहम्मदशाह की तरफ से एक इतनी विशाल सेना के साथ आगरा से कूच किया, जितनी बड़ी सेना उस समय तक किसी भी मुगल सेनानायक द्वारा एकत्रित

नहीं की गई थी। कूच करने के एक दो सप्ताह बाद अचानक गुप्त रूप से उसका कत्ल कर दिया गया। उसके कत्ल के मुश्किल से एक दो घण्टे बाद ही, उसकी विशाल सेना का कोई भी चिन्ह नहीं रह गया, उसका शिविर लूट लिया गया और उसके शिविर को भी फूँक दिया गया।

यह हम पहले भी देख चुके हैं, कि प्रायः युध्द का निर्णय किसी सेना के मुख्य सेनापति के भाग जाने अथवा मारे जाने के आधार पर होता था। लाहौर के पास, जब शाहजादा अजीम-उश-शहान का हाथी उसे लेकर मैदान से, बिगड़कर, भाग खड़ा हुआ और उसे ले जाकर रावी नदी में डुबो दिया, तो उसकी सेना तुरन्त अस्त-व्यस्त हो गई, और उसका खजाना लूट लिया गया। इसी प्रकार जब जहांदरशाह आगरा के युध्द क्षेत्र से भाग निकला, तो उसकी सेना ने उसी दिन पराजय मान ली, यद्यपि जुल्फिकार खाँ की शक्तिशाली टुकड़ी अब भी मोर्चा लेने के लिए पर्याप्त थी। युध्द के मैदान में विश्वासघात करके अलग हो जाने के विषय में भी अनन्त उदाहरण दिए जा सकते हैं। हिन्दुस्तानी फौजों की सुस्ती और ढिलाई का अंग्रेजों को काफी अनुभव हो गया था और विशेषकर ऐसे अवसरों से, जब कि हिन्दुस्तानी फौजों ने अंग्रेजों का साथ दिया था। उदाहरण के लिए १७७४ में रुहेल खण्ड में, जब कि शुजाउद्दौला ने सारा कार्य अपने अंग्रेज मित्रों के हाथ में ही छोड़ दिया था, या जब १७९२ में दक्षिण में मराठों और हैदराबाद की फौजों ने अंग्रेजों के साथ अभियान किया था। दोनों ही अवसरों पर हिन्दुस्तानी टुकड़ियों से कोई लाभ प्राप्त होने के बदले में अवरोध और हानियां ही अधिक मिली थीं। १८०३ में निजाम की सवार सेना अंग्रेजों के लिए एकदम व्यर्थ साबित हुई थी और १८१७ के अभियान में अनियमित सवार दस्तों का आचरण बहुत ही असन्तोष प्रद था। आवश्यक सहायक सेना के रूप में वे बहुत हानिकारक साबित होते थे और जितना दाना भूसा वे खपा डालते थे, उसका एक अंश भी अपने कार्यों द्वारा चुकता नहीं करते थे (ब्लैकर पृ० ३४८)।

निजाम की सेना का वर्णन करते हुए, १८ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण का एक लेखक कहता है'', एक सेना की दृष्टि से, उनकी व्यवस्था जितनी ही व्ययसाध्य है उतनी ही दोष पूर्ण भी है और सैनिक कार्रवाइयों की दृष्टि से एकदम अयोग्य है वे किसी भी स्थान पर अव्यवस्थित ढंग से, कैम्प डाल देते हैं और आगे, पीछे तथा अगल-बगल की दिशाओं को सुरक्षित रखने पर कोई ध्यान नहीं देते, इसी प्रकार की अन्य लापरवाहियों के कारण रात में इन्हें आसानी से नष्ट किया जा सकता है—संक्षेप में रोबीले और सुन्दर घोड़ों पर सवार इन सैनिको की टुकड़ियों का इससे अधिक कोई महत्व नहीं होता कि वे अपने सरदार की शोभा को बढ़ाते हैं जो उनके बीच में चलते है, वह हाथी पर सवार होता है, एक दूसरे हाथी पर उसकी पताकाएँ फहराती हुई चलती

हैं और आगे-आगे चोबदार उसका गुणगान करते हुए चलते हैं।" सेनाओं को कूच करने के लिए कोई हुक्म नही दिया जाता था। शाही दरबार में प्रत्येक सरदार अपना एक-एक प्रतिनिधि तैनात कर दिया करते थे, जो रोज दरबार में जाता था और अपने सरदार को दरबार की कार्रवाइयों से अवगत कराता था। इसी प्रतिनिधि से उसे बादशाह द्वारा कूच करने के हुक्म की भी खबर मिलती थी। सरकारी ओहदों के लिए गुणों एवम् साहस को अधिक महत्व नहीं दिया जाता था, बल्कि उनकी प्राप्ति पैतृक ढंग से या सिफारिफ से होती थी, इसमें इन दो चीजों के अतिरिक्त, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिद्वन्दिता, षड्यंत्र आदि भी उचित भाग लेते थे (ओसले—'ओरियन्टल कलेक्शन्स", १७९५, भाग १, पृ० २१–३२)।

इसी प्रकार की आलोचनाएँ, राबर्ट ओर्मे द्वारा लिखित हिस्टारिकल फैगमेन्ट्स (पृ० ४१७–४२०) के युध्द वाले अध्याय में भी मिलती हैं। संक्षेप में, व्यक्तिगत साहस को छोड़कर, किसी भी सैनिक संगठन में जितने भी दोष सम्भव हैं, वे सब के सब मुगलों की सैन्य व्यवस्था में वर्तमान थे जैसे अनुशासन हीनता, सहयोग का अभाव, ऐय्याशी आदतें, निष्क्रियता, अक्षम नेतृत्व, कैम्प आदि की वजनी सामग्रियां और भारी हथियार। वास्तव में माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन ने अपनी 'हिस्ट्री' में मुगल सेना के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष दिया है, वह प्रत्येक दृष्टि से सही प्रतीत होता है। वह लिखता है : "उनकी घुड़सवार सेना किसी भी उत्सव और जुलूस की शोभा बढ़ाने की दृष्टि से अत्यन्त ही प्रशंसनीय थी, वे बँधे हुए युध्द में लड़ने की दृष्टि से भी आलोचना के योग्य नहीं थे, परन्तु वे किसी दीर्घकालीन कार्य में व्यस्त रह सकने में कुछ असमर्थ थे और लगातार कुछ समय तक कठिनाई और थकावट को सहने में तो बिल्कुल ही अयोग्य और असमर्थ सिध्द होते थे"।
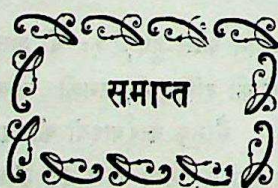
सहायक ग्रंथों की सूची

(क) फारसी (प्रकाशित ग्रन्थ)

१—"दस्तूर उल इन्शा", लेखक, यार मुहम्मद (११७० हि०); कलकत्ता १२७० हि० (१८५३)।

२—'फिरिश्तह' (मुहम्मद कासिम; हिन्दूशाह का लड़का), 'गुलशन-ए-इब्राहीमी' १२८१ हि० (१८६४) में लखनऊ में प्रकाशित।

३—'बादशाहनामा', लेखक, अब्दुलहमीद, २ भाग, कलकत्ता, १८६७-६८।

४—'मुन्तखाब-उत-तवारीख'—अब्दुल कादिर बदायूंनी, १००४ हि०, ३ भाग, कलकत्ता, १८३८।

५—'आलमगीर-नामा—मुहम्मद काजिम, कलकत्ता, १८६८।

६—'म-आसिर-ए-आलमगीरी'—मुहम्मद सकी, मुस्तैद खाँ, ११२२ हि० कलकत्ता, १८७१।

७—'मुन्तखाब-उल-लुबाब'—खाफी खाँ, ११३७ हि०, २ भाग, कलकत्ता, १८७४।

८—'तारीख-ए-जहाँ कुशा-ए-नादिरी'—मिरजा महदी खाँ बम्बई, १२६२ हि० (१८७५)।

९—अकबरनामा'—अबुल फजल, ३ भाग, कलकत्ता, १८७३-१८८६, संस्करण, लखनऊ, १८८३।

१०—'मीरात-ए-अहमदी'—अली मुहम्मद खाँ, ११७४ में रचित, बम्बई, १३०७ हि० (१८८६)।

११—'बाबरनामा' या 'तूजुक-ए-बाबरी'—संस्करण बम्बई, १३०८ हि० (१८९०)।

१२—'म-आसिर-उल-उमरा'—शाहनवाज खाँ, ३ भाग कलकत्ता, १८८८-९१।

१३—'मुजमिल-उत-तारीख बाद नादिरिया'—अब्दुल हसन, मुहम्मद अमीन (११९६ हि० में रचित) आस्कर मेन द्वारा सम्पादित, लीडेन, १८९१, और १८९६।

(ख) हिन्दी, (प्रकाशित ग्रन्थ)

१—'छत्र प्रकाश'—रचयिता, लाल कवि, कैप्टेन डब्ल्यू प्राइस द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १८२९।

(ग) फारसी (पाण्डुलिपियाँ)

१—जौहर आफताबची—'तजकिरात-उत-वाकियात, इरविन, पाण्डुलिपि सं० ४३, ९९५ हि० ।

२—निजामुद्दीन—'तबकात-ए-अकबर शाही', ब्रिटिश म्यूजियम, अतिरिक्त (एडीशनल) पाण्डुलिपि संख्या ६५४३, १००२ हि० ।

३—'दस्तूर उल अम्ल', ब्रिटिश म्यूजियम संख्या १६४१ (११४८ हि०) ।

४— ,, ,, ,, ,, ,, ६५९८

५— ,, ,, ,, ,, ,, ६५९९

६— ,, ,, ,, ,, ,, १६९०

७—कामराज,-'आजम-उल-हर्ब', ब्रि० म्यू० १८९९ (१११९ हि०) ।

८—दानिशमन्द खाँ – 'बहादुरशाह नामा', ब्रि० म्यू० ओरियन्टल, संख्या २४ (११२० हि०) ।

९—भीमसेन–'नुस्खह-ए-दिलकुशा', ब्रि० म्यू० ओरियन्टल, संख्या २३ (११२० हि०) ।

१०—जहाँदर शाह का इतिहास— ,, ,, ,, ,, ३६१० (११२४ हि०) ।

११—मुहम्मद मुनीम जफराबादी—'फर्रूखनामा', इन्डिया आफिस लाइब्रेरी संख्या १८७६ (११२८ हि०) ।

१२—हिदायत-उल्ला बहारी—'हिदायतुल कुवैद', इरविन, पाण्डुलिपि संख्या २५१ (११२८ हि०) ।

१३—मिरजा मुहम्मद (मुत-आमद खाँ का लड़का); 'तजकिरह', इन्डिया आफिस लाइब्रेरी संख्या ५० (११३१ हि०) ।

१४—कामराज-'इबारतनामा'—इन्डिया आफिस लाइब्रेरी, संख्या १५३४ (११३१ हि०) ।

१५—मुहम्मद अहसन, ईजाद, समानवी—'फर्रूखसीयर नामा', ब्रि० म्यू० ओरियन्टल संख्या २५ और इरविन, पाण्डुलिपि संख्या ११३, (दोनों अपूर्ण हैं) ११३१ हि० ।

१६—मुहम्मद कासिम लाहौरी—'इबारत नामा', इन्डिया आफिस लाइब्रेरी, संख्या १९४ (११३३ हि०) ।

१७—शिवदास—'शाहनामा, मनव्वर-ए-कलाम', ब्रि० म्यू० ओरि० २६ (११३४ हि०) ।

१८—छबीला रामनागर, 'अजायब-उल-आफाक' के खतूत, ब्रि० म्यू० ओरि० संख्या १७७६ (११३४ हि०) ।

१९—गुलाम मुहीउद्दीन खाँ—'फतूहात-नामद-ए-समदी', ब्रि० म्यू० ओरि० १८७०; (११३५ हि०)।

२०—कामवर खाँ, 'तजकिरात-उस-सलातीन-ए-चगताइ यह', हरविन पाण्डु० संख्या ७०। (११३७ हि०)।

२१—राय बिहारी राम नागर—'गुलदस्त-ए-बहार' इरविन, पाण्डु-संख्या १७६ (१०३९ हि०)।

२२—मुहम्मद कासिम औरंगाबादी—''अहवाल-इल खवाकीन', ब्रि० म्यू० एडीशनल; २६२४४ (११४७ हि०)।

२३—यहिया खाँ—'तजकिरात-उल मुलुक', इन्डिया आफिस लायब्रेरी, संख्या ११४९, (११४९ हि०)।

२४—रुस्तम अली—'तारीख-ए-हिन्दी', ब्रि० म्यू० ओरि० १६२८ (११४९ हि०)।

२५—मुहम्मद शफी वारिद—'मिरात-ए-बारिदात' ब्रि० म्यू० संख्या ६५७९ (११४९ हि०)।

२६—'मालूमात-उल-आफाक', ब्रि० म्यू० १७४१, (११५० हि०)।

२७—'रिसालह-ए-मुहम्मद शाही', ब्रि० म्यू० ओरि० १८० (११५० हि०)।

२८—'रिसालह ए-तीर-ओ-कमान', ब्रि० म्यू० एडीशनल पाण्डु संख्या ५६२९ (१०५० हि०)।

२९—'जौहर-ए-समसाम'—ब्रि० म्यू० ओरि० १८९८, और कर्नल फुलर का अनुवाद, ब्रि० म्यू० ३०७८४ (११५२ हि०)।

३०—आनन्द राम मुखलिस—'मिरात-उल-इस्तिलाह', ब्रि० म्यू० ओरि० १८१३ (११५७ हि०)।

३१—साहिब राय—'खुजिस्तह-कलाम', इरविन पाण्डु० संख्या १८ (११५९ हि०)।

३२—खुशहाल चन्द—'नादिर-उज-जमानी', ब्रि० म्यू० ओरि० १८४४, एडीशनल २४०२७, और बर्लिन पाण्डु० संख्या ४६५ (कैट० पृ० ४७६), (११६१ हि०)।

३३—आनन्द राम मुखलिस—११५९-६१ हि० के वाकियात, इन्डिथा आफिस लायब्रेरी १६१२ (११६१ हि० ।

३४—मिरजा मुहम्मद—'तारीख-ए-मुहम्मदी', ब्रि० म्यू० ओरि० १८२४ और इरविन पाण्डु० संख्या १४३ (११६३ हि०)।

३५—'तारीख-ए-अहमदशाही', ब्रि० म्यू० ओरि० संख्या २००५ (११६७ हि०)।

३६—'महमूद-उल-मुंशी—'तारीख-ए-अहमदशाही', ब्रि० म्यू० ओरि० पाण्डु० संख्या १९६ (११७१ हि०)

३७—राय छतरमन— चहार गुलशन', इरविन पाण्डु० संख्या ११८ (११७३ हि०)।

३८—शाकिर खाँ—'गुलशन-ए-सादिक', ,, ,, ,, ६६ (११७४ हि०)।

३९—अली मुहम्मद खाँ,—''मिरात-ए-अहमदी', ब्रि० म्यू० ओरि० एडीशनल ६५८० (११७४ हि०)।

४०—'तारीख-ए-आलमगीर—सानी', ब्रि० म्यू० ओरि० १७४६ (११७४ हि०)।

४१—मुहम्मद अली बुरहानपुरी—'मिरात-उस-सफा' ब्रि० म्यू० एडी० पाण्डु० संख्या ए-६५३६, ६५४० (११७६ हि०)।

४२—दलपतसिंह—'मलाहत-ए-मकाल' ब्रि० म्यू० ओरि० पाण्डु० संख्या १८२८ (११८१ हि०)।

४३—सैय्यद मुहम्मद बिलग्रामी, 'तब्सीरत-उन-नाजिरीन', इरविन पाण्डु० संख्या ३४ (११८२ हि०)।

४४—अब्दुल लतीफ—'अहमदनामा', इरविन, पाण्डु० संख्या १०० (११८४ हि०)।

४५—अशाब, 'शहादत-ए-फर्रुखसीयर व जुलूस-ए-मुहम्मद शाह'—मिरजा मुहम्मद बख्श, अशाब द्वारा लिखित; ब्रि० म्यू० ओरि० १८३२ (११९६ हि०)।

४६—गुलामहसन बिलग्रामी (समीन)—'तजकिरह' इरविन पाण्डु० संख्या ११३ (११९७ हि०)।

४७—गुलामहसन बिलग्रामी (समीन) 'शरायफ-ए-उस्मानी', इरविन, पाण्डु० संख्या २७ (१२०० हि०)।

४८—गुलामअली खाँ—'मुकद्दमा ए-शाह आलमनामा', ब्रि० म्यू० एडी० २४०२८ (१२०४ हि०)।

४९—खैरुद्दीन मुहम्मद—'इबारतनामा', इरविन पाण्डु० संख्या १५ (३ भाग); (१२०४ हि०)।

५०—'वकाई-ए दियार-ए-मगरिब', इरविन पाण्डु० संख्या १८६ (१२१३ हि०)।

५१—इमामुद्दीन चिश्ती, 'हुसेन-शाही', ब्रि० म्यू० ओरि० संख्या १६६२ (१२१३ हि०)।

५२—मुहम्मद उम्र—'सिवानि-ए-खिजरी', इरविन पाण्डु० संख्या ८० (१२१३-१४ हि०)।

५३—मुहम्मद अली खाँ, 'तारीख-ए-मुजफ्फरी', इरविन पाण्डु० संख्या २५ (१२१५-१६ हि०)।

५४—रुस्तम अली बिजनौरी—'रुहेलों की तारीख' ब्रि० म्यू० एडी० पाण्डु० संख्या २३२८४ (१८०३ ई०, उर्दू में।

५५—मुहब्बत खाँ (फैज-अता खां दाऊद खां जी का लड़का)—'अखबार-ए-मुहब्बत', इरविन पाण्डु० संख्या २१ (१२२० हि०)।

५६—चित्रों का संग्रह, ब्रि० म्यू० ओरि० संख्या ३७५ (१८३५ ई०)।

(घ) यूरोपियन भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकें और पाण्डुलिपियाँ :—

१—जेम्स फ्रेजर 'हिस्ट्री आव नादिरशाह, दूसरा संस्करण, १७४२।

२—आर० ओ० कैम्ब्रिज—'एकाउन्ट आव दि वार इन इन्डिया, १७५०-६० १७६१।

३—जोनस हैनवे—रिवोल्यूशन्स आव परशिया', तीसरा संस्करण, १७६२।

४—पी० एम० अन्क्वेटिल डुपरन 'जेन्द अवेस्ता', ३ भाग, पेरिस, १७७१।

५—मिनिट्स आव सेलेक्ट कामिटी, हाउस आव कामन्स १७७२' = (टी० इवान्स), लन्दन, १७७२।

६—जे० जेड-हॉलवेल—'इन्डिया ट्रैक्ट्स' तीसरा संस्करण, १७७४।

७—सी—'लाइफ आव राबर्ट लार्ड क्लाइव', ४ भाग, १७७५ ?

८—डेवी और हवाइट, 'इन्स्टीच्यूटस आव तैमूर' आक्सफर्ड, १७८३।

९—'एशियाटिक मिसेलेनी'—२ भाग कलकत्ता, १७८५-८६।

१०—'सीर मुताखरीन' (१७६५ हि०) नाटेमनस (हाजी मुस्तफा) द्वारा अनूदित, ३ भाग कलकत्ता, १७८६।

११—एशियाटिक मिसेलेनी', ३ भाग, कलकत्ता १७८८, नया ४६ कलकत्ता, १७८६।

१२—जे० रेनेल, 'मेम्बावर आव ए मैंप आव हिन्दुस्तान', तीसरा संस्करण १७६३।

१३—ई० मूर—'नैरेटिव आव कैप्टेन लिटिल्स डिटैचमेन्ट' १७६४।

१४—जोनाथन स्काट —'हिस्ट्री आव डेकन', भाग, कयूसवरी १७६४।

१५—ए० डालरिम्पुल, 'ओरिन्टल रिपर्तरी,' २ भाग १७६५-६५।

१६—डब्ल्यू० एच० टोन—ए लेटर श्रान द मराठा पीपुल' (१७६६) बम्बई, ९७६८।

१७—'ओरियन्टल मिसेलेनी,' कलकत्ता १७६८।

१८—डब्ल्यू फ्रैंकलिन—'हिस्ट्री आव द रेन आव शाह आलम' १७६८।

१६—सर डब्ल्यू ऊजले, 'ओरियन्टल कलेक्शन्स' ३ भाग, १७६७-१८००।

२०—आर० ओर्मे—'हिस्टारिकल फ्रैगमेन्ट्स आव दि मुगल इम्पायर', १८०५।

२१—डब्ल्यू फ्रैंकलिन—'मिलिटरी मेम्बायर आव मि० जार्ज टामस', ८७० १८०५।

२२—ल्यूइस एफ० स्मिथ—'राइज एण्ड आग्रेस आव दि रेगुलर कार्प्स,' ४ कलकत्ता १८०५।

२३—टामस विलियमसन—'ओरियन्टल फील्ड स्पोर्ट्स', फोलियो, १८०७।

२४—लेफ्टिनेन्ट कर्नल मार्क विल्क्स—'हिस्टारिकल स्केचेज आव द साउथ आव इन्डिया, ३ भाथ १८१०-१५१७।

२५—डब्ल्यू थार्न—'मेम्बायर आव द वार इन इन्डिया' १–६३-६ ४ १८१८।

२६—आर० एस० ह्वाइटवे, दि राइज पोर्चूगीज पावर इन इन्डिया १८६६।

२७—ले० वी० ब्लैकर-मेम्बायर आव आपरेशन्स इन इन्डिया', १८१७-१६, ४ १८२१।

२८—मेजर डी० प्राइस—'क्रोनोलाजिकल रिटासपेक्ट आफ महोम्डन हिस्ट्री', चार भाग, १८११-२१।

२६—ई० लेक-'सीजेज आव दि मद्रास आर्मी', १८२५।

३०—जे० लीडेन और डब्ल्यू अर्सकिन—मेम्बायर्स आव बाबर, (अनूदित) ४ १८२३।

३१—जे० रैंकिंग—'हिस्टारिकल रिसर्चेज आन दि वार एण्ड स्पोर्ट्स आव दि मंगोल्स एण्ड रोमन्स' १८२६।

३२—डब्ल्यू आर पागसन—'हिस्ट्री आव द बुन्देलाज' कलकत्ता, १८२८।

३३—जे० प्रिन्सेप 'यूजफुल टेबुल्स', भाग १ कलकत्ता, १८३४।

३४—'डिस्पैचेज आव द मारक्विस वेलेसली', के० जी०, एम० मार्टिन द्वारा सम्पादित, ५ भाग, १८३६।

३५—एच० विल्किसन 'इन्जिन्स आव वार', १८॥१।

३६—जे० डब्ल्यू मैक क्रिन्दिल—'इनवेजन आव इन्डिया बाई अलेक्जेन्डर,' १८६३।

३७—जी० ए० हैन्सर्ड—'बुक आव आर्चरी' १८४५।

३८—कैप्टेन जे० डी० शावर्स—'इन्सक्रिप्शन आन ए गन ऐट मुर्शिदाबाद', जनरल आव एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, १६, कलकत्ता, १८४७।

३६—जे० शेक्सपियर—'हिन्दुस्तानी इंगलिश डिक्शनरी', चौथा तंस्करण, ४ १८४६।

४०—जे० बी० फ्रेजर—'मिलिटरी मेम्बायर्स आव ले० कर्नल जेम्स स्किनर' सी बी० २ भाग, १८५१।

४१—कर्नल एफ कोलाम्बारी—'लेस जम्बरेक्स,' पेरिस, १८५३।

४२—डब्ल्यू अर्सकिन—'हिस्ट्री आव इन्डिया अण्डर बाबर एण्ड हुमायूँ' २ भाग, १८५४।

४३—एम-एलफिन्सटन हिस्ट्री आव इन्डिया,' चतुर्थ संस्करण, १८५७।

४४—जी० सी० मण्डी, 'पेन एन्ड पेंसिल स्केचेज इन इन्डिया,' तृतीय संस्करण, १८५८ ।

४५—एच० एम० एलियट-'सप्लीमेटल ग्लासरी', रुड़की, १८३० ।

४६—डब्ल्यू एच० रसेल—'माई डायरी इन इन्डिया', २ भाग, १८६० ।

४७—आर० ओमें—'हिस्ट्री आव द मिलिटरी ट्रन्जेक्शन्स इन हिन्दोस्तान', ३ भाग, मद्रास, १८६१ ।

४८—ई० थानटन—'गजेटियर आव इन्डिया', १८६२ ।

४९—जी० ए० हरक्लाइढ्स—'एम० डी० कानूने इस्लाम' द्वितीय संस्करण मद्रास, १८६१ ।

५०—ई० डब्ल्यू लेन—''ओरेक इंगलिश लेक्सिकन'' १८६६ ।

५१—कर्नल टो० सीटन, 'फ्राम कैडेट टु कर्नल,' २ भाग, १८६६ ।

५२—पी० मीडोज टेलर और जेम्स फर्गुसन—'अर्की टेक्चर अरब बीजापुर,' १८६६ ।

५३—वाइकाउन्टेस कॉम्बरमेयर और डब्ल्यू० डब्ल्यू० नालिस—'मेम्वायर्स अरब एफ० एम० वाइकाउन्ट मेयर २ भाग, १८६६ ।

५४—ए० पैवट डी कर्टील—'डिक्शनियर तुर्क ओरियन्टल,' पेरिस १८७० ।

५५— ,, ,, ,, ,,—'मेम्वायर्स डी बाबर,' २ भाग, पेरिस, १८७१ ।

५६—एच० ब्लाकमन—'आईन-ए-अकबरी' (अनुवाद) कलकत्ता, १८७३ ।

५७—वायल एण्ड स्टीवेन्सन—'मिलिटरी डिक्शनरी,' तृतीय संस्करण, १८७६ ।

५८—एच० एम० एलियट—'हिस्ट्री आँव इन्डिया, मुहम्मडन पीरियड,' आठ भाग, १८६७-१८७७ ।

५९—डब्ल्यू इरविन—'बगंश नवाब्स आव फर्रूखाबाद,' जनरल, ए० सी० अब बगांल, अंक, और, १८७८, १८७६ ।

६०—आर० बी० शा—'स्केच अब द तुर्की लैंग्वेज,' जरनल, ए० सी० अरब बंगाल, १८७८ ।

६१—एम० जे० वालहाउस—'इन्डियन एन्टीक्वेरी,' भाग ७, १८७८ ।

६२—आनबरेबुल डब्ल्यू, इगर्टन, 'इलस्ट्रेटेड हैण्डबुक आव इण्डियन आर्म्स,' १८८० ।

६३—ग्राफ़ एफ० ए० वान नीएर, 'कैसर अकबर,' लीडेन १८८० ।

६४— ,, ,, ,, ,, ,, 'ल' एम्परर अकबर,' अनुवाद, अल्फ मौरी, २ भाग, लीड, १८८३ ।

६५—कर्नल टीं० एच० हेण्ले, 'मेमोरियल्स आब दि जयपुर एग्जीविशन,' चार भाग, लन्दन १८८३ ।

६६—एच० जी० रेवर्टी,—'नोट्स आन अफगानिस्तान,' ४ भाग, फोलियो,

१८८१-८३ ।

६७—एस० डब्ल्यू० फैलन, 'न्यू इगंलिश हिन्दुस्तानी डिक्शनरी,' बनारस, १८८३ ।

६८—डब्ल्यू० एच० लोवे (अनुवादक)—'मुन्तखाब-उत-तवारीख' भाग २, मूललेखक, अब्दुल कादिर कलकत्ता १८८ ।

६९—सर ई० सी० बेली—'दि लोकल मुहम्मडन डाइनेस्ट्रीज, गुजरात,'' १८८६ ।

७०—जे० बी० टैवर्नियर—'ट्रवेल्स इन इन्डिया,' बी० बाल द्वारा अनूदित, २ भाग १८८६ ।

७१—डब्ल्यू० एच० लोवे—(अनुवादक) 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' कलकत्ता १८८६ ।

७२—डब्ल्यू होई एम० ए० डी० लिट—'तारीख-ए-फरह बख्श' (१२३३ हि०) अनुवाद दो भाग, इलाहाबाद, १८८८-८९ ।

७३—एफ० बर्नियर—'ट्रवेल्स इन द मुगल इम्पायर, १६५६-६८,' ए० कान्स्टेबुल द्वारा सम्पदित, १८९१ ।

७४—सैय्यद मु० लतीफ—'हिस्ट्री आव लाहौर, १८९५ ।

७५—एफ स्टीनगैस, 'परारीयन इंगलिश डिक्शनरी,', १८९२ ।

७६—टी० डी० ब्राउटन, 'लेटर्स रिटेन इन ए मराठा कैम्प,' १८०९, तथा संस्करण, १८९२ ।

७७—हर्बर्ट काम्पटन—'यूरोपियन मिलिटरी ऐडवेचर्स इन इन्डिया,' १८९२ ।

७८—जी० बी० मालसेन, 'हिस्ट्री आव दि फ्रेंच इन इन्डिया,' १८९३ ।

७९—डब्ल्यू० इरविन—'नादिरशाह और मुहम्मदशाह' (तिलोकदास), जरनल आव ए० सी० आव बंगाल, कलकत्ता, १८९७ ।

८०—आर० एस० ह्वाइटवे—'कि राइज आव पोचुगीज पावर इन इण्डिया,' १८९९ ।

८१—सी० आर० विल्सन—'अली अनल्स आव द इंगलिश इन बंगाल,' २ भाग कलकत्ता, १८९५, १९०० ।

८२—डब्ल्यू०इरविन—'जंगनामा आव फर्रूखसियर,' मूल लेखक, श्रीधर मुरलीधर, जनरल, ए० सी० आव बंगाल, कलकत्ता, १९०० ।

———